हिमाचल

प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक पर्यटन

प्रो. मोहन मैत्रेय

हिमाचल : प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक पर्यटन

परम श्रद्धेय प्रातः स्मरणीय
डॉ सत्यव्रत जी को सादर
भेंट।

[illegible]
27/10/10

हिमाचल

प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक पर्यटन

प्रो. मोहन मैत्रेय

के.के. पब्लिकेशन्स
नई दिल्ली-110 002

सादर-सप्रेम-समर्पण

प्रख्यात शिक्षाविद् तथा कला मर्मज्ञ

प्रो० प्रेमकुमार धूमल

(मुख्यमंत्री, हिमाचल प्रदेश)

हिमाचल : प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक पर्यटन : प्रो. मोहन मैत्रेय

©	:	प्रो. मोहन मैत्रेय
प्रथम संस्करण	:	2010
ISBN	:	978-81-7844-088-0
मूल्य	:	795/- रुपये
प्रकाशक	:	के.के. पब्लिकेशन्स 4806/24, भरतराम रोड दरियागंज, नई दिल्ली-110 002 फोन : 011-23285079, 65185557, 64527574 टेलीफैक्स : 011-23285167 ई-मेल : kkpdevinder@vsnl.net वेब : www.kkpublications.com
आवरण	:	दीपव्यू, दिल्ली
लेज़र टाईपसैटिंग	:	गौरव कम्प्यूटर्स, दिल्ली
मुद्रक	:	बालाजी आफसेट प्रिंटर्स, दिल्ली

Himachal : Prakartik evam Sanskritik Prayatan
by Prof. Mohan Maitrey **Rs. 795/-**

सादर-सप्रेम-समर्पण

प्रख्यात शिक्षाविद् तथा कला मर्मज्ञ

प्रो० प्रेमकुमार धूमल

(मुख्यमंत्री, हिमाचल प्रदेश)

आलोक

आलोक हो या प्राक्कथन, उपोदघात हो या आत्म-सन्दर्भ, नाम कुछ भी क्यों न हो, इसकी प्रस्तुति पुस्तक-लेखन से भी अधिक कठिन है। पाठक हो या समीक्षक, इसी के प्रकाश में पुस्तक के मूल्यांकन का प्रयास करता है। 'आलोक' की तहरीर में केवल लेखक के पर्वतीय-सांस्कृतिक-परिवेश से जुड़ने की दास्तान ही नहीं, जीवन के सीधे-सपाट एवं वक्र-भ्रामक रास्तों की भी चर्चा है। दो बहिनों तथा दो भाइयों में मेरा स्थान तीसरा था और एक भाई मुझसे छोटा था। पिताजी राजकीय सेवा में अध्यापक थे—हिन्दी-संस्कृत के विद्वान्—जिनकी देख-रेख में मैट्रिक तक की मेरी शिक्षा हुई। पिताजी को मुझसे बहुत आशाएं थीं। उनकी अनुशासनप्रियता और सिद्धान्तवादिता से उत्पन्न रोष का मैं अक्सर शिकार बनता। इन्हीं परिस्थितियों का परिणाम था कि मैट्रिक में प्रथम श्रेणी प्राप्त करने पर भी, मैं एफ०एस०सी० में फेल हुआ। विषय-चयन भी शायदं कारण रहा हो। सन् 1949 में पढ़ाई को अलविदा कह, उस समय पंजाब की राजधानी, शिमला के डी०सी० ऑफिस में क्लर्क की नौकरी कर ली। पर्वतों की रानी-शिमला से मेरा यह पहला निकट का नाता था। पूज्य पिताजी के एक शिष्य शिमला के एक ऐतिहासिक होटल की व्यवस्था देखते थे। उन्हीं के साथ शिमला के लक्कड़ बाजार स्थित डेविकोज़-बाल-रूम में आवास की व्यवस्था हुई। यह स्थल शिमला की रंगीनियों का केन्द्र था, जिसका मैं भी अल्पकाल के लिए हिस्सा बना! रिज़, स्कैंडल पव्यांट, जाखू मन्दिर तथा कालीबाड़ी मन्दिर मेरे सायंकालीन कार्यक्रम में शामिल होते तो कभी-कभी वायसरीकॅल लॉज का नीरव परिवेश मुझे निमन्त्रण देता! सुनसान अन्धेरे से कभी मन घबराने लगता, तो बाँसुरी की मादक ध्वनि यहीं बैठने को विवश कर देती। शिमला से मेरा नाता शीघ्र ही टूट गया और उस समय, पानी के संकट से त्रस्त, हिसार से नाता जुड़ा।

हिसार में निवास भी कुछ महीनों का ही था। इस दौरान मन के एक कोने से यह ध्वनि उठने लगी कि जीवन में आगे बढ़ने हेतु उच्च-शिक्षा ही एकमात्र विकल्प है। प्राईवेट ढंग से अध्ययन का मार्ग अपनाया तो मंजिल को विरामों का

झटका भी लगा। इसी अस्थिर मानसिकता ने, कॉलेज प्राध्यापक के रूप में स्थापित होने के लिए अपेक्षित योग्यता अर्जित करने हेतु, कई वर्ष गंवा दिए! कहीं सन् 1961 में हिन्दी प्राध्यापक के रूप में कार्य करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। इस समय तक राजनीति, साहित्य-संस्कृति के क्षेत्र में मेरा प्रवेश हो चुका था। सक्रिय राजनीति से तो शीघ्र किनारा कर लिया, परन्तु साहित्य-संस्कृति में दिन-प्रतिदिन गहरी पैठ बनती गई।

सन् 1959 में गुलेर (कांगड़ा) में पं० चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' की जयन्ती के आयोजन के सन्दर्भ में इस क्षेत्र से गहरा रिश्ता जुड़ा। इसके अनन्तर ऊना, धर्मशाला, शिमला आदि में धार्मिक, साहित्यिक-सांस्कृतिक आयोजनों के सन्दर्भ में प्रदेश की यात्रा करनी पड़ी। सन् 1991 से लगभग सात-आठ वर्ष, अम्बाला से प्रकाशित होने वाले उत्तर-भारत के एक ख्यात दैनिक के प्रशासनिक कार्य को हाथ में लेने पर, इस प्रदेश की अनेक बार व्यावसायिक यात्राएँ करनी पड़ीं। मुझे प्रदेश के प्राकृतिक सौन्दर्य को निकट से निहारने का अवसर मिला। सांस्कृतिक सम्पदा भी विविध आयामों में सम्मुख उपस्थित रही। प्रदेश के लोकगीतों, नृत्यों, लोक-संस्कृति के विभिन्न अवयवों का इससे बहुत पहले मेरा परिचय हो चुका था। और यही परिचय सन् 1967 में प्रकाशित मेरी पुस्तक 'पंजाब का पर्वतीय साहित्य' के रूप में साकार हुआ था।

काफी समय से 'हिमाचल प्रदेश' को इसके समग्र सर्वांगीण रूप में प्रस्तुत करने की अभिलाषा थी, जो 'हिमाचल : प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक पर्यटन' के रूप में फलीभूत हुई है। हिमाचल में पर्यटन की अपार सम्भावनाएँ हैं। भारतीय पर्यटक तो प्रकृति की नैसर्गिक छटा से ही अभिभूत हो सन्तोष कर लेता है, या धार्मिक स्थलों की यात्रा से मानसिक उल्लास का अर्जन करता है, परन्तु विदेशी पर्यटक को इतिहास, विरासत, रीति-नीति, परम्पराओं तथा लोक-विश्वासों आदि से पूर्णरूप से जुड़कर पर्यटन-धर्म के निर्वाह का सुख प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ की रचना का उद्देश्य इसी मांग की पूर्ति है, और मेरे अपने विचार में यह अपने ढंग का प्रथम समग्र प्रयास है।

इस ग्रन्थ की रचना के प्रेरक हिमाचल के मुख्यमन्त्री प्रो० प्रेम कुमार धूमल हैं, जो एक शिक्षाविद्, कलापारखी तथा गुण ग्राहक हैं—मेरा कई वर्षों से उनसे नाता है, मित्रभाव है। धन्यवाद तो नहीं दूँगा, धन्यवाद अपनों को नहीं, परायों को दिया जाता है। हिमाचल पयर्टन विकास निगम के डॉयरेक्टर श्री डॉ० अरुण कुमार शर्मा आई०ए०एस० का मुझे मार्गदर्शन तथा सक्रिय सहयोग प्राप्त हुआ है।

उनका आभारी हूँ। जिन ग्रन्थों एवं पत्र-पत्रिकाओं से सामग्री ली है, उनके लेखकों-सम्पादकों का भी अभिवादन करता हूँ।

बाबा मगनीराम उदासीन आश्रम, पटियाला के पीठासीन अध्यक्ष श्री महन्त आत्माराम मेरे प्रेरणा-स्रोत तथा मार्गदर्शक रहे हैं। उन्हें साधुवाद देता हूँ।

मैं श्री एस०आर० प्रभाकर, प्राचार्य डी०ए०वी० पब्लिक स्कूल, पटियाला के सद्परामर्श और मार्गदर्शन के लिए भी आभारी हूँ।

इस ग्रन्थ में प्रकाशित चित्र मुझे सूचना एवं जन-सम्पर्क विभाग, हिमाचल प्रदेश सरकार के सौजन्य से प्राप्त हुए हैं। इसके लिए मैं विभाग के निदेशक श्री बी०डी० शर्मा के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ। पांण्डुलिपि के टंकन का कार्य श्री दिनेश शर्मा ने किया है। उनको तथा पुस्तक के भव्य प्रकाशन हेतु मैं कल्पना प्रकाशन, दिल्ली को भी साधुवाद देता हूँ।

विश्वास है कि यह ग्रन्थ पर्यटन प्रेमियों, साहित्य-संस्कृति के प्रति निष्ठावान पाठकों को भी रुचिकर प्रतीत होगा।

—प्रो० मोहन मैत्रेय

विषयानुक्रम

देवभूमि हिमाचल : इतिहास के झरोखे से	...	13
हिमाचल की घाटियां	...	19
हिमाचल की झीलें-चश्में	...	33
हिमाचल के दुर्ग	...	47
हिमाचल के कबीले—जनजातियां	...	60
हिमाचल : भव्य लोक-संस्कृति	...	68
(क) लोक गीत	...	70
(ख) लोक गाथा—लोक कथा	...	79
(ग) लोक नाट्य	...	81
(घ) लोकोक्ति साहित्य	...	83
(ङ) प्रहेलिका साहित्य (पहेलियां)	...	86
(च) लोक नृत्य	...	87
(छ) हिमाचल की लोककलाएं	...	94
हिमाचल के धार्मिक स्थल : मन्दिर गोम्पा	...	99
(क) मन्दिर-रूप विधान तथा विग्रह	...	99
(ख) हिमाचल मन्दिर और उनका शिल्प	...	108
(i) कांगड़ा के मन्दिर	...	111
(ii) सिरमौर, महासू, किन्नौर आदि के मन्दिर	...	137
(iii) चम्बा, भरमौर, पांगी आदि के देवस्थल	...	151
(ग) हिमाचल के शक्तिपीठ	...	157
(घ) बौद्ध शैक्षणिक-धार्मिक स्थल	...	201
हिमाचल : मेले एवं त्यौहार	...	213
हिमाचल की चित्रकला	...	250
हिमाचल में पर्यटन	...	260
हिमाचल : औषधीय राज्य	...	270

हिमाचल में साहसिक खेलें ... 274
हिमाचल : ऐतिहासिक-सांस्कृतिक स्थल ... 279
हिमाचल : ज्ञात-अज्ञात आकर्षण ... 296
(i) मलाणा : विश्व का प्राचीनतम गणतंत्र ... 296
(ii) किब्बर : विश्व का सर्वोत्तम गांव ... 298
(iii) कसौली : अंग्रेजों ने खरीदा पांच हजार में ... 299
(iv) मनाली : पहले मनुआलय था ... 300
(v) हिमालय के देवी-देवताओं के रथ एवं ध्वज ... 301
(vi) जन-जातीय क्षेत्रों की परिणय परम्पराएं ... 304
(vii) धाठू : सांस्कृतिक पहचान ... 308
(viii) पूला : लोकहस्तकला जो दम तोड़ रही है ... 309
(ix) ठोडा : युद्ध कला से नृत्य शैली तक ... 310
(x) कुल्लू के पकवान ... 311
(xi) किन्नौर : महिलाओं की गहनों से पहचान ... 313
(xii) गुलेर : एक तपस्वी ने दी नई पहचान ... 315
हिमाचल प्रदेश : नव-प्रकल्प-नव-संकल्प ... 321
सहायक ग्रन्थ ... 324
चित्रों के आइने में हिमाचल ... 327

देवभूमि हिमाचल : इतिहास के झरोखे से

हिमाचल प्रदेश हिमालय की तराई में अवस्थित, नैसर्गिक सौन्दर्य का पर्वतीय प्रदेश है। श्रीमद्भगवद्गीता के दशम अध्याय में भगवान कृष्ण ने अर्जुन को अपना परिचय देते हुए स्थावरों में हिमालय बताया—

महर्षिणां भृगुरहं गिरामरम्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः।।

मैं महर्षियों में भृगु और शब्दों में एक अक्षर अर्थात् ओंकार हूँ। सब प्रकार के यज्ञों में जपयज्ञ और स्थिर रहने वालों में हिमालय पहाड़ हूँ।—इस कथन से हिमालय के महत्त्व का प्रतिपादन हो जाता है। हिमालय पर्वतमाला एशिया के मध्य में चन्द्राकार चाप की भान्ति स्थित, अफगानिस्तान से बर्मा तक पच्चीस सौ कि०मी० क्षेत्र में विस्तृत है। यद्यपि यह हमारे ग्रह-नक्षत्र पर सर्वोच्च है, परन्तु भूगर्भीय दृष्टि से सबसे छोटी है। इसी का तराई में बसा हिमाचल प्रदेश भारत के रम्य प्रदेशों में से है। इसमें हरा-भरा वन प्रान्त है, उछलती-कूदती नदियां हैं, रोमांचक झीलें हैं और यह प्रकृति मां की गोद में चहेते पुत्र की तरह विश्रामरत है। इस संदर्भ में उल्लेख है—

"Himachal Pradesh is at the foot of this king of mountains-Himavan- and it is one of the most beautiful states of India! Flanked by the lofty mountains of jammu & Kashmir in the west & the snow clad peaks of Garhwal in the east, it nestles in the lap of Mother nature like her favourite child. With the lush green forests, bubbling streams, emerald meadows, enchanting lakes and eternal shows, Himachal Pradesh is vertiable cornucopia."[1]

इस प्रदेश का सम्बन्ध प्रागैतिहासिक काल से जोड़ा जाता है। प्रदेश के आदिम जातीय क्षेत्रों में इस काल की संस्कृति के दर्शन होते हैं। यहां की आदिम जातियों में किन्नर, यक्ष, गंधर्व, नाग आदि शामिल हैं, जिनका सम्बन्ध इतिहास तथा पुराणों से है। जर्मन विद्वान् बैरल के अनुसार यह आदिमानव का निवास तथा

1. The Illustrated weekly of India – Himachal Pradesh : Navnit Parekh Nov. 30, 1975.

हिमालय का अभिन्न अंग था। ऋग्वेद में उल्लेख है कि यहां आर्यों के आगमन से पूर्व अन्य मानव जातियां विद्यमान थीं। श्री लालचंद प्रार्थी ने इसी ऐतिहासिक सन्दर्भ को रेखांकित किया है—"आर्यों के आगमन से पूर्व यहां कोल, किरात, किन्नर, यक्ष, नाग आदि अनार्य जातियों का निवास था। लोग अपनी सुरक्षा के लिए पत्थर के किले बनाकर रहते थे। इनके शासकों में राजा शांबर का उल्लेख कई ग्रन्थों में आया है। आर्य राजा दिवोदास तथा शांबर के मध्य कई लड़ाइयां हुईं और अन्ततः शांबर की हत्या कर दी गई। राजा सुदास अनार्य जातियों के राजाओं को पराजित कर वैदिक काल के सुप्रसिद्ध राजा बने। यहां कई स्थानों का नामकरण ऋषि-मुनियों के नाम पर मिलता है।[1]

इस क्षेत्र को 'त्रिगर्त' का नाम भी प्राप्त था और प्राकृतिक सीमाएं इसे पंजाब (पंचनद) से अलग करती थीं। त्रिगर्त पष्ठ को 'जालंधरायण' का नाम भी दिया गया है। छह राज्यों के इस संघ को 'आयुध संघ' की संज्ञा भी प्राप्त थी। इसमें शामिल छह जनपद थे—चम्बा, कुल्लू, मंडी, बिलासपुर, कांगड़ा तथा सिरमौर! महाभारत में भी कांगड़ा, कुल्लू तथा औदंबर (पठानकोट) राज्यों की चर्चा है। राजा हर्षवर्धन के राज्यकाल (629-644 ई०) में चीनी यात्री ह्यूनसांग ने भारत की यात्रा की। उसने कुल्लू, कांगड़ा तथा लाहौल आदि क्षेत्रों का भी भ्रमण किया। उसके द्वारा त्रिर्गत (जालन्धर) का विस्तृत वर्णन हुआ है। इस क्षेत्र के मूल निवासियों पर आर्यों द्वारा अधिकार की बात कही जाती है। सिकन्दर, महमूद गजनवी, तैमूर, मुगलों जैसे आक्रामकों को इस क्षेत्र ने झेला, वे लूट-पाट कर चलते बने। उन्होंने इस क्षेत्र पर अधिकार नहीं किया। शायद आकर्षक मैदानों की अपेक्षा उन्हें यह क्षेत्र निर्धन तथा साधनहीन प्रतीत हुआ हो। यहां के सरदारों की निष्ठा ही कुछ शासकों के लिए पर्याप्त रही होगी। इस सम्बन्ध में श्री हरिकृष्ण मिट्टू का मन्तव्य अत्यन्तं सार्थक है—"आक्रामकों के चले जाने के बाद ये लोग अपनी पुरानी जिन्दगी की ओर पलट आए। उनका जीवन शतरंज की बिसात ही बना रहा, जिस पर स्थानीय राजा और ठाकुर मुहरे चलते और एक-दूसरे को शह देते रहे, मगर कभी कोई मात नहीं हुआ। छोटे सामंतों के स्वार्थपूर्ण हितों के कारण वे कभी एकजुट नहीं हो सके।—जनता को विभाजित और असहाय ही रखा गया।[2] श्री मिट्टू ने अपने विश्लेषण में इन नरेशों के कार्यकाल और गतिविधियों को इतिहास के दायरे में भी लेने से संकोच किया है। उल्लेख है—"लेकिन हिमाचल का अपना एक भिन्न प्रकार

1. 'कुल्लुत देश की कहानी : श्री लालचंद प्रार्थी
2. हिमाचल प्रदेश : श्री हरिकृष्ण मिट्टू (नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया)

का इतिहास है, जिसे खूनी लड़ाइयों के रूप में नहीं देखा जा सकता। यह बल्कि अधिक दमित और एक संकीर्ण ढांचे तक सीमित है। यह उन अस्पष्ट चुनौतियों का नीरस वृत्तांत है, जिसे जनता ने झेला।[1] सही इतिहास की जानकारी के लिए दन्तकथाओं तथा मिथिकों के संकीर्ण दायरे से बाहर आना अत्यावश्यक है।

अनेक ऐतिहासिक दस्तावेज़ इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि अलग-अलग राज्यों की स्थापना के बाद भी यहां के राजाओं ने क्षेत्रीय सीमाओं के विस्तार हेतु युद्ध किए। चम्बा नरेश मेरुवर्मन का उल्लेख है। 700 ई० में जब तिब्बत ने लाहौल-स्पीति पर आक्रमण किया, तो कुल्लू नरेश ने तिब्बत की सहायता की और पुरस्कार स्वरूप तीन गांव प्राप्त किए। दसवीं शती में चम्बा नरेश साहिल वर्मन द्वारा पड़ोसी राज्यों को पराजित करने का भी वृत्त है। फरिश्ता के अनुसार हिमालयी क्षेत्रों की स्थिति आरम्भ में अस्थिर थी। ईसा की पहली शती में छोटे-छोटे राज्य थे। इसी सन्दर्भ में हंचिशन एवं बोगल का उल्लेख है—"इन पहाड़ी राज्यों का इतिहास लगभग अनवरत युद्धों का इतिहास रहा हे। जब कोई शक्तिशाली शासक सत्ता प्राप्त करता था, तो बड़े राज्य अपने छोटे पड़ोसी राज्यों को अपने राज्य में मिला लेते थे या उन्हें करद बना लेते थे। परन्तु वे राज्य पुनः अवसर मिलने पर अपने को स्वतन्त्र कर लेते थे।[2]

30 पहाड़ी राज्यों (रियासतों) के विलय के पश्चात 15 अप्रैल, 1948 को हिमाचल प्रदेश अस्तित्व में आया था। जिन रियासतों का विलय हुआ उनके बारे में जानकारी भी आवश्यक जान पड़ती है। कांगड़ा आरम्भिक काल में जालन्धर के त्रिगर्त षष्ठ का भाग था। हूणों के आक्रमणों आदि के कारण मैदानी क्षेत्र पहाड़ी क्षेत्र से कट गया। पहाड़ी क्षेत्र की राजधानी नगरकोट या कांगड़ा बनी। इसी राज्य से जसवान, गुलेर, सिब तथा दातारपुर निर्मित हुए। जसवान तथा गुलेर की स्थापना क्रमशः 1170 तथा 1405 ई० में हुई। चम्बा रियासत छठी शती में अस्तित्व में आई और 680 ई० में मनु वर्मन इसका यशस्वी शासक था। पहले यह क्षेत्र सीमितं था, परन्तु राजा शैल वर्मन ने सीमाओं को विस्तृत कर 920 ई० में चम्बा नगर की स्थापना की। आरम्भ में कांगड़ा की भान्ति ही चम्बा त्रिगत षष्ठ का भाग था, परन्तु पाणिनि ने इसे 'ब्रह्मगुप्त जनपद' के रूप में स्वीकार किया है। ह्वेनसांग ने पहाड़ों से घिरे कुल्लू का क्षेत्र 75 मील बताया है और यहां 500 ई० में ब्रह्मपाल शासक था। मंडी राज्य की स्थापना चौदहवीं शती में वनसेन ने, सुकेत

---

1. हिमाचल प्रदेश : श्री हरिकृष्ण मिट्टू (नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया)
2. हिस्ट्री ऑफ पंजाब हिल स्टेट्स

से अलग करके की थी। इससे पूर्व 1228 ई० में बंगाल से विस्थापित होकर आए राजा वीरसेन ने सुकेत की स्थापना की थी। मंडी नगर की स्थापना 1527 ई० में अजबेर सेन ने की। सुकेत के संस्थापक वीरसेन के भाई गिरिसेन द्वारा क्योंथल की स्थापना हुई थी। कुटलेहर तथा बंघल राज्यों की स्थापना क्रमशः दो ब्राह्मणों जसपाल तथा पृथ्वीपाल द्वारा बताई जाती है। बिलासपुर रियासत की स्थापना 900 ई० में चंदेरी (बुंदेलखंड) के श्री वीरचन्द ने की। इसकी राजधानी पहले नैनादेवी थी और बाद में बिलासपुर को राजधानी बनाया गया। बिलासपुर के कुछ भाग को अलग करके केहलूर वंशीय राजा अजयचन्द ने नालागढ़ रियासत स्थापित की। हिमाचल की सबसे बड़ी रियासत बुशहर से सम्बन्धित अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं। पहले इसकी राजधानी कामरू थी, परन्तु बाद में सराहन को यह गौरव प्राप्त हुआ। सिरमौर का संस्थापक जैसलमेर नरेश सालवाहन का पुत्र राजा रसालू था। पहले इस रियासत की राजधानी 'सिमूरी' थी। इसके गिरि नदी की बाढ़ के भेंट चढ़ने पर नाहन को मुख्यालय बनाया गया। जुब्बल, बालसों, रतेश कभी सिरमौर के ही भाग थे। इन राज्यों में मंडी, सुकेत, सिरमौर और नूरपुर को ही बड़ी रियासत का दर्जा दिया जा सकता है। शेष को रजवाड़ा कहना ही उचित होगा।

देश में ब्रिटिश साम्राज्य स्थापित होने पर इनमें से अधिकांश राजाओं-रजवाड़ों में उनसे सुविधा-संरक्षण प्राप्ति की होड़ लगी रही। आंगल-गोरखा युद्धों के बाद अंग्रेजों का प्रवेश पहाड़ों में हो चुका था। नवंबर, 1815 में सुगौली सन्धि के बाद गोरखों ने पहाड़ी क्षेत्रों पर अपने अधिकार समाप्त कर दिए थे। गोरखों के साथ संघर्ष में बुशहर, हिंदूर, केहलूर, सिरमौर, कुल्लू तथा कतिपय अन्य राज्य अंग्रेजों के सहायक थे। वे राज्य जो पूरी तरह से या आंशिक रूप से गोरखों के अधिकार में थे, उन्हें स्थानीय शासकों को लौटा दिया गया। इनमें बाघल, हिंदूर, बिलासपुर बुशहर तथा सिरमौर शामिल थे। अंग्रेजों ने कुछ महत्त्वपूर्ण क्षेत्र, जिनमें गोरखा शक्ति द्वारा स्थापित छावनियां भी थीं, अपने अधिकार में ही रख लिए। रियासती नरेशों के आपसी विवादों में अंग्रेज निर्णयाक की भूमिका निभाने लगे। लार्ड हेस्टिंग्स जब तक भारत के गवर्नर जनरल रहे यहां स्थिति सामान्य रही, परन्तु उनका उत्तराधिकारी लार्ड हार्डिंग्ज इतना उदारवादी न था। अब पहाड़ी राजाओं को उनके क्षेत्र लोटाने की बजाय, अपने पास रखने की नीति शुरू हो गई। इसी के परिणामस्वरूप कांगड़ा, गुलेर, जसवान, नूरपुर, सुकेत, मंडी, कुल्लू, दातारपुर तथा चम्बा राज्यों पर अंग्रेजों का नियन्त्रण हो गया। कांगड़ा, नूरपुर, जसवान और दातारपुर की ओर से जब विद्रोह हुआ तो सख्ती से इसका दमन कर दिया गया।

लार्ड डलहौजी का 'डाक्ट्रिन ऑफ लैप्स' का सिद्धान्त भी अमल में आ चुका था। अब चम्बा, मंडी, सुकेत को नई परिभाषा मिल गई थी—'पंजाब के पहाड़ी राज्य'।

सन् 1857 के स्वतन्त्रता संग्राम में पंजाब की रियासतों के शासकों की भान्ति पहाड़ी राजा-रजवाड़ों ने अंग्रेजों को सहयोग दिया। बुशहर के शासक ने तटस्थ नीति अपनाई। सन् 1858 में महारानी विक्टोरिया की घोषणा के बाद, भारत में प्रत्यक्ष रूप से अंग्रेज शासन स्थापित हो गया। राज्यों के प्रति तथाकथित उदार व्यवहार की आड़ में, इन पर राजनीतिक एजेंटों, रेजिडेंटों तथा पर्यवेक्षकों का शिकंजा कसता गया। 1876 तथा 1880 ई० में क्रमशः नालागढ़ तथा सिरमौर का आन्दोलन परोक्ष रूप से अंग्रेजों के विरुद्ध था। प्रत्यक्ष रूप से संघर्ष सर्वप्रथम कांगड़ा तथा नूरपुर की ओर से हुआ। इस संदर्भ में वजीर रामसिंह पठाणियां की भूमिका सराहनीय रही, जिसने 1845 ई० में शाहपुर दुर्ग पर आक्रमण कर अंग्रेजों को वहां से खदेड़ दिया था। सन् 1914-15 में मंडी में गदर पार्टी की स्थापना हुई। फिर स्वतन्त्रता आन्दोलन को गतिवान करने हेतु 'पहाड़ी राज्य हिमालय रियासती प्रजामंडल' गठित हुआ। सन् 1930 के बाद इस क्षेत्र में स्वतन्त्रता संग्राम ने विशेष गति पकड़ी। यहां के स्वतन्त्रता सेनानियों में पहाड़ी गांधी श्री कांशीराम की भूमिका विशिष्ट रही। अनेक संघर्षों और बलिदानों के उपरान्त देश 15 अगस्त, 1947 को स्वतन्त्र हुआ और तीस रियासतों के विलय के उपरान्त 15 अगस्त, 1948 को हिमाचल भारत देश का एक प्रान्त बन गया।

जिस समय हिमाचल प्रदेश अस्तित्व में आया उस समय उसका क्षेत्रफल 10,600 वर्गमील तथा उसकी जनसंख्या नौ लाख पैंतीस हजार थी। 1 नवंबर, 1966 को भाषायी आधार पर राज्यों के पुनर्गठन के फलस्वरूप, पंजाब के पर्वतीय क्षेत्र कांगड़ा, कुल्लू, स्पीति, नालागढ़ तथा ऊना अस्तित्व में आए प्रदेश के साथ जोड़ दिए गए। इस पुनर्गठन के फलस्वरूप हिमाचल का क्षेत्रफल बढ़कर 55,6,73 वर्ग कि०मी० हो गया। सन् 1991 की जनगणना के अनुसार इसकी जनसंख्या 51 लाख 11 हजार 79 (51,11,079) थी। यह राज्य जम्मू-कश्मीर के दक्षिण, पंजाब के उत्तर-पूर्व, हरियाणा और उत्तर प्रदेश के उत्तर-पश्चिम और तिब्बत के पश्चिम में अवस्थित है। इस राज्य की समुद्र-तल से ऊंचाई 450 मीटर से लेकर 6,500 मीटर तक है। शिवालिक पर्वत माला (शाब्दिक अर्थ शिव की लटें) इसे मैदानी क्षेत्र से अलग करती हैं।

इस राज्य के प्रमुख नगर हैं—शिमला, नाहन, रेणुका, पौंटा-साहिब, रामपुर, डलहौजी, चम्बा, भरमौर, धर्मशाला, कांगड़ा, पालमपुर, ऊना, मंडी, कुल्लू, मनाली इत्यादि। प्रदेश की प्रसिद्ध घाटियां हैं—लाहौल, स्पीति घाटी, पांगी, भंगाल, शोजा,

सांगला। प्रमुख झीलें हैं—रेणुका, पराशर, रिवालसर झील, सूरज ताल झील, चन्द्रताल झील, मणि महेश झील, डल झील इत्यादि। यह प्रदेश अपने त्यौहारों एवं मेलों के कारण भी पर्यटकों तथा अन्य लोगों के आकर्षण का केन्द्र है। प्रमुख मेले हैं—मिंजर मेला, रेणुका मेला, बंजार मेला, पोरी मेला, शूलिनी मेला, लवी मेला इत्यादि। कुल्लू दशहरा ने तो विश्व-भर में ऐसी पहचान बनाई है कि विश्व-भर के पर्यटक इसकी ताक में रहते हैं। देश के पर्यटक जहां प्रदेश के धार्मिक स्थलों तथा मन्दिरों में विशेष रुचि रखते हैं, तो विदेशी पर्यटकों को यहां की सांस्कृतिक विरासत, मान्यताओं एवं परम्पराओं के अध्ययन-शोध में दिलचस्पी है। युवा पीढ़ी साहसिक खेलों—ट्रैकिंग, स्कीइंग, पैराग्लाइडिंग के लिए प्रदेश का रुख करती है। क्या यह कम महत्त्वपूर्ण है कि प्रतिवर्ष दो लाख से अधिक लोग प्रदेश को जानने के लिए इसकी यात्रा करते हैं। मशोबरा तथा नालडेरा लोकप्रिय पिकनिक स्थल हैं तो 'तत्ता पानी' गर्म झरनों के लिए विख्यात है। नालडेरा की पहचान अपने नौ छेदों वाले गोल्फ मैदान के कारण भी है। ट्राउट के लिए रोहडू प्रख्यात है तो मन्दिरों के लिए हाटकोटी! प्रदेश में बर्फदार चोटियां हैं तो बहता पानी भी। गुनगनाते, फलों के लदे बाग हैं तो जगमगाते चरागाह भी। यहां का बदलता मौसम भी तो कम आकर्षक नहीं।

देवदार, कायल, चीड़, भोजपत्र आदि के वृक्ष यहां के पर्वतों की शोभा है, तो कुल्लू, कांगड़ा की तराइयों में स्थित सीढ़ीनुमा चाय के बगीचे मोहित तो करते ही हैं, आजीविका के साधन भी हैं। दुर्लभ जड़ी-बूटियाँ इस प्रदेश को 'औषधीय प्रदेश' का गौरव प्रदान करने को आतुर हैं।

किसी भी प्रदेश की पहचान वास्तव में वहां के निवासी होते हैं। उन्हीं के माध्यम से संस्कारों, संस्कृति, मान्यताओं और परम्पराओं का प्रचार-प्रसार और मूल्यांकन होता है। 'कांगड़ा गजेटियर' में यहां के निवासियों के सम्बन्ध में उल्लेख है—'यहां के लोग सरल, मेहनती, मितव्ययी और ईमानदार है। व्यवहार में खरे मिलनसार और सर्वथा विश्वासपात्र है। पूरे स्वामिभक्त, अतिथिपूजक और सहनशील—सत्य पर दृढ़ रहना यहां के लोगों का विशेष गुण है। आज की परिवर्तनशील परिस्थिति में भी यह जीवन पद्धति, प्रदेश के आंतरिक परिवेश में विशेष रूप से प्रचलित है। सत्तर प्रतिशत से अधिक लोग धर्म के प्रति आस्थावान हैं।

हिमाचल प्रदेश देवभूमि है। यह सेबों तथा फलों के उत्पादन का अग्रणी प्रदेश है। औषधीय राज्य है। यहां पर्यटन के विकास की सम्भावनाएं नित्य-प्रति बढ़ती जा रही है। यह प्रदेश देश के पर्वतीय क्षेत्रों के विकास के सन्दर्भ में आदर्श प्रस्तुत करने में सफल रहा है।

□□□

हिमाचल की घाटियां

लाहौल-स्पीति

हिमाचल की घाटियां लाहौल एवं स्पीति एक-दूसरे से सटी हैं। इन दोनों घाटियों की धार्मिक, सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि लगभग समान है, परन्तु प्राकृतिक तथा अन्य विविधताएँ इनकी निजी पहचान की सृष्टि करती हैं। इन दोनों घाटियों में बौद्ध मन्त्रों की गूँज प्रायः सुनाई देती है। लाहौल झीलों, हिमखंडों तथा दर्रों की घाटी है, तो स्पीति घाटी की गणना हिमाचल के दुर्गम स्थानों में की जाती है। हिमाचल में 'लाहौल-स्पीति' जिला के दो भाग हैं—एक भाग है लाहौल तो दूसरा भाग स्पीति। स्पीति घाटी लाहौल की अपेक्षा अधिक दुर्गम है। लाहौल घाटी का मुख्यालय केलंग है तो स्पीति का काजा! ये दोनों घाटियां वर्ष में सात-आठ मास दुनिया से कट-सी जाती हैं। इन घाटियों के सौन्दर्य से व्यक्ति किस प्रकार वशीभूत हो जाता है, इसी का उल्लेख श्री गुरमीत वेदी ने अपने एक विवरण में किया है—"चारों तरफ से झीलों, दर्रों और हिमखंडों से घिरी, आसमान छूते शैल-शिखरों के दामन में बसी लाहौल-स्पीति घाटियां अपने जादुई सौन्दर्य और प्रकृति की विविधताओं के लिए जानी जाती हैं। हिन्दू व बौद्ध संस्कृति का अनूठा संगम भी यहां देखने को मिलता है और प्रकृति के विभिन्न रूप भी इन घाटियों में परिलक्षित होते हैं।—कही पहाड़ों पर बने मन्दिर व गोम्पा और इनमें बौद्ध मन्त्रों की गूँज के साथ-साथ वाद्य-यन्त्रों के सुमधुर स्वर एक अलौकिक अनुभूति से भर देते हैं, तो कहीं जड़ी-बूटियों की सौंधी-सौंधी महक के बीच बादलों की रंगत देखते ही बनती है।"

समय की धारा ने लाहौल-स्पीति के स्वरूप में अनेक परिवर्तन किए हैं! 17वीं शती के उत्तरार्द्ध में कुल्लू के मुखिया ने लाहौल को लद्दाख साम्राज्य से अलग कर हथिया लिया था। सन् 1840 में लाहौल और कुल्लू पर अधिकार करके, महाराजा रणजीत सिंह ने इन्हें अपने साम्राज्य में शामिल कर लिया। फिर यह क्षेत्र 1846 से 1940 तक ब्रिटिश शासन के अधिकार में रहा। सन् 1941 में लाहौल-स्पीति एक उप-तहसील के रूप में कुल्लू से सम्बद्ध हुई। सन् 1960 में पंजाब सरकार

द्वारा इस क्षेत्र को जिला बना दिया गया। सन् 1966 में पंजाब राज्य के पुनर्गठन पर अन्य क्षेत्रों के साथ लाहौल-स्पीति भी हिमाचल प्रदेश का भाग बन गया।

लाहौल घाटी

श्री राहुल सांकृत्यायन के अनुसार लाहौल 'देवताओं का देश' है। तिब्बती भाषा में लाहौल को 'दक्षिणी देश' की संज्ञा दी गई है। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने इसे 'लो-यू-लो' के नाम से सम्बोधित किया था। ये सभी नाम इस तथ्य के द्योतक हैं कि यह क्षेत्र हरा-भरा है। इस घाटी के उत्तर में लद्दाख, दक्षिण एवं पश्चिम में कुल्लू तथा चम्बा जिले हैं, पश्चिम में जम्मू, दक्षिण पूर्व में किन्नोर जिला है तो पूर्व में यह तिब्बत की सीमाओं को स्पर्श करती घाटी है। समुद्र-तल से यह घाटी चार हजार मीटर की ऊंचाई पर अवस्थित है।

इस सुरम्य घाटी के उत्तर में हिमालय पर्वतराज है और दक्षिण में पीरपंजाल की पर्वत शृंखलाएँ। यह घाटी तीन दर्रों के मध्य स्थित है—रोहतांग दर्रा, कुंजम दर्रा तथा बारालाचा दर्रा! कुल्लू जिला के रोहतांग दर्रा से ही लाहौल-स्पीति घाटी जाने का मार्ग है। रोहतांग दर्रा ब्यास नदी के किनारे-किनारे समुद्र-तल से 13,050 फीट की ऊंचाई पर स्थित है। यहां पहुंचने के लिए पहले मनाली जाना पड़ता है, जो कुल्लू से लगभग चालीस कि०मी० की दूरी पर स्थित है। इस मार्ग पर प्रकृति की अद्भुत छटा है। रोहतांग दर्रा पार करते ही लाहौल-स्पीति जिला की सीमा आरम्भ हो जाती है। रोहतांग से सात कि०मी० नीचे स्थित है 'ग्रामफू' स्थल, जहां से स्पीति घाटी के लिए दाईं ओर का मार्ग है तो लाहौल के लिए बाईं ओर का मार्ग। लाहौल घाटी की यात्रा शुरू करते हैं तो चन्द्रा नदी के दर्शन होते हैं और तांदी नामक स्थान पर केलंग से प्रवाहमान 'भागा' नामक नदी इसमें शामिल हो जाती है। इस सम्मिश्रत जलधारा की पहचान 'चन्द्रभागा' नाम से होती है।

इस चन्द्रभागा नदी के स्रोत एवं स्वरूप से सम्बंधित लाहौल घाटी में प्रचलित लोकगाथा इस प्रकार है—चन्द्रा तथा भागा दो प्रेमी थे—दोनों देव सन्तान—चन्द्रा चन्द्रदेव की कन्या थी, तो भागा सूर्यदेव का पुत्र! कामदेव के तीरों के शिकार दोनों प्रेमियों ने जब अपने प्रेम को विवाह-सूत्र में बाँधने का निश्चय किया, तो इसका देवलोक में विरोध हुआ! इस पर दोनों प्रेमियों ने धरती पर आकर अपने प्रेम को साकार करने का निर्णय लिया और वे स्वर्ग से दो जलधाराओं के रूप में धरती पर उतरे। इनका अवतरण बारालाचा दर्रे पर हुआ और तय था कि विपरीत दिशा में प्रवाहमान होने के उपरान्त लाहौल के किसी विस्तृत स्थल पर संगम हो। यह संगम

स्थल तांदी था, जहां दोनों धाराओं के इकट्ठे होने पर, दोनों प्रेमी एक हो गए—नये नाम से 'चन्द्रभागा'। यह प्रेम यात्रा कश्मीर में 'चेनाब' नाम से अपनी पहचान बनाती है।

'बारालाचा दर्रा' की लंबाई आठ कि०मी० है और इसके माध्यम से ही मध्य हिमालय तथा उत्तर हिमालय शृंखला का मेल होता है। इस विशालकाय दर्रे पर ही जांस्कर लद्दाख, स्पीति और लाहौल मार्ग आपस में मिलते हैं। इस दर्रे के दक्षिण पश्चिमी, उत्तरी तथा दक्षिण-पूर्वी किनारे से क्रमशः भागा, चुन्नान तथा बंद्रा नदियाँ प्रवाहित होती हैं। 'कुंजम दर्रा' लाहौल तथा स्पीति घाटियों को जोड़ता है और इसकी ऊंचाई पंद्रह हजार फीट है। बर्फबारी दोनों घाटियों का सम्पर्क तोड़ देती है।

लाहौल घाटी के तीन प्रमुख भाग हैं—चन्द घाटी, भागा घाटी तथा पट्टन घाटी। इन तीनों घाटियों को भयानक ग्लेशियरों ने घेर रखा है। सबसे बड़ा हिमखंड है 'बड़ा शिगरी'—जो खतरनाक तो है ही, पर्वतारोहण के शौकीन व्यक्तियों के आकर्षण का केंद्र भी! छोटा शिगरी, गेपंग, मोलंग, डिगकरमो, बोलंग, शिपटिंग समुद्री टापू, पाचा, सहीता, नीलकंठ आदि घाटी के अन्य हिमखंड हैं। घाटी के दूसरे प्रमुख हिमखंड 'गेपंग' का नामकरण स्थानीय देवता गेपंग के नाम पर हुआ है! घाटी की तीन प्रमुख नदियाँ हैं—चन्द्रा, भागा तथा स्पीति! स्पीति नदी का उद्गम स्थल है कुंजम दर्रा और यह नदी किन्नौर जिला में सतलुज नदी में विलीन हो जाती है। चन्द्रा नदी का उद्गम बारालाचा दर्रे से होता है और सूरतताल से निकलने वाली भागा नदी के साथ इसका मिलन तांदी में हो जाता है और नया रूप बनता है 'चन्द्रभागा'!

झीलों की घाटी के रूप में प्रख्यात लाहौल घाटी में लगभग तीस झीलें हैं, परन्तु प्रमुख हैं—सूरजताल तथा चन्द्रताल। सूरजताल झील वारालाचा दर्रे से नीचे समुद्र-तल से 4,697 मीटर की ऊंचाई पर स्थित है। चन्द्रताल झील कुंजम दर्रे से छह कि०मी० की दूरी पर है। इस झील के चारों ओर चट्टानें हैं, झील की लम्बाई एक कि०मी० तथा चौड़ाई आधा कि०मी० है। यह झील साढ़े चार हजार मीटर की ऊंचाई पर स्थित है। सर्दियों में घाटी का तापमान शून्य डिग्री से भी नीचे चला जाता है और यहां की सभी नदियाँ तथा झीलें जम जाती हैं, परन्तु इससे पानी का संकट पैदा नहीं होता। यह घाटी आलू उत्पादन में अग्रणी है।

लाहौल घाटी तक पहुँचने का सुगम मार्ग रोहतांग दर्रा है। 'रोह' शब्द 'रूह' से निर्मित बताया जाता है, तो 'तांग' से भाव है मैदान! लाहौली तथा हिंदी में इसे

'लाश का घर' या 'मौत का मैदान' कहा गया है। संस्कृत में इसकी पहचान 'भृग-तुंग' के रूप में हुई है। इस दर्रे को विश्व का सर्वाधिक संकट पूर्ण स्थल बताया गया है, परन्तु हमारे ऋषि-मुनियों की दृष्टि से यह संसार का सबसे अधिक शान्त स्थल था। हर वर्ष यह दर्रा जून-जुलाई में खुलता है और अक्तूबर-नवंबर तक यहां चहल-पहल रहती है। बर्फीली हवाएँ चलने के कारण इस दर्रे को एक दिन में एक बार ही पार करना सम्भव है। कहते हैं भारत में ब्रिटिश वायसराय लार्ड एलिन ने इस चुनौती को नकारने का प्रयास किया, परन्तु इस प्रयास में वह बर्फीले तूफान का शिकार बन गए। यह स्थिति श्री गुरमीत वेदी के शब्दों में साकार हुई है—"रोहतांग एक ऐसा स्थल है, जहां सूरज और बादलों में आँख-मिचौली चलती रहती है। कई विशालकाय हिमखंडों को अपने आँचल में समेटे यह स्थल बर्फीला रेगिस्तान नजर आता है! जिधर दृष्टि डालो बर्फ ही बर्फ। इस दर्रे पर हमेशा बर्फीली हवाएँ चलती रहती हैं और वह हवाएँ भी इतनी तेज कि आदमी को राह चलते उड़ा दें।"

स्पीति घाटी

स्पीति घाटी 'मणियों की घाटी' के रूप में विख्यात है। स्थानीय भाषा में 'सी' का भाव है 'मणि' और 'पीति' का अर्थ है स्थान—मणियों का स्थान! इस घाटी का यह नाम अत्यन्त सार्थक है क्योंकि आज भी इस घाटी में हीरों और बहुमूल्य पत्थरों की सम्पदा उपलब्ध है। लोकमत है कि घाटी के पर्वतों की चोटियों पर सैकड़ों वर्षों से जो बर्फ की सघनता है, वह मणियों में परिवर्तित हो जाती है। रोहतांग दर्रा के ग्रामफू स्थल से दाईं ओर मुड़ने पर स्पीति घाटी का सफर शुरू होता है।

स्पीति घाटी 7589 वर्ग कि०मी० में फैली है। इसे 'शीत मरुस्थल' का सम्बोधन भी प्राप्त है। इस घाटी में वर्षा नाममात्र की होती है, होती है तो केवल बर्फ, जिसकी कई मोटी-मोटी परतें जम जाती हैं। स्पीति उपमंडल का मुख्यालय काजा है, जो बारह हजार फीट की ऊंचाई पर स्पीति नदी के दोनों तटों पर स्थित पर्वतों से घिरी समतल भूमि पर बसा है। यहां का 'की' गोम्पा अत्यन्त प्राचीन है। इस घाटी में हंसा, क्यारो, मुरंग आदि अनेकानेक गांव हैं। घाटी में सर्दी से बचने के लिए अधिकांश लोग जौ की शराब का सेवन करते हैं।

स्पीति घाटी में प्राचीन बौद्ध मठ तथा विहार हैं। घाटी का एक प्रमुख गांव 'डुंखर' 12700 फीट की ऊंचाई पर अवस्थित है। गांव में एक बौद्ध विहार है,

जहां परम्परानुसार बच्चे शिक्षा प्राप्त करते हैं। यहां एक प्राचीन दुर्ग भी है। समुद्र-तल से दस हजार फीट की ऊंचाई पर स्थित 'ताबो' ग्राम है, जिसे बौद्ध धर्म का प्रमुख केन्द्र माना जाता है। इसकी ख्याति 'हिमालय की अजन्ता' के रूप में भी है। इसका कारण है यहां की ऊँची पहाड़ी पर स्थित गोम्पा के अत्यन्त प्राचीन एवं भव्य भित्तिचित्र! इन चित्रों में विषयों की विविधता है—विषय हैं—परियाँ, देवता, बौद्ध गुरु, प्रणय भंगिमाएँ, राक्षस तथा जातक-आख्यान। लोकमत है यह गांव 948 ई० में लामा रिन-छेन-जंग-पो द्वारा स्थापित हुआ था, और यहां की चित्रकारी 1400 ई० पूर्व की स्वीकारी जाती है। भित्तिचित्र नौ कक्षों में निर्मित हुए थे। भूकम्प के प्रहार भी इन चित्रों के अस्तित्व को मिटा नहीं पाए।

इस घाटी का एक अन्य विख्यात गांव किब्बर समुद्र-तल से 14,885 फीट की ऊंचाई पर स्थित है। यह काजा से बीस कि०मी० की दूरी पर है। यह गांव आकाश से कुछ ही दूरी पर लटका हुआ प्रतीत होता है—जैसे दूसरी दुनिया का हिस्सा हो। यहां भी एक प्राचीन बौद्ध मठ है, जिसमें भगवान बुद्ध की अनेक प्राचीन प्रतिमाएँ तथा दुर्लभ ग्रन्थ विशिष्ट हैं। 'दक्कांग' मेला यहां का प्रमुख उत्सव है।

लाहौल तथा इस घाटी में चार प्रमुख झीलें हैं—सूरजताल, चन्द्रताल, मनियंग छोह तथा ढंकर छोह। ये झीलें दुर्गम स्थानों पर अवस्थित हैं, परन्तु इनका सौन्दर्य अद्वितीय है।

पांगी घाटी

पांगी की यात्रा अत्यन्त रोमांचक है, तो यहां का संसार भी विलक्षण है। हिमाचल के छोटे-से खंड—पांगी घाटी का परिचय कुछ शब्दों में देना हो, तो कहना होगा—दूरस्थ एवं गुप्त, सुरम्य तथा प्रचंड भी। हिमाचल के इस समय के निर्जन तथा एकांत स्थलों में चम्बा जिला की पांगी घाटी अब भी एक 'रहस्य' बनी हुई है। चौदह हजार फीट की ऊंचाई पर स्थित पांगी घाटी का क्षेत्रफल 1,232 कि०मी० है। पर्वत शृंखलाएँ, इस घाटी के दोनों ओर समानांतर रूप से विद्यमान हैं। यही इस घाटी को उत्तर में जांसकर क्षेत्र तथा पश्चिम में चम्बा से अलग करती हैं। समूची घाटी वर्ष में सात मास बर्फ से ढकी रहती है। मई से अक्तूबर तक यहां मौसम सुहावना होता है, जिसका आनन्द रोमांच प्रेमी एवं घुमक्कड़ खूब उठाते हैं।

घाटी के विभिन्न दृश्यों को रेखांकित करते हुए श्री इकबाल ने अपने एक लेख में कहा है—"इस घाटी का सफर काफी रोमांचक और प्राकृतिक दृश्यावलियों

से भरपूर है। रास्ते में कहीं हरे-भरे चारागाह, सीढ़ीनुमा खेत, जलकुंड और फलों से लहलहाते वृक्ष सैलानियों का मन मोह लेते हैं, तो कहीं अपने भेड़-बकरियों के झुंड के साथ खुले आसमान तले ढेरा लगा, 'पुआल' पर्वतीय जीव-जंतु सैलानी का स्वागत करते दिखते हैं।" घाटी का हर रूप विस्मयकारी है—कमाल की रुक्षता है तो सौन्दर्य की तीव्रता भी। यह कथन है डॉ० जॉन हचीनसन का जो इतिहासकार, घुमक्कड़ थे और चम्बा के निवासी बन गए! उल्लेख इस प्रकार है—'Pangi is remarkable in its rugged grandeur & austere beauty. Thc scenery is sublime & imposing and nature appears in her wildest and grandest moods. Everything is on a stupendous scale. Thc great river rolls along in a deep & narrow gogre, lashing itself into fury, sandwiched between adamantine cliffs that confinc it.—But all this is not rugged & Sublimity & naked beauty. Every few miles the traveller reaches tolerably open nooks of surpassing beauty, which may have been small lakes in some gone by age, while the river was cutting its course.[1]

यह घाटी आठ खतरनाक दर्रों से घिरी है—साध, मघ, चनैनी, द्राटी, कुगति, रोहतांग, चोमिया तथा काली छोह। इन दर्रों की ऊंचाई तेरह हजार फीट से लेकर सोलह हजार फीट तक की है। अब पांगी घाटी के मुख्यालय किलाड़ तक सड़क बन जाने से यह घाटी 'जादुई' नहीं रही। स्मरण रहे कि इस सड़क के निर्माण कार्य में कई लोगों को अपने जीवन से हाथ धोना पड़ा। पहले यहां का जीवन इतना दुश्वार था कि कोई भी सरकारी अधिकारी या कर्मचारी यहां काम नहीं करना चाहता था, येन-केन-प्रकारेण नियुक्ति को रुकवाने का प्रयास होता! यहां पर नियुक्ति एक प्रकार की सजा समझी जाती। उस समय किसी भी कर्मचारी या अधिकारी की तैनाती के समय एक विशेष भत्ते 'फ्यूनरल एक्सपेंसिस' (अंत्येष्टि भत्ता) का प्रावधान होता। यह निश्चित नहीं था कि तैनाती पर गया व्यक्ति वापस भी लौट पाएगा या नहीं।

इस घाटी के बारे में यह धारणा थी कि यहां कभी मानव निवास नहीं था—जानवर ही जानवर होंगे! स्थान-स्थान पर भूस्खलन का अंदेशा और फिर जंगली जानवरों से प्राण संकट में—कोई यात्रा का दुस्साहस कैसे करे? इस घाटी

---

1. Description in 1910 : Dr. johan Hutchinson (A remarkable historian, medical doctor & traveller—Alya Himachal : Document—Deptt. Of Tourism & civil Aviation, Himachal

के उपयोग सम्बन्धी यह लोक विश्वास भी प्रचालित था कि शासक अपने राजनीतिक विरोधियों एवं अपराधियों को यहां निर्वासित कर देते हैं। एक धारणा यह भी है कि मुस्लिम आक्रमणकारियों से सुरक्षित रहने के लिए पड़ोसी क्षेत्र के लोगों ने यहां शरण ली और कालान्तर में यहीं के स्थायी निवासी हो गए!

पांगी घाटी में पहुँचने के लिए तीन मार्ग हैं! एक रास्ता चम्बा से है—चम्बा से तरेला तक का 75 कि०मी० का फासला बस से तय किया जा सकता है। शेष रास्ता पैदल तय करना पड़ता है। दूसरा रास्ता किश्तवाड़ (जम्मू-कश्मीर) से है। यह मार्ग पूरा साल खुला रहता है। तीसरा मार्ग लाहौल-स्पीति के त्रिलोकीपुरनाथ से है। रोहतांग दर्रे को पार करने पर पहला पड़ाव 'कोकसर' है। अगला पड़ाव 'तांदी' है! तांदी से केलंग और फिर उदयपुर और आगे सड़क मार्ग। केलंग से पट्टन घाटी में प्रवेश होता है, जो काफी खुली और विस्तृत है! यहां फलों के बगीचे हैं। घाटी का विकसित गांव उदयपुर है, जहां से पांगी प्रवेश है।

इस घाटी के 65 गांवों में से लगभग 45 को ही आबाद मानना चाहिए। अक्तूबर में यहां बर्फबारी शुरू हो जाती है और यह क्रम जून तक चलता है। घाटी के निवासियों को अनाज पीसकर अन्दर रखना पड़ता है, पशुओं के लिए चारे की व्यवस्था भी करनी होती है। यहां केवल खरीफ की फसल ही बोई जाती है। बर्फबारी की अवधि में यहां के लोग रंग-बिरंगी चादरें, शालें और घास की पूलें (पर्वतीय जूते) बनाकर अपना समय व्यतीत करते हैं! मौसम खुलने पर ये उत्पाद बाजार का मुँह देखते हैं।

इस घाटी के दो प्रमुख त्यौहार हैं—जुकारु तथा साचतातर! जुकारु शरद् ऋतु का प्रमुख त्यौहार है और प्रत्येक गांव में इसे अलग-अलग ढंग से मनाया जाता है। तीन दिन के इस आयोजन में अतिथियों की विशेष सेवा की परम्परा है। साचतातर त्यौहार हर वर्ष भादों मास की पूर्णमासी के पश्चात मनाया जाता है। त्यौहार का सम्बन्ध नागपूज़ा से है। चन्द्रभागा नदी के पार मिंधल नामक गांव प्रकृति की सुरम्य स्थली है, परन्तु गांव की ख्याति मिंधल माता के कारण है! मिंधल माता का गांव में लकड़ी का मन्दिर है। क्षेत्र में देवी की विशेष मान्यता है।

इस घाटी के निवासियों की अपनी ही पारिवारिक, सामाजिक तथा धार्मिक परम्पराएं हैं। संस्कार भी अद्भुत हैं! सन्तान के जन्म पर शुद्धि पर विशेष ध्यान दिया जाता है। बच्चे के जन्म के तीसरे, नौवें या बारहवें दिन शुद्धि का विधान है। शिशु को 'गोमूत्र' स्नान करवाया जाता है। घर के अन्दर भी, गंगाजल की तरह पवित्र माना जाने वाला, गूंतर छिड़का जाता है। नामकरण संस्कार पहले, तीसरे,

सातवें या नौवें मास में किया जाता है। इसके अनन्तर होने वाले मुंडन संस्कार में बालक का मामा उसके सिर से बाल उतारता है, और इसे दीर्घायु का आशीर्वाद प्राप्ति हेतु देवता के पास ले जाया जाता है।

इस समाज में विवाह की भी विचित्र परम्पराएं हैं। विवाह के अनेक प्रकार हैं—टोपी विवाह, मुद्र्याली विवाह, प्रेम विवाह तथा बलपूर्वक विवाह! विवाह तीन चरणों में सम्पन्न होता है। प्रथम चरण में लड़के की ओर से लड़की वालों से पूछताछ की जाती है! लड़की के माता-पिता सहमत हों, तो निश्चित दिन लड़का अपने तीन-चार मित्रों के साथ लड़की के घर घी की पूरियाँ, हलवा, शराब तथा आभूषण लेकर जाता है। लड़की के परिवार के सदस्य भी इस समारोह में शामिल रहते हैं। लड़की आभूषण को स्वीकार कर ले, तो इसे परिवार की स्वीकृति माना जाता है। स्थानीय भाषा में इस रस्म को पीलम कहते हैं। विवाह संस्कार से भी अधिक महत्त्व 'पीलम' का है, क्योंकि इस दिन से लड़की परम्परा एवं कानून के अनुसार उस लड़के की पत्नी स्वीकार की जाती है। लड़के का अपने ससुराल में आना-जाना शुरू हो जाता है। इस अवधि में, यदि लड़की देवयोग से गर्भवती हो जाए, तो सन्तान उस लड़के की मानी जाती है। पीलम के एक वर्ष अनन्तर 'फरबी' की रस्म होती है! दोनों पक्षों द्वारा निश्चित दिन, लड़का अपने किसी सम्बंधी या मध्यस्थ, जिसे दीवान कहा जाता है, के साथ लड़की के घर आता है। वह पूरियाँ, हलवा तथा शराब की भेंट लाता है। लड़की वाले अपने सम्बंधियों तथा ग्रामवासियों को इस समारोह में शामिल करते हैं। शाम को सभी अपने घर लौट जाते हैं। लड़के की इच्छा हो, तो वह वहीं ठहर सकता है। 'फरबी' के बाद डेढ़ साल के अन्तराल से 'चरबी' संस्कार होता है। इस बार लड़का दुल्हन के घर बारात लाता है—इसमें केवल दो व्यक्ति होते हैं—उपरोक्त दीवान तथा पटमारह—तलवार धारक! लोक विश्वास है कि पटमारह के होने से दुल्हे की भूत-प्रेत से रक्षा होती है। रात को विवाह सम्पन्न होता है। वर-वधु दोनों एक कमरे में बैठ ग्राम देवता की पूजा करते हैं। विवाह की रात भोज तथा नृत्य का आयोजन होता है। एक ही गांव के लड़के-लड़की का विवाह निषद्ध है! स्त्रियाँ अपने ढंग से सजती-सँवरती है—कानों में दर्जनों मुरकियाँ, नाक में लौंग, बाहों में टोके-बंगे-कंगणू, गले में डोडमाला तथा तबीत! घाटी की संयुक्त परिवार की परम्परा अत्यन्त सराहनीय है।

पहले मनचाही लड़की को जबरन अपनी पत्नी बनाने की प्रथा का प्रचलन था! ऐसी स्थिति में लड़का, अपने कुछ साथियों के सहयोग से लड़की को, न चाहने पर भी, अपनी पीठ पर उठाकर ले जाता था। इसे 'पिठचुक' विवाह की संज्ञा प्राप्त

थी। अब इस कुप्रथा का, लड़कियों के साहस तथा प्रशासन की सख्ती के कारण, लगभग अन्त हो गया है। अनेकानेक सुविधाओं के उपलब्ध होने से अब सादर्श पर्यटक इस घाटी की विविधता का आनन्द उठाने से नहीं चूकते। श्री गुरमीत बेदी का कथन अत्यन्त सार्थक है—"यहां की समृद्ध संस्कृति, निराली बोलियाँ, भोले-भाले ग्रामीण, अनूठा पहरावा, खान-पान और सबसे बढ़कर जिंदादिल मेहमाननवाजी सैलानी के मन पर इतनी खूबसूरती से दर्ज हो जाती है कि वह बार-बार यहीं लौटना चाहता है।"

भंगाल घाटी

भंगाल घाटी कांगड़ा जिला की अत्यन्त दुर्गम घाटी है और इसी कारण कुछ लोग इसे 'काला पानी' का भी सम्बोधन देते हैं। इसका कारण शायद यह है कि यहां न तो सुगम यातायात के लिए सड़कों का जाल है और न ही जीवन के लिए अपेक्षित सुविधाएं। बर्फबारी के कारण वर्ष में पांच मास घाटी का सम्पर्क शेष संसार से टूट जाता है। श्री गुरमीत बेदी तो घाटी के सौन्दर्य से अभिभूत दीखते हैं—"आकाश का सीना नापते हिमशिखर, झर-झर झरते झरने, शीतल हवा के झोंके, तोष, कैल और रई के गगनचुम्बी वृक्ष बरबस ही मन मोह लेते हैं।" इस घाटी के कतिपय प्रमुख दर्शनीय स्थल हैं—पोलिंग, नलौता, रूलिंग, कुकड़गुंदा, राजगुंदा, प्लाचक तथा बड़ाग्रां! ये सभी स्थल समुद्र-तल से छह से दस हजार फीट की बुलंदी पर अवस्थित है। घाटी के अस्सी प्रतिशत क्षेत्र में वन हैं। इन वनों में भेड़-बकरियां चराते गड़रियों से भेंट हो जाती है, जो भोले-भाले लोगों के प्रतिनिधि हैं। कहीं से बाँसुरी की मधुर तान कानों में रस घोल देती है, तो जड़ी-बूटियाँ तथा लकड़ी चुनने वाली हिमबालाओं के हृदयग्राही लोकगीत मन में नई उमंग भर देते हैं।

इस घाटी के लोगों की धर्म तथा देवी-देवताओं के प्रति अपार श्रद्धा है। जीवन के प्रत्येक काम का आरम्भ देव-आराधना से होता है, फसल की बुआई भी देवता की तथाकथित अनुमति से ही होती है। इस घाटी के प्रमुख ग्रामीण देवता हैं—'अजय पाल' तथा 'गोहरी'। इन देवताओं का मन्दिर में विराजमान होना प्रतीक रूप में ही है, और जनता को इनके 'गूर' (शिष्य) के माध्यम से ही सन्देश प्राप्त होता है। 'गूर' के कथन को देव-कथन मान उसका विनयपूर्वक पालन होता है।

इस घाटी के एक अन्य देवता है 'कैलू' (कुल का अपभ्रंश)—अर्थात् कुल

देवता। इनके प्रति भी लोगों की विशेष आस्था है। अन्य दो ग्राम देवताओं से इस लोक देवता में यह अन्तर है कि यह कोई आदेश नहीं सुनाता! 'कैलू' महिलाओं के देव हैं और इनके स्थल पर पुरुषों का प्रवेश वर्जित है। इस देवता की पूजा विवाहित महिलाएँ ही करती हैं! स्थानीय परम्परा के अनुसार विवाह होने पर कन्या इस देवता की पूजा-अर्चना शुरू कर देती है। वह चाहे तो इसे अपने ससुराल भी साथ ले जा सकती है, जहां ससुराल के घर के पार्श्व में ही देव-स्थापना होती है, अन्यथा विवाहित कन्या को पूजा-अर्चना हेतु मायके आना होता है।

घाटी में विवाह संस्कार की भी अपनी परम्परा है। लड़के-लड़कियों के विवाह प्रायः इक्कीस वर्ष की अवस्था में हो जाते हैं, पच्चीस वर्ष तो मानो सीमा-रेखा हो। यहां आमतौर पर प्रेम-विवाहों का प्रचलन है, जिन्हें 'झंझराडा' की संज्ञा प्राप्त है। प्रेमी अपनी प्रेमिका को अपने माता-पिता के पास ले जाता है और उन्हें इस सम्बन्ध की स्वीकृति देनी ही पड़ती है। माता-पिता द्वारा निश्चित किए गए नाते भी समीप के क्षेत्र में ही होते हैं, कहीं दूर नहीं! विवाह का एक रूप है 'बट्टा-सट्टा'। इसमें दुल्हा किसी कन्या को पत्नी बनाने हेतु उसके भाई के साथ अपनी चचेरी या फुफेरी बहन का रिश्ता तय करता है। सम्बन्धों का एक रूप है—'चोली-डोरी', जिसके अनुसार एक महिला अपने पति की मृत्यु के बाद अपने अविवाहित देवर या जेठ के साथ विवाह बंधन में बंध जाती है। 'बरमाना' विवाह की भी यहां परम्परा है, जिसके अंतर्गत लड़का या उसके माता-पिता कन्या के मूल्य के रूप में उसके माता-पिता को निश्चित राशि भेंट करते हैं!

आपसी सौहार्द का उदाहरण घाटी के गांवों में इस रूप में उपलब्ध है कि यहां जन्म तथा मृत्यु के अवसर पर लोग खेतों में काम नहीं करते। जन्म या मृत्यु की सूचना एक व्यक्ति पूरे गांव में 'जूठ-जूठ' की ध्वनि से लगाता है! इसका भाव स्पष्ट है। जो लोग इस विधान का पालन नहीं करते, उन्हें दण्ड के रूप में देवता को बकरे या भेडू की बलि देनी पड़ती है। घाटी के लगभग सभी निवासी मांसाहारी हैं और वे शराब का भी सेवन करते हैं! त्यौहार इनके जीवन में विशेष स्थान रखते हैं, जिन्हें ये नाच-गाकर मनाते हैं।

इस घाटी में जून-जुलाई में भारी वर्षा के कारण भूस्खलन का खतरा रहता है। नवम्बर-दिसम्बर में बर्फबारी के कारण सभी मार्ग बन्द हो जाते हैं। पर्यटक घाटी की यात्रा अप्रैल-मई तथा सितम्बर-नवम्बर के शुरू तक ही कर सकते हैं। यात्रा, अधिकतर पैदल ही करनी होती है, अतः जीवट का यह कार्य केवल रोमांच प्रेमी ही करने में समर्थ होते हैं।

शोजा घाटी

समुद्र-तल से 900 फीट की ऊंचाई पर स्थित, किन्नौर की देवभूमि, शोजा प्रकृति का अनुपम श्रृंगार है। घाटी में चीड़ एवं देवदार के गगनचुम्बी वृक्ष हैं, दूर-दूर तक विस्तृत सीढ़ीनुमा खेत हैं, तो घास के हरे-भरे मैदान भी। किसी ने ठीक ही कहा है—"हरे रंग के वृक्ष कब बादलों के आंचल में छिपकर सद्यस्नाता बाला के अनिंद्य सुन्दर रूप की तरह सिन्दूरी हो उठते हैं, इसका वर्णन कलम नहीं, बल्कि आँखें ही कर सकती हैं।

शोजा के भोले-भाले लोग ऐसे दीखते हैं कि जैसे वे किसी देवलोक के वासी हों, इस भौतिकवादी दुनिया के नहीं—अभाव ग्रस्त परन्तु संतुष्ट! दैनिक प्रयोग की अधिकांश वस्तुओं के लिए जलौरी पास 30 कि०मी० की दूरी तय करनी पड़ती है। जलौरी माता मन्दिर तथा सुरलेसकर झील घाटी के मुख्य आकर्षण हैं।

जलौरी माता मन्दिर अप्रैल से सितम्बर तक खुला रहता है। नवम्बर से फरवरी तक जलौरी पास बर्फ से ढक जाता है। पांच-छह फीट बर्फ सड़क पर जम जाती है। स्केटिंग तथा स्कीइंग प्रेमियों को सुअवसर प्राप्त हो जाता है। यह स्थिति भी माता के भक्तों को दर्शन से रोकने में सफल नहीं होती! भूरी नागिन का मन्दिर भी यहां के निवासियों की श्रद्धा का केन्द्र है। समुद्र-तल से 1400 फीट की ऊंचाई पर स्थित राघवपुर का किला भी दर्शनीय है। किला में राजा राघवसिंह के आराध्य देव श्री श्रृंगी भगवान का मन्दिर है। इस मन्दिर तक पहुँचने के लिए ढाई कि०मी० की दुर्गम चढ़ाई पार करनी होती है, परन्तु श्रद्धालु आनन-फानन में बिना श्रम के इसे पार कर लेते हैं। हृदय रोग या उच्च रक्तचाप पीड़ितों के लिए यह सहज नहीं! सुरलेसकर झील पर भी लोग श्रद्धा भाव से इकट्ठा होते हैं!

साहसिक अभियान के प्रेमियों को इस घाटी में अनेक आकर्षण मिल जाते हैं। मार्ग में कहीं प्राकृतिक गुफाएँ आती हैं, कहीं मैदानी भाग और कहीं भयानक दुर्गम ऊंचाई वाले टेढ़े-मेढ़े मार्ग। चीड़ और देवदार के वृक्षों के मध्य बनी दो-दो फीट की पगडंडी पर ट्रैकिंग का अपना ही आनन्द है। जहां कहीं छोटे-छोटे रंगीन फूल खिले हों, जैसे किले के आसपास की सुन्दर पहाड़ी, वहां ऐसा भासता है कि जैसे किसी ने 'साटन स्टिच' में फूलदार ईरानी गलीचा बुनकर बिछा दिया हो! शोजा में बाहर से आने वालों के लिए कोई ठहरने का स्थान उपलब्ध नहीं, सैलानी इटेलियन टैंटों की व्यवस्था स्वयं कर लेते हैं। मखमली हरी दूब के गलीचे पर चलने का आनन्द और यहां का अलौकिक सौन्दर्य उन्हें यहां खींच लाता है। यहां पहुँचने के लिए

बिलासपुर से बस सेवा है। मार्ग में 'पृथन' तथा 'तीर्थन' नदियों के वेगवान प्रवाह को देखने का भी अवसर मिल जाता है। ये नदियाँ विश्व प्रसिद्ध ट्राउट मछलियों के लिए विख्यात हैं।

सांगला घाटी

हिमाचल प्रदेश की किन्नौर घाटी में वासपा नदी के आँचल में स्थित सांगला नैसर्गिक सौन्दर्य स्थल है। समुद्र-तल से 2700 मीटर की ऊंचाई पर स्थित सांगला घाटी स्थल, किसी समय चाहे अनछुआ-सा रहा हो, परन्तु आज यह स्थल हिमाचल की संस्कृति और प्रकृति के आनन्द की झलक पाने वालों के लिए अपेक्षाकृत सुलभ है। यहां संस्कृति और सौन्दर्य का अपूर्व समन्वय है। यह घाटी कुल्लू मनाली से भी अधिक प्राकृतिक दृष्टि से सम्पन्न है। इसका जंगलमय एकान्त, नगरों की भीड़-भाड़ से इसकी दूरी, इसका रोमांच—सब कुछ इसे दिलकश तथा दिलचस्प बना देता है। यहां आकर मानवीय कुंठाएँ लुप्त हो जाती हैं, तो इसे 'बैकुंठ' ही तो कहना चाहिए। घाटी भी अजब है—मखमली घास, सतरंगे फूल, देवदार के वृक्ष और कदम-कदम पर नदी-नालों और झरनों का आकर्षण।

सांगला तक पहुँचने के लिए शिमला से लगभग बारह घंटों का सफर है। मार्ग में कुफरी, नारकंडा, रामपुर बुशहर आदि सुन्दर स्थलों से साक्षात्कार होता है। सराहन से सांगला की दूरी लगभग 94 क़ि०मी० है। जूरी नामक स्थल से फिर राजमार्ग को अपनाना पड़ता है और इसी मार्ग पर हैं भावानगर टापरी और करछम। करछम से 18 कि०मी० की यात्रा पर सांगला के दर्शन होते हैं। करछम ही सतलुज और वासपा का मिलन स्थल है। इसकी ऊंचाई 1850 मीटर—सांगला से काफी कम! यह घाटी सन् 1992 में पर्यटकों तथा प्रकृति प्रेमियों के लिए खोली गई थी! यहां से भारत-चीन सीमा मात्र चालीस कि०मी० है। लगभग पांच हजार वर्ष पुरानी यह घाटी अपने सौन्दर्य को शायद इस कारण बनाए रख सकी कि यहां लोगों का आना-जाना लगभग नहीं था। ऐसा कहा जाता है कि पहले यह घाटी इतनी सघन थी कि यहां व्यक्ति के छिपने की आसानी थी। कई लोग इसे ही पाण्डवों की अज्ञातवास स्थली स्वीकारते हैं। यहां जलवायु प्रदूषित नहीं, वातावरण निर्मल तथा खुला है। इसी विशिष्टता ने प्रसिद्ध घुमक्कड़ विद्वान् श्री राहुल सांकृत्यायन को अपनी ओर आकर्षित किया। इस घाटी में गर्मी और बरसात नाममात्र की होती है। घाटी का सतरंगी स्वपनिल रूप जून से सितम्बर तक दिखता है।

इस घाटी की विशाल परम्पराएं हैं। इस क्षेत्र की मुख्य जाति किन्नर है, जिसका उल्लेख संस्कृत साहित्य में यक्ष एवं गंधर्व के रूप में हुआ है। यद्यपि इनका मुख्य पेशा पशु चराना ही रहा है, तथापि ये लोग खेती तथा बागवानी भी करने लगे हैं। कई घरों में फलदार वृक्ष, विशेषतः सेवों के वृक्ष उगाए जाते हैं। इनमें संयुक्त परिवार तथा बहु-पति प्रथा प्रचलित रही है। शायद सम्पत्ति के विभाजन को रोकने का यह उपाय हो। समय की बदलती धारा ने इस प्रथा को काफी सीमा तक विराम दे दिया है।

भोज-पत्र की उपलब्धता इस घाटी का वैशिष्ट्य है। पुराने ऋषि-मुनि लेखन के लिए भोज-पत्र का ही प्रयोग करते थे। वेदों को भी इन पर ही अक्षरबद्ध किया गया होगा। लामा लोग इन पर ही तिब्बती भाषा में मन्त्र लिखकर गर्भवती महिलाओं को देते थे ताकि उनका मंगल हो।

सांगला घाटी अपने लोक-नाट्यों एवं लोक-नृत्यों के लिए भी जानी जाती है। युवक-युवतियां हाथों में हाथ डालकर हँसते-गाते तथा नाचते हैं। पर्यटक तथा अन्य लोग भी उत्सव के इस माहौल को सार्थक बना लेते हैं। यहां के मेले तथा त्यौहार भी प्रसिद्ध हैं। सितम्वर-अक्तूबर में फूलों का प्रसिद्ध मेला लगता है। सांगला में उपलब्ध ट्राऊट मछली के लिए भी यहां काफी पर्यटक आते हैं और अव यह आना-जाना वर्ष-भर लगा रहता है।

इस घाटी में बौद्ध धर्म के अनुयायी अधिक हैं, परन्तु कहीं-कहीं ब्राह्मण भी हैं। वौद्ध धर्म के मठ भी हैं, जिनकी व्यवस्था लामा करते हैं। किन्नौर में वौद्ध धर्म की महायान शाखा का प्रभाव है। यहां के बौद्ध धर्म में वज्रयान, तन्त्र तथा तिब्बती प्रणाली का मिश्रण है। यहां ठाकुर कन्याएं, जो विवाह बंधन में नहीं बँधती, वे अध्ययन-अध्यात्म को जीवन समर्पित कर जोमो (भिक्षुणी) बन जाती हैं। इसी प्रकार अविवाहित युवक भी भिक्षु बन जाते हैं। यहां लोक-देवताओं को भी मान्यता प्राप्त है। प्रथम कोटि के देवता 'वेरिंग' हैं, जिन्हें अपना रथांग प्राप्त है। यहां हिन्दू तथा वौद्ध धर्म के प्रति समान आस्था है।

सांगला घाटी का रुकती एवं कश्मीर क्षेत्र अत्यन्त आनन्ददायक तथा एकान्त है। सांगला के आसपास कामरू, चाँसू, कुप्पा, बनिंग सारिंग, कश्मीर, बटसेरी, रक्षम, छितकुल आदि गांव प्राकृतिक सम्पन्नता की दृष्टि से एक-से-एक बढ़कर हैं। कामरू की ऊंचाई लगभग तीन हजार मीटर है। यहां के किले और भवन सुन्दर एवं भव्य हैं। इनके मुख्य द्वार पर महात्मा बुद्ध की प्रतिमा स्थापित है। सांगला तहसील कार्यालय है और यहां लोगों की संख्या अधिक नहीं। सेब, आलू,

मटर की उपज यहां काफी होती है।

यहां का सीमांत गांव छितकुल समुद्र-तल से दस-ग्यारह हजार फीट की ऊंचाई पर स्थित है और सांगला से इसकी दूरी 22 कि०मी० है। छह कूहलों के कारण गांव का नाम छितकुल है और अपने प्राकृतिक वैभव के कारण देशी-विदेशी पर्यटकों को आकर्षित करने में सक्षम यह गांव सांगला घाटी का स्विट्जरलैंड कहा जाता है।

प्रकृति की अनुपम छटा के साथ-साथ यह गांव ट्रेकिंग, स्कीइंग और 'वाइल्ड लाइफ एडवेंचर' के लिए भी सर्वोत्कृष्ट स्थल है। इस गांव के मध्य में गंगा की भाँति स्वच्छ जल वाली कल-कल नादिनी छोटी नदी है। इससे तीन कि०मी० की दूरी पर नागसती में भारत-तिब्बत सीमा पुलिस की चौकी है। एक किंवदंती के अनुसार यहां से कुछ दूर गंगा जी को प्रकट होना था, परन्तु देवताओं के रोकने पर वह गंगोत्री चली गई। यहां आज भी एक कुंड विद्यमान है। भीमसेन की टांग के निशान वाले पत्थर भी यहां मौजूद कहे जाते हैं। इसके आगे 'मिल्की वाटरफाल' है, यहीं से गंगोत्री, बद्रीनाथ तथा उत्तर काशी का मार्ग भी है। प्राचीन समय में हिन्दुस्तान-तिब्बत व्यवसाय का यही रास्ता था।

छितकुल गांव को भगवान् शिव के साधना-स्थल किन्नर-कैलाश का अन्तिम पड़ाव भी माना जाता है। यह परिक्रमा तब तक पूरी नहीं मानी जाती, जब तक छितकुल गांव की देवी माथी के दर्शन नहीं किए जाते! माथी देवी भक्तों की मनोकामना पूरी करती है, निस्सन्तानों को सन्तान प्रदान करती है। गांव में मकान लकड़ी के हैं। गांव आधुनिक सुविधाओं से लगभग वंचित है। किन्नौर में छितकुल तथा कूनो-चारंग ऐसे गांव हैं, जहां पर कोई फल पैदा नहीं होता। साल में जौ, आलू, फाफरा, गेहूँ इत्यादि की एक फसल ही तैयार होती है। मटर ही कमाई का साधन है। ग्राम के तीनों ओर बर्फीले पर्वत हैं और मध्य में बर्फीली नदी बासपा। इस अन्तिम गांव में भी चहल-पहल रहती है। यहां की रमणीयता यह बोध कराती है कि यह क्षेत्र सांगला घाटी का एक अंग है। सांगला घाटी रहस्य-रोमांच की घाटी है, जिसमें सभी रुचियों के लोगों का स्वागत है। श्री अरुण सूद का कथन अत्यन्त सार्थक है—'It holds a special charm for the trekkers, & the rubber neckers professionals & amateurs alike. A tryst with sangla valley holds the promise of a life-long relationship with a world in which romance, mystery & tradition still tip-toe their way around.'

□□□

हिमाचल की झीलें-चश्में

हिमाचल के पर्वतीय क्षेत्रों में सैलानियों तथा मैदानी क्षेत्र के अन्य लोगों का आना-जाना इसलिए नहीं होता कि इन क्षेत्रों में मौसम अत्यन्त सुहावना होता है। सच्चाई तो यह है कि पर्वतों के मध्य में नित्य नए-नए रूप धारण करने वाली प्रकृति से साक्षात्कार हो जाता है। कहीं फूलों की बहार स्वागत करती है, तो कहीं फलों से लदे वृक्ष सहज आमन्त्रण देते भासते हैं, कहीं झरनों का मधुर संगीत मोहित करता है, तो कहीं स्वच्छ, निर्मल झीलें आस्था एवं परम्परा से जोड़ती हैं।

अनेकानेक लोगों की आस्था की केंद्र हिमाचल की झीलें अढ़ाई हजार फीट से लेकर पंद्रह हजार फीट तक की ऊंचाई पर स्थित हैं। कई झीलों तक पहुँचना, सड़क मार्ग के कारण सुगम है, तो अन्य तक पहुँच पाना जोखिम का काम है। घुमक्कड़ तथा पर्वतारोहण में रुचि रखने वाले ही इनके स्पर्श का साहस कर सकते हैं। कुछ झीलें ऐसे दुर्गम स्थानों पर स्थित है कि वहां पहुँचने के लिए ग्लेशियर लांघने पड़ते हैं। हिमाचल में छोटी-बड़ी लगभग दो दर्जन प्राकृतिक झीलें हैं। इनमें से लगभग आधी दुर्गम जनजातीय क्षेत्रों में स्थित हैं। कतिपय प्रख्यात झीलें हैं—रेणुका झील, रिवालसर झील, पराशर झील, खजियार झील, मणि महेश झील।

रेणुका झील

हिमाचल प्रदेश के पूर्वी छोर में स्थित सिरमौर जनपद के मुख्यालय नाहन से 37 कि०मी० दूर तथा समुद्र-तल से 2200 फीट की ऊंचाई पर स्थित है स्वर्गिक सौन्दर्य स्थली—रेणुका झील! तीन कि०मी० लम्बी तथा आधा कि०मी० चौड़ी यह झील विश्रामरत महिला के आकार की है और इसमें देवी रेणुका ही मूर्तिमान दीखती है। यह हिमाचल की सर्वाधिक लम्बी झील है और इसका सौन्दर्य देखते ही बनता है। इसी सौन्दर्य को प्रकाश पुरोहित 'जयदीप' ने इस प्रकार रेखांकित किया है—"ताजे मीठे जल व झिलमिलाती मछलियों से लबालब भरी। चारों ओर घने हरे-भरे जंगल—मखमली घास, लताओं के कुंज—फूलों की बहार, मन्दिर, आश्रम, बंगले औरं दिलकश चिड़ियाघर—पास ही बहती गिरि नदी और एक खूबसूरत

ताल!—यानी जहां निगाह डालिए वहां एक अनाम जादुई आकर्षण एवं सौन्दर्य।"

रेणुका झील का धार्मिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व है क्योंकि इसके साथ सहस्रों लोगों की आस्था जुड़ी है। प्राचीन धर्मग्रन्थों के अनुसार देवी रेणुका का यहीं निवास था और यह उनकी तपस्थली भी थी। पौराणिक आख्यानों के अनुसार किसी समय इस क्षेत्र में सहस्रबाहु राजा का आतंक था! अहं से पीड़ित राजा ने सत्ता के नशे में माता रेणुका के पति और विश्वविख्यात परशुराम के पिता महर्षि यमदग्नि की हत्या कर दी। भागते हुए देवी रेणुका तलहटी में पहुँची। देखते ही देखते धरती फट गई और रेणुका उसमें समा गई। चारों ओर पानी फैल गया और इस प्रकार रेणुका झील अस्तित्व में आई।

नाहन एवं पांवटा साहिब से रेणुका झील तक बस का सफर एक घंटे का है। देहरादून से पांवटा तथा नाहन की दूरी क्रमशः 45 तथा 95 कि०मी० है। नाहन देश के प्रमुख नगरों दिल्ली, चंडीगढ़, शिमला, अमृतसर सहारनपुर आदि से सीधा सड़क मार्ग से जुड़ा है। नाहन से आठ कि०मी० की दूरी पर एक मार्ग उत्तर दिशा में जाता है, यही रेणुका झील का मार्ग है। इस मार्ग पर व्यक्ति को उतार-चढ़ाव तो सहन करना पड़ता है, परन्तु उसका साक्षात्कार प्रकृति की मनोरम छटा से हो जाता है। झील पर न अधिक गर्मी है और न ही अधिक ठंड। शीत प्रकोप के कारण दिसम्बर से फरवरी तक का समय अवश्य कुछ कष्टकारी होता है। इस झील के निकट ही एक सुन्दर लघु झील है—परशुराम ताल। ताल के तट पर श्री परशुराम का मन्दिर है, जिसके आसपास कई मन्दिर हैं। झील के तट पर माता रेणुका की प्रतिमा दर्शनीय है। झील से दस कि०मी० की दूरी पर स्थित टीला तथा पास का संगीतमय झरना भी कम आकर्षक नहीं।

रेणुका झील की परिक्रमा अत्यन्त लुभावनी, रोचक तथा चिरस्मरणीय है। झील के तट पर जामुन, खजूर, वट, पीपल, कचनार, गूलर, पापुलस के पेड़ां की मस्ती है तो झील के निर्मल जल में छोटी-बड़ी मछलियों की अठखेलियां रोमांचित कर देती हैं। इनके प्रेमालाप एवं संघर्ष की लीलाओं से निगाह हटाने का मन नहीं होता। झील के सीने पर लहरों का उछलना-कूदना भी चित्ताकर्षक है। कभी इनका मधुर कलरव है, तो कभी इनके शोर में भी कोई रहस्यात्मक सन्देश! झील के किनारे पक्षियों की चहचहाहट तथा उनका कलरव भी मन्त्रमुग्ध कर देता है। परिक्रमा का एक अन्य अद्भुत आकर्षण है—विस्तृत चिड़ियाघर! बारहसिंघे, हिरन, भालू, बाघ, शेर आदि अपने-अपने बाड़ों में की गई उछल-कूद से पर्यटकों, विशेषकर बच्चों को, आनन्द-विभोर कर देते हैं। अलग प्रकोष्ठ में छोटे-छोटे

पक्षियों के चोंचले बच्चों को विशेष रूप से लुभाते हैं। रेणुका झील तथा इसके परिवेश का सम्मोहन किसी व्यक्ति को इस प्रकार जकड़ ले कि वह समय की रफ्तार को भी भूल जाए, तो भी परेशानी की बात नहीं। झील के किनारे निवास के लिए टूरिस्ट विश्रामगृह जो है। इसके अतिरिक्त डाक बंगले में भी व्यवस्था है। रेणुका विकास बोर्ड ने भी 'कुब्जा पैवेलियन' की व्यवस्था कर रखी है—यहां आवास सहज है, रंगारंग कार्यक्रम 'कुब्जा कला मंच' पर आयोजित होते हैं। महात्माओं के आश्रम भी हैं, जहां स्नान हेतु घाट निर्मित हैं।

दीवाली के दस दिन बाद यहां वृहद् मेला लगता है, जिसमें दूर-दूर के क्षेत्रों से देवरथ तथा पालकियाँ शामिल होती हैं। मेले से पर्यटक शहद, अखरोट, अदरक तथा लकड़ी के खिलौने ले जाते हैं। मखमली घास, लताकुंज, मन्दिर, नदी और एक भव्य ताल और इनसे जुड़ी परम्पराएं—यही है रेणुका झील।

पराशर झील

हिमाचल प्रदेश का मंडी क्षेत्र अनेकानेक ऋषि-मुनियों की तपस्थली और यहां अवस्थित देवालयों के कारण 'हिमाचल की काशी' के नाम से विख्यात है। इसमें अनेक रमणीय स्थल भी हैं, जो अपने सौन्दर्य और अपनी धार्मिक आस्थाओं के कारण सैलानियों तथा आस्थावान लोगों को समान रूप से भाव-विभोर करते हैं। पराशर झील भी एक ऐसा ही स्थल है।

यह स्थल मंडी नगर से छयालीस कि०मी० दूर उत्तर-पूर्व में 2730 मीटर की ऊंचाई पर स्थित है। दूर से देखने पर झील का आकार एक तालाब-सा लगता है, परन्तु इसका असली क्षेत्र आधा कि०मी० के लगभग है। झील के चारों ओर ऊंची-ऊंची पर्वतमालाएं यों स्थित हैं जैसे प्रकृति ने झील की सुरक्षा हेतु इन्हें सुदृढ़ प्रांचीर के रूप में उतारा हो। झील की गहराई के बारे में निश्चित रूप से कुछ कह पाना कठिन है। सामान्य-जन गहराई 25-30 फीट आंकता है, परन्तु यह भ्रममात्र है। एक जनश्रुति के अनुसार एक बार मंडी के किसी शासक ने झील की गहराई नापने का प्रयास किया। सैंकड़ों रस्मियों को गंठवाया गया, उसके अगले सिरे पर लोहे की वजनदार वस्तु बांधी गई और फिर रस्सी को झील में डाला गया। गठवायी रस्सी समाप्त हो गई थी, परन्तु झील की गहराई की थाह नहीं पाई जा सकी। इस जनश्रुति में चाहे अतिश्योक्ति का भाव हो, परन्तु यह तो निश्चित है कि झील काफी गहरी है।

यह लोक विश्वास है कि पराशर ऋषि तप-साधना तथा आध्यात्मिक चिन्तन

के लिए उपयुक्त एकान्त स्थान खोजते हुए यहां आ पहुँचे। प्रकृति का सुरम्य स्थल उन्हें भा गया। उन्होंने हरी-हरी घास को अपना आसन बनाया। जल तो जीवन है, उसकी साधना आवश्यक है। ऋषि ने भूमि के एक भाग पर गुर्ज की चोट की और वहीं से निर्मल जल की धारा फूट निकली। धीरे-धीरे इस स्रोत ने झील का रूप धारण कर लिया। जिस भूखंड पर ऋषि विराजमान थे, वही जलमग्न होने से अछूता रहा! आज भी लगभग तीन सौ मीटर का यह भूखंड टापू की भांति झील में स्थित है।

यह झील पैगोड़ा शैली में निर्मित महर्षि पराशर के तिमंजिला मन्दिर के कारण भी विख्यात है! मान्यता है कि यह मन्दिर तेरहवीं शती में तत्कालीन मंडी नरेश वाणसेन ने निर्मित करवाया था। इस मन्दिर की काष्ठकला अपना उपमान आप है और अनेक कलाप्रेमी इसी से परिचित होने यहां आ चुके हैं। मन्दिर में महर्षि पराशर की पाषाण प्रतिमा के अतिरिक्त विष्णु, शिव, लक्ष्मी तथा महिषासुर की कलात्मक पाषाण मूर्तियां हैं।

वर्ष-भर झील के किनारे लगने वाले मेलों में आषाढ़ संक्रांति का मेला विशिष्ट होता है। इसे 'देव-समागम पर्व' का सम्बोधन भी प्राप्त है। इस मेले में मंडी तथा कुल्लू जनपद के अनेक ग्राम द्वेवताओं का भी आगमन होता है। वैशाख मास में भी 'काशी मेला' नामक मेले का आयोजन होता है। फसल कट चुकी होती है और इससे सम्पन्न हुए किसान, हंसते-झूमते पहाड़ी वाद्यों की मधुर ध्वनि के मध्य, यहां पहुँचते हैं। इस मनोरम वातावरण में लोक नर्तकों के पाँवों में स्वतः थिरकन सप्राण हो जाती है। पराशर झील वास्तव में धार्मिक आस्थाओं की प्रतीक है।

रिवालसर झील : चलते-फिरते टापू

हिमाचल प्रदेश के मंडी जिला मुख्यालय से 25 कि०मी० की दूरी पर सायं-सायं करते चीड़ के जंगलों के मध्य बसा है छोटा-सा कस्बा रिवालसर! यहीं पर समुद्र-तल से 1360 मीटर की ऊंचाई पर स्थित है रिवालसर झील! इस झील का करिश्मा ही कहिए कि यहां पौधे भी चलते हैं। यह चलते-फिरते टापुओं की झील है। झील के किनारे मन्दिर हैं, गुरुद्वारा है तो बौद्ध धर्म स्थल भी—इस प्रकार यह स्थल हिन्दुओं, सिखों तथा बौद्धों—सबकी आस्था का केंद्र है। झील के सम्बन्ध में कहा जाता है कि आठवीं शती के प्रख्यात बौद्ध तान्त्रिक पद्म सम्भव ने चमत्कारपूर्ण ढंग से इसे निर्मित किया था। इस स्थल की रमणीयता इस दृष्टि से भी है कि यहां तो थोड़ी-बहुत बर्फ ही पड़ती है, परन्तु साथ लगी पहाड़ियां बर्फ

की चादर से कई दिनों ढकी रहती हैं, और यह दृश्य अत्यन्त लुभावना होता है। यहां सैलानियों को पेड़ों-पौधों की विविधता, पक्षियों के कलरव तथा मछलियों की लीलाओं का भी आनन्द मिलता है।

इस झील में छोटे-छोटे बीड़े (टापू) हैं, जिन पर एक पौधा उगता है, जिसे स्थानीय भाषा में 'नल' कहा जाता है। इस पौधे का वनस्पति शास्त्र के अनुसार नाम है 'अरुंडो डोनैक्स' और यह 'घास' परिवार का अंग है। इसका तना खोखला होता है और इससे लिखने वाली (पुराने समय में) कलमें बनाई जाती थीं। बीड़ किस प्रकार चलते-फिरते हैं—इस प्रक्रिया को श्री जगदीश चन्द्र ने सुन्दर ढंग से उद्घाटित किया है—"रिवालसर झील के टापुओं में यह पौधा इतना बढ़िया उगता है कि हजारों की संख्या में तनों के इकट्ठे उग आने से वे टापू की मिट्टी व पत्थरों को इस प्रकार कसकर बाँधे रखते हैं कि मिट्टी अलग नहीं हो पाती और टापू एक चलती-फिरती दुनिया बन जाता है। देखते-ही-देखते ये टापू अपना स्थान बदलकर झील के दूसरे छोर पर पहुँच जाते हैं। इन तैरते टापुओं को झील के नीचे की मिट्टी से कुछ लेना-देना नहीं।"

इन टापुओं का न डूबना तथा तैरते रहना, यह भी एक चमत्कार-सा लगता है। वास्तविकता यह है 'नल' पौधे की जड़ों में से कुछेक के सिरे हवा में खुले रहते हैं, और इन्हें हवा से आक्सीजन उपलब्ध होने के कारण, श्वसन क्रिया में कोई दिक्कत नहीं आती। मिट्टी कम होती है और जड़ें संख्या में अधिक। पौधों को गले-सड़े पौधों से खुराक भी मिल जाती है। पौधे का तना खोखला होता है और इसकी जड़े हल्की—इससे बीड़े (टापू) इतने हल्के बन जाते हैं कि इनके द्वारा हटाए गए पानी का भार इनके भार से अधिक हो जाता है, टापू पानी में तैरता रहता है।

एक जनश्रुति के अनुसार किसी समय इस स्थान पर साँपों तथा अन्य विषैले जीव-जंतुओं का साम्राज्य था। लोग इस संकट से परेशान थे। 'लोमष ऋषि' ने लोगों को संकट से उभारने हेतु काफी समय एक तालाब (वर्तमान झील) के किनारे घोर तपस्या की! इन्द्र का सिंहासन भी इस तपस्या से डोलायमान हो गया। देवराज ने प्रकट होकर ऋषि से तपस्या छोड़ने का आग्रह किया, परन्तु वह नहीं माने! तब ऋषि की तपस्या से प्रसन्न होकर शिव-पार्वती एक बीड़े पर प्रकट हुए और ऋषि को वर मांगने के लिए कहा। ऋषि ने प्रार्थना में मांगा कि आज के बाद इस क्षेत्र में किसी व्यक्ति की सर्पदंश से मौत न हो और यहां सुख-आनन्द की वर्षा हो। भगवान् शिव ने प्रार्थना स्वीकार की और यह भी कहा कि लोग यहां लोमष ऋषि की भी पूजा करेंगे। लोगों द्वारा इन बीड़ों की शिव-पार्वती के साक्षात् रूप में

पूजा की जाती है—शिवजी की जटाएँ ही नल की लम्बी-लम्बी पत्तियाँ हैं और फूलों के गुच्छे देवी पार्वती के केश-जाल हैं। झील में तथा उसके आसपास सांप तो आज भी हैं, परन्तु वे स्नान करने वालों तथा अन्य लोगों को काटते नहीं। कोई अप्रिय घटना नहीं होती। झील-स्नान पुण्य माना जाता है।

झील के तट पर स्थित तीन बौद्ध विहार दर्शनीय हैं। इनमें बौद्ध गुरु पद्मसंभव का प्राचीन गोंपा भी है। यहां शिव, श्रीकृष्ण तथा लोमष ऋषि के मन्दिर भी हैं! गुरु गोविन्द सिंह की 1738 में की गई एक मास की यात्रा के उपलक्ष्य में यहां 1930 में एक गुरुद्वारा भी निर्मित हुआ। वैशाखी के अवसर पर यहां एक मेला लगता है, जिसमें बड़ी भारी भीड़ जुटती है। लोग झील में स्नान कर, बीड़ों पर उग रहे नल के पौधों पर लाल वस्त्र की पट्टी बाँध, अपनी मनोकामना पूर्ति हेतु पूजा-अर्चना करते हैं। वैशाखी के दूसरे दिन यहां स्थानीय नगरपालिका छिंज (कुश्ती) का आयोजन करती है। यहां पर बहुत बड़ी संख्या में बसे तिब्बती लोग फाल्गुन मास की दशमी को एक बड़े मेले (छैच्चू) का आयोजन करते हैं। भण्डारा भी होता है। तिब्बती श्रद्धालु मनोकामना पूर्ति हेतु नलों के पौधों पर सफेद पट्टी बाँधते हैं। पंजाब, हरियाणा तथा देश के अन्य भागों के श्रद्धालु भी समय-समय पर यहां यात्रा कर अरदास करते हैं।

झील के किनारे निर्मित शिव मन्दिर शिखर शैली का है, जिसका निर्माण काल सोलहवीं-सत्रहवीं शती माना जाता है। यहां का गुरुद्वारा भी इस दृष्टि से ऐतिहासिक है कि मंडी रियासत के तत्कालीन राजा सिद्धसेन के आमन्त्रण पर दशम गुरु श्री गोविन्दं सिंह यहां 1758 ई० में पधारे थे और उन्होंने यहां पर पहाड़ी राजाओं की एक सभा बुलाकर मुगल शासकों के आतंक के विरोध की रणनीति तैयार की थी। बौद्ध धर्मगुरु पद्मसंभव ने भी यहां (रिवासर—पुराना नाम) बौद्ध धर्म का प्रचार किया। यहां के हिन्दू राजा जोहार की कन्या मन्धर्वा, उनके विचारों से प्रभावित हो, उनकी शिष्या बन गई। कहते हैं कि क्रुद्ध होकर राजा जोहार ने बौद्ध भिक्षु को जिन्दा जला दिया। बौद्ध धर्म के अनुयायियों के लिए यह पवित्र स्थान बन गया। झील से दो कि०मी० ऊपर स्थित पहाड़ी गुफा में भिक्षु पद्मसंभव, तिब्बती रानी तथा राजकुमारी मन्धर्वा की मूर्तियाँ स्थापित हैं।

बौद्ध श्रद्धालु झील के किनारे अकसर माला फेरते दिखाई देते हैं। झील के पश्चिम में भव्य प्राचीन बौद्ध मन्दिर 'मणि पाणि' है, जिसका निर्माण काल 1910-15 बताया जाता है। बौद्ध लोग छैच्चू (छेच्शू) मेले का आयोजन गुरु पद्मसंभव की कृपा प्राप्ति हेतु करते हैं। मेले की परम्परा प्राचीन बताई जाती है,

परन्तु 1960 के बाद इसका भव्य आयोजन होने लगा है। इसी मेले का आयोजन तिब्बत में भी होता है। 'छैश्चू' शब्द में 'छ' का भाव है पानी तथा 'श्चू' का तात्पर्य है मेला—इस प्रकार अर्थ हुआ—पानी का मेला। इस मेले के अवसर पर 'माणि पाणि' मन्दिर में, विशेष वाद्य यंत्रों के संग विशेष पूजा और उसमें 'ओम् माने पेमे हूँ' मंत्र के जाप की व्यवस्था होती है। विशेष पूजा को 'डूपचें' सम्बोधन प्राप्त है। पूजा के अन्तिम दिन मेले का आयोजन किया जाता है। मेले के दस दिन पूर्व प्रथम तारीख को 'लोसर' त्यौहार की भी धूम रहती है। विशेष पूजा की समाप्ति पर आकर्षक कार्यक्रम किसी महान विभूति के नेतृत्व में सम्पन्न होता है। कुंभ पर्व समारोह में महामहिम दलाईलामा मुख्य अतिथि थे। इस विशेष आयोजन में लामा लोग तथा दर्शक भी मुखौटे पहनकर नृत्य करते हैं। इस अवसर पर झील की परिक्रमा भी की जाती है, जिसे 'कोरा डोजे' की संज्ञा प्राप्त है। शोभा यात्रा 'सेंडा' का भी आयोजन होता है। शोभा यात्रा में एक सौ आठ कुंजरों (धार्मिक ग्रंथों) को, नए वस्त्रों से आवृत्त कर, शामिल किया जाता है।

यहां पर पेड़-पौधों की विविध जातियों-उपजातियों का भी साक्षात्कार होता है। चीड़ का वृक्ष है, जिसकी सुई सदृश नुकीली पत्तियां तथा ऊबड़-खाबड़ तना होता है—वायु चलने पर सायं-सायं की ध्वनि निकलती है। वृक्ष से विरोजा उपलब्ध होता है। कांटेदार वृक्ष खैर से पान का कत्था उपलब्ध होता है। करौंदा, आखन, बसूटी, झाड़ीबेर तथा रसौंत प्रदाता पौधा कसमल भी चीड़ के वनों में मिलता है। सीढ़ीनुमा खेतों के किनारे च्यूहली (अल्बीजिया स्टिपुलेटा), तुन, गुल्लर, अंजीर के वृक्ष वहुत बड़ी संख्या में होते हैं। ब्यूहल की उपयोगिता इस दृष्टि से है कि इसकी पत्तियाँ, पशुओं का मनभावन आहार है, टहनियों से लेस (रस्सी) निर्मित होती है तथा लेस से बची शाखाएँ रात को 'टार्च' का काम देती हैं।

यह क्षेत्र पक्षियों का तो स्वर्ग है। झील के किनारे बैठ घुघी (स्पाटड डब), पहाड़ी मैना, सुनहरी मैना, पहाड़ी वुलबुल, कोयल, नीलकंठ कठफोड़वा, भूरा तीतर, पहाड़ी भुजंगा, पीलक आदि पक्षियों की क्रीड़ा-लीला का आनन्द लिया जा सकता है। चीड़ के जंगलों में कक्कड़, खरगोश, जंगला बकरी, पैंथर से भी भेंट हो सकती है।

रिवालसर झील से चार कि०मी० ऊपर पहाड़ी पर एक और झील है—'कुंतभयो सर'! जनश्रुति के अनुसार जब पाण्डव इस क्षेत्र में भ्रमण कर रहे थे तो माता कुंती को प्यास ने सताया। अर्जुन ने इसी स्थान पर तीर मारा था और यहां पानी का प्रवाह फूटा था। यहां छह सर और भी हैं। रिवालसर भारतीय संस्कृति—अनेकता

में एकता का मूर्तिमान रूप है।

झीलें-बर्फ का मैदान

हिमाचल की झीलें सौन्दर्य का पर्याय हैं, तो आस्था का केंद्र भी। कहीं इन तक पहुँच पाना अत्यन्त सुगम है, तो कहीं दुर्गम–दुश्वार रास्तों को पार करना होता है। झीलों में नौका विहार आम बात है, परन्तु हिमाचल में ऐसी झीलें भी हैं, जहां स्केटिंग भी सम्भव है। यह बात सुनने में चाहे विचित्र लगे, लेकिन वास्तविकता यही है कि शरद ऋतु में कुछ झीलें बर्फ का मैदान बन जाती हैं, जहां स्केटिंग सुलभ है। लाहौल घाटी तो झीलों की घाटी है ही, कुछ झीलें किन्नौर में भी हैं। लाहौल घाटी तो सर्दियों में छह मास बर्फ से ढकी रहती हैं। यहां छोटी-बड़ी तीस झीलें हैं, जिनमें सूरजताल और चन्द्रताल प्रमुख हैं।

सूरजताल झील

सूरजताल झील बारालाचा दर्रे के नीचे 4697 मीटर की ऊंचाई पर स्थित है। सर्दियों के मौसम में जब तापमान शून्य डिग्री से भी नीचे चला जाता है, तो यह झील जम जाती है। लाहौलवासी इस झील को बहुत पवित्र मानते हैं क्योंकि लोक विश्वास है कि भगवान शिव यहां स्नान किया करते थे। इस झ़ील का नैसर्गिक सौन्दर्य अनुपम है। प्रदूषण का तो यहां प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। यहां पहुँचने के लिए चन्द्रभागा के संगम स्थल तांदी होकर जाना पड़ता है।

चन्द्रताल झील

चन्द्रताल झील कुंजम दर्रे से छह कि०मी० दूर लगभग साढ़े चार हजार मीटर की ऊंचाई पर स्थित है। एक कि०मी० लम्बी तथा आधा कि०मी० चौड़ी यह झील चारों ओर भूरी चट्टानों से घिरी है। सर्दियों में जब यह झील जम जाती है तो यहां बर्फ का मैदान-सा बन जाता है। जिस व्यक्ति को इस स्थिति का ज्ञान न हो, यदि उसे यह वताया जाए कि जहां वह खड़ा है वहां एक झील है, तो वह शायद विश्वास न करे। सच्चाई जान लेने पर उसका रोमांचित होना स्वाभाविक है। झील के चारों ओर की पहाड़ियों पर जमी बर्फ को जब सूर्य रश्मियां स्पर्श करती हैं तो अलौकिक दृश्य उपस्थित हो जाता है। लोक विश्वास है कि इस झील में स्नान मात्र से व्यक्ति की मनोकामनाएं पूरी हो जाती हैं। इस चन्द्रताल को चिनाव नदी का उद्गम स्थल माना जाता है। यहां का पानी कभी गंदला नहीं होता और

इसका रंग गहरा हरा है। दन्तकथाओं के अनुसार कभी परियां यहां स्नान को आया करती थीं।

नाको झील

सीमांत जिला किन्नौर में वैसे तो चार झीलें हैं, परन्तु प्राकृतिक सौन्दर्य की दृष्टि से नाको झील अनुपम है। लगभग चौदह हजार फीट की ऊंचाई पर स्थित, जब यह झील सर्दियों में जम जाती है, तो साहसिक खेलों में रुचि रखने वाले यहां 'स्केटिंग' का शौक पूरा करते हैं।

चन्द्रनाहन झील

शिमला जिला की रोहडू तहसील में समुद्र-तल से 4,267 मीटर की ऊंचाई पर अवस्थित 'चन्द्रनाहन' झील की सर्दियों में हालत अन्य झीलों से अलग नहीं। चंसल चोटी पर स्थित इस झील का स्रोत पंबर नदी है।

दशाहर झील

मनाली की यात्रा रोहतांग दर्रे की यात्रा के बिना अधूरी मानी जाती है। यह दर्रा मनाली से 51 कि०मी० की दूरी पर स्थित है। रोहतांग दर्रे के निकट ही, समुद्र-तल से लगभग साढ़े चार हजार मीटर की ऊंचाई पर दशाहर झील है, जिसे लोग श्रद्धा से 'सूरजकुंड' की संज्ञा भी देते हैं। सर्दियों में झील के जम जाने से शरद ऋतु की खेलें यहां सुलभ हो जाती हैं। प्रति वर्ष बीस भादों को मनाली क्षेत्र के ग्रामीण इस झील पर स्नान और त्यौहार मनाने हेतु इकट्ठे होते हैं।

रोहतांग दर्रे के समीप ही, समुद्र-तल से 4270 मीटर की ऊंचाई पर स्थित यह झील भृगु पर्वत शिखर के नीचे हैं। यहां वशिष्ठ तथा गुलाबा गांवों से पहुँचा जा सकता है। यह झील भी सर्दी के मौसम में जम जाती है और साहसिक खेलों का मार्ग खोल देती है। मनाली-रोहतांग सड़क से पांच कि०मी० नीचे नेहरू कुंड है, जिसमें पानी भृगु झील से पहुँचाया जाता है।

चम्बा की झीलें

चम्बा जिला में समुद्र-तल से क्रमशः 3,657 तथा 3,500 मीटर की ऊंचाई पर महाकाली तथा धड़ासरु झीलें अवस्थित हैं। ये झीलें भी सर्दियों में बर्फ के मैदान में परिवर्तित हो जाती हैं।

बर्फ में जमने वाली इन झीलों के अतिरिक्त भी हिमाचल की कुछ झीलें हैं,

जिनके परिचय के बिना यह गाथा अधूरी रहती है।

खजियार झील : हिमाचल का गुलमर्ग

यह झील डलहौजी से पच्चीस कि०मी० की दूरी पर समुद्र-तल से छह हजार फीट की ऊंचाई पर स्थित है। चंपा नगर से यह पश्चिम में लगभग बीस कि०मी० दूर है। देवदार के विशालकाय वृक्षों से घिरी यह झील एक तश्तरी की तरह दीखती है। हरे-भरे मैदानों के मध्य रची-बसी यह झील प्रकृति का ऐसा उपहार है कि सैलानी अभिभूत होकर इसे 'हिमाचल का गुलमर्ग' कहते हैं। लार्ड कर्जन को यह स्थल अत्यन्त प्रिय था।

मणि महेश झील

चम्बा से 145 कि०मी० दूर जन-जातीय क्षेत्र भरमौर में 13,500 फीट की ऊंचाई पर स्थित यह झील अत्यन्त विख्यात है। इस झील की परिधि लगभग दो सौ मीटर है और यह कैलाश पर्वत के आंचल में अवस्थित है। ऐसी मान्यता है कि भगवान् शिव का निवास यही कैलाश पर्वत है। इसी कारण इस झील के प्रति भक्तजन विशेष आस्था रखते हैं। राधा अष्टमी के दिन इस झील के तट पर भारी मेला लगाता है। यह झील भी सर्दियों में जम जाती है। मणि महेश यात्रा के लिए सहस्रों श्रद्धालु यहां अगस्त-सितम्बर में जुटते हैं। हडसर से सात कि०मी० दूर ढंढी धाम में बुढल नदी के जल-प्रपात का स्नान भी पुण्यकर्म माना जाता है। 'गौरी कुंड' तथा 'शिव करोत्री' क्रमशः महिलाओं तथा पुरुषों के स्नान हेतु चर्चित है।

लमहा डल

नौ झीलों के समूह का नाम है 'लमहा डल'—एक अद्‌भुत दृश्यावली! सात झीलें अण्डाकार आकृति की हैं और इनका क्षेत्र है तीन कि०मी०। चन्द्र झील 1.50 कि०मी० ऊपर है, फिर इसी अन्तर पर है 'नाग झील'। चम्बा-भरमौर मार्ग पर धरबाला से यह 27 कि०मी० है। भगवान् शिव ने यहां से मणि महेश प्रस्थान महाकाली के आग्रह पर किया।

मनियंग छोह (मणि झील)

समुद्र-तल से लगभग साढ़े पन्द्रह हजार फीट की ऊंचाई पर स्थित यह झील स्पिति घाटी में है। झील की परिधि चार कि०मी० के लगभग है। यह झील प्रसिद्ध ताबो मठ से बीस कि०मी० की दूरी पर है और बौद्ध मतावलंबियों की आस्था का

विशेष केंद्र है।

कमरुनाग झील

करसोग घाटी में 'खजानों की झील' के नाम से विख्यात यह झील समुद्र-तल से नौ हजार फीट की ऊंचाई पर स्थित है। सुन्दर नगर से 41 कि०मी० की दूरी पर स्थित 'कमरुनाग' गांव में हर वर्ष जून में मेला लगता है, जिसमें मन्दिर का दर्शन करने सैकड़ों लोग आते हैं। धार्मिक परम्परा का निर्वाह करते हुए वे झील में नगदी तथा आभूषण अर्पित करते हैं। इस झील का धार्मिक महत्त्व है।

डल झील

कांगड़ा की सुरम्य घाटी में स्थित, धर्मशाला, से लगभग दस कि०मी० की दूरी पर देवदार के घने पेड़ों के मध्य सुन्दर अण्डाकार 'झील डल' है। पहले यह झील एक बड़े क्षेत्र में प्रवाहमान थी, परन्तु अब दिन-प्रतिदिन यह क्षेत्र सिकुड़ रहा है। एक किंवदंती के अनुसार कभी इस झील के किनारे भगवान् शिव तपलीन रहे थे। झील के निकट दूवेश्वर महादेव का मन्दिर भी है। इस स्थल पर जन्माष्टमी के पंद्रह दिन बाद एक विशाल मेला आयोजित होता है। इस झील के आगे 'करीरी झील' है, जो गद्दी समुदाय की आस्था की प्रतीक है।

चश्में

हिमाचल प्रदेश में गर्म जल के लगभग दस चश्में हैं, जिनमें तत्ता पानी, मणि कर्ण, वशिष्ठ, कसौल, तत्वाणी, ज्यूरी के चश्में उल्लेखनीय हैं। इनका जल स्वास्थ्यवर्धक है, तो इनके साथ कई धार्मिक आख्यान भी सम्बद्ध हैं। इन्हें देवस्थान भी कहा जाता है।

तत्तापानी

गर्म पानी के चश्मों का एक सुरम्य स्थल तत्ता पानी लगभग 700 मीटर की ऊंचाई पर शिमला एवं मंडी जिला की सीमा को जोड़ती सतलुज नदी के किनारे स्थित है। एक ओर सतलुज नदी का बहता जल अत्यन्त शीतल है, तो दूसरी ओर नदी के तट पर दो सौ मीटर लम्बे क्षेत्र में भूगर्भ से फूटते गर्म जल के स्रोत सामान्यजनों एवं वैज्ञानिकों को आश्चर्यचकित कर देते हैं। यह गर्म पानी सल्फरयुक्त माना गया है। जैसे-जैसे सतलुज नदी में जल प्रवाह बढ़ता जाता है, चश्में अपने आप ही फूटने लगते हैं। इस गर्म जल के स्रोत के साथ कई दन्तकथाएँ जुड़ी हैं,

परन्तु प्रचलित वृत्त श्री परशुराम से ही सम्बन्धित है। लोक विश्वास है कि यह क्षेत्र श्री परशुराम के पिता ऋषि जमदग्नि की तपोभूमि रहा है। एक बार श्री परशुराम ने भ्रमण पर प्रस्थान करते हुए अपने पिता से प्रार्थना की, देवयोग से यदि आप कभी संकटग्रस्त हो जाएँ, तो मुझे स्मरण कीजिए और मैं तत्काल सेवा में उपस्थित हो जाऊँगा। उस समय यह क्षेत्र सुन्नी रियासत के अन्तर्गत था और वहां के नरेश ने बिना कारण ही महर्षि को तंग करना शुरू कर दिया। महर्षि ने परशुराम जी को याद किया। उस समय वह मणि कर्ण (कुल्लू) के चश्मे में स्नान कर रहे थे। उसी अवस्था में वह आकाश मार्ग से अपने पिता के पास पहुँचे और उन्हें संकटमुक्त किया। श्री परशुराम ने यहां अपने वस्त्र निचोड़े ही थे कि यहां भी मणि कर्ण की भांति गर्म पानी के चश्मे फूट पड़े! ऐसी मान्यता है कि यह जल मणि कर्ण का ही है।

वैशाखी तथा लोहड़ी के अवसर पर यहां स्नान हेतु श्रद्धालुओं की भीड़ जुटती है। पहली माघ को भी प्रतिवर्ष यहां भारी मेला आयोजित होता है। प्रदेश के पर्यटन विभाग ने यहां पर्यटकों की सुविधा हेतु सरायों का निर्माण किया है। चश्मे के गर्म पानी को निवासस्थल तक खींच ले जाने की भी व्यवस्था है। जहां पर्यटक इस सुविधाजनक व्यवस्था का स्वागत करते हैं, वहां श्रद्धालु इसे आस्था से छेड़-छाड़ मानते हैं। इस स्थल पर भगवान् शिव, नरसिंह एवं लक्ष्मी नारायण मन्दिर है। कतिपय नव मन्दिरों का भी निर्माण हो रहा है। सतलुज के किनारे संकुचित पर्वतीय मार्ग में शरूर खड्ड से 4.5 कि०मी० दूर, शिव गुफा है, जिसमें 81 शिवलिंग कहे जाते हैं।

तत्तवाणी (कांगड़ा)

तत्तवाणी चश्मा जिला कांगड़ा में बैजनाथ से लगभग 20 कि०मी० की दूरी पर है। यह स्थान 'लूणी' नदी के तट पर है और इसके चारों ओर पर्वतमालाएं हैं। यहां का पानी इतना गर्म है कि यदि कुछ मिनट के लिए ही पोटली में बाँधकर चावल इस गर्म पानी में रखे जाएं तो वे पूरी तरह पक जाएंगे। इस जल में गंधक भी है। निर्जला एकादशी के दिन यहां भारी मेला लगता है, जिसमें दूर-दूर से श्रद्धालु स्नान के लिए आते हैं।

मणि कर्ण (कुल्लू)

कुल्लू जिला की पार्वती घाटी में स्थित मणि कर्ण वह गर्म जल का चश्मा है, जिसे देखने वाले पर्यटकों की संख्या सर्वाधिक होती है। पार्वती नदी के दाहिने छोर

पर स्थित इस चश्मे को लेकर वैज्ञानिक आश्चर्यचकित हैं कि जब पार्वती नदी का जल इतना शीतल है, तो यह गर्म जल कहाँ से और कैसे फूटता है। स्मरण रहे कि यहां गर्म जल फव्वारों के रूप में फूटता है—इसका तापमान 95 डिग्री के लगभग है। ऐसी मान्यता है कि इस जल में स्नान करने से कुछ ही दिनों में ही चर्म रोग तथा गठिया से मुक्ति मिल जाती है।

इस स्रोत के गर्म जल के सम्बन्ध में एक किंवदंती प्रचलित है। कहते हैं कि एक बार भगवान् शिव तथा पार्वती टहलने के लिए आए। उन्हें यह प्राकृतिक परिवेश इतना भा गया कि शिव यहीं तपस्या में लीन हो गए। एकाकीपन से तंग आकर एक दिन देवी पार्वती नदी स्नान करने गई, जब उनके कान के आभूषण की एक दुर्लभ मणि पानी में गिर गई। यह मणि जल के साथ प्रवाहित होकर पाताल लोक में शेषनाग के पास पहुँच गई। इसे खोजने के सभी प्रयास जब असफल रहे, तो देवी, खिन्नमना एक चट्टान पर आसीन हो गई। शिव की समाधि टूटी, समाचार जान, उन्होंने अपने गणों से नदी के चप्पे-चप्पे में खोज करवाई लेकिन सब व्यर्थ। इस पर शिव भगवान् इतने क्रुद्ध हुए कि उनके नेत्रों से निकलने वाली चिंगारियों से समूचा ब्रह्मांड कांप उठा। यही आंच जब पाताल लोक पहुँची तो शेषनाग ने फुंकार भरी, जिससे पानी गर्म हो गया और पृथ्वी के गर्भ से फव्वारे फूट पड़े। इनके जल के साथ देवी पार्वती की मणि बाहर आ गई। लोक विश्वास के अनुसार इसी घटना से स्थान का नाम मणिकर्ण तथा नदी का नाम पार्वती हुआ। तभी से यहां गर्म जल के चश्मे अस्तित्व में हैं। श्रद्धालु इसे भगवान् कृपा मानते हैं तो वैज्ञानिक इसका श्रेय विद्यमान रेडियम को देते हैं। ब्रह्मांड पुराण में इस तीर्थ का नाम 'हरिहर' दिया गया है। उल्लेख है—'अर्द्धनारीश्वर क्षेत्रं सर्वसिद्धि प्रदायकम्।'

यह स्थल हिन्दुओं तथा सिखों के लिए समान रूप से आस्था का केन्द्र है। मान्यता है कि गुरु नानक देव भी यहां पधारे थे और उन्होंने यहां स्नान किया था। यहां एक गुरुद्वारा भी है, जिसके भव्य भवन को पार्वती नदी का स्पर्श प्राप्त है। पहले यहां दो-तीन कमरों वाली गुफा थी। गुरुद्वारे के भूतल में नहाने हेतु बड़े-बड़े कुंड निर्मित हैं, और पास ही फूटती है गर्म जलधारा। समीप ही कुल्लू नरेश जगत सिंह द्वारा 16वीं शती में निर्मित राम मन्दिर है। मन्दिर परिसर में निर्मित स्नानघरों में भी यही गर्म पानी उपलब्ध है।

वशिष्ठ चश्मा (मनाली)

कुल्लू घाटी में मनाली से छह कि०मी० की दूरी पर 'वशिष्ठ' गर्म जल का चश्मा है जिसका तापमान 53 डिग्री सेलिसयस है। इस चश्मे का जल भी स्वास्थ्यवर्धक है। गांव में इस प्रकार के कई चश्मे हैं। वशिष्ठ मन्दिर में भी कुंडों का निर्माण करके महिलाओं एवं पुरुषों के गर्म जल से स्नान की व्यवस्था की गई है। वशिष्ठ सूर्यवंशी महाराजा दशरथ के कुल पुरोहित थे। यहां उनके मन्दिर के साथ-साथ राम मन्दिर का निर्माण स्वाभाविक ही था। ऐसा लोक विश्वास है कि महर्षि वशिष्ठ यह गर्म जल मणि कर्ण से ही लाए थे। यहां के चश्मों में स्नान करने हेतु वर्ष-भर पर्यटकों का आना-जाना लगा रहता है।

मनाली ने 7 कि०मी० की दूरी पर 'क्लाथ' में भी गर्म पानी के चश्मे हैं। यहां पानी का तापमान 25 से 45 डिग्री तक रहता है। इस जल के सेवन से भी अनेक व्याधियों का शमन हो जाता है।

शिमला जिला में ज्यूरी के निकट भी गर्म पानी के चश्मे विद्यमान हैं। ये चश्मे अन्नुनाला (रामपुर बुशहर) के दाहिने छोर पर स्थित हैं। अन्य जल-स्रोतों की भान्ति ये भी श्रद्धालुओं की आस्था के केंद्र हैं।

धर्मशाला (कांगड़ा) से लगभग 28 कि०मी० की दूरी पर भागसूनाथ मन्दिर तथा चश्मा है। इन दोनों के प्रति गद्दी जाति की विशेष आस्था है। यहां यह प्रचलित धारणा है कि इस चश्मे का पानी कैलाश पर्वत की गोदी में स्थित मणि-कर्ण झील से आता है।

□□□

हिमाचल के दुर्ग

हिमालय पर्वत भारत देश का पहरेदार है, इसकी सुरक्षा का अभेद्य दुर्ग रहा है। जिस प्रदेश में ऊंची-ऊंची पर्वत शृंखलाएं हों, वहां भला किलों की क्या जरूरत? यह प्रश्न स्वाभाविक ही है। हिमाचल प्रदेश में अनेक रियासतें थीं। उनके विलय से ही वर्तमान प्रदेश का निर्माण हुआ! ये रियासतें, अपने निहित स्वार्थों के कारण, लगभग संघर्षरत रहतीं, अन्तर्कलह से भी पीड़ित होतीं। एक प्रकार से इनका इतिहास रहा है—गौरवपूर्ण भी, अन्धकारपूर्ण भी! इतिहास होगा, तो इसको रचने वाले स्थल-दुर्ग भी तो होंगे। वास्तव में यही तो वे स्थल थे, जहां युद्ध एवं शान्ति की वार्ता होती, संरक्षण एवं षड्यंत्र की योजनाएँ बनती। इनके साथ अनेक ऐतिहासिक, अनैतिहासिक प्रसंग जुड़े रहते। कला-संस्कृति, धर्म के ये विकास स्थल भी रहे। इसी संदर्भ में उल्लेख है—"They are the amphitheatres where the high dramas of war & peace, intrigues & connivances, loyalties and disloyalties were enacted; they have also been the breeding grounds for culture, religion, art, architecture and literature. Stories, myths and legends have come to be associated with them giving them an added appeal."[1]

दुर्ग मात्र एक घेराबंदी नहीं होता, यह तो शासक की शक्ति का पर्याय होता है। डॉ० अमर सिंह राठौर का कथन अत्यन्त सार्थक है—"आज के विकसित वैज्ञानिक उपादानों के काल में भले ही दुर्गों का महत्त्व तिरोहित हो गया है, किन्तु एक समय था जब ये शासक की शक्ति के पर्याय माने जाते थे। किला मात्र ईंट-पत्थरों से बना विशाल महल अथवा सुरक्षा स्थल नहीं है, अपितु इसके निर्माण की कहानी मानव सभ्यता के क्रमिक विकास के साथ जुड़ी है।[2] दुर्ग के स्वरूप पर इस प्रकार प्रकाश डाला गया है—"Fort is said to be a fortified place, occupied by troups & surrounded with such works as ditch, ram-

---

1. Forts & Palaces of Himachal Pradesh : Himachal Tourism
2. सुजस (विशेषांक) राजस्थान सरकार—जन-सम्पर्क विभाग

part & parapet." इस स्वरूप में सेना की आवश्यकता को ही प्राथमिकता दी गई है।

शुक्र नीति में वर्णित राज्य के सात अंगों में दुर्ग प्रमुख है। 'शुक्र नीति' में ही दुर्ग के नौ प्रकार बताए गए हैं—एरण दुर्ग, पारिख दुर्ग, वन दुर्ग, धन्व दुर्ग, जल दुर्ग, गिरि दुर्ग, सैन्य दुर्ग, पारिध दुर्ग तथा सहाय दुर्ग! एरण दुर्ग कांटों तथा पत्थरों के दुर्गम मार्ग वाला होता है। पारिख दुर्ग के चारों ओर बड़ी खाई निर्मित की जाती है। पारिध दुर्ग के चारों ओर ईंटों, पत्थरों से निर्मित शक्तिशाली परकोटे की व्यवस्था रहती थी। रेतीली भूमि से घिरा दुर्ग 'धन्व दुर्ग' कहलाता था। जिसके चारों ओर जल ही जल हो वह जल दुर्ग पारिभाषित होता। गिरि दुर्ग दुर्गम विशालकाय पर्वतशृखलाओं में निर्मित होता था। सैन्य तथा सहाय दुर्गों में सेना की आवास व्यवस्था तथा व्यूह रचना पर ध्यान केन्द्रित रहता था। इस प्रकार यह सर्वसिद्ध है कि भारत में दुर्ग निर्माण की एक सुनियोजित परम्परा थी। कौटिल्य ने भी इसी परम्परा के सन्दर्भ में दुर्गों के चार प्रकार बताए हैं—औदक, पार्वत, धान्वन एवं वन दुर्ग! मनुस्मृति में दुर्ग वर्गीकरण विषयक उल्लेख है—

सर्वेण प्रयत्नेन गिरि दुर्ग समाश्रयेत्।
एषां ही वाहुगुण्येण गिरि दुर्ग विशिष्यते।।

इस उल्लेख में 'गिरि दुर्ग' को महत्त्व प्रदान किया गया है—इसका मार्ग संकीर्ण, दुर्गम तथा कठिन चढ़ाई पर होता है। याज्ञवल्क्य ने दुर्ग की उपयोगिता सिद्ध करते हुए लिखा है कि इससे न केवल राजा की सुरक्षा होती है, अपितु प्रजा एवं राजकोष भी सुरक्षित रहते हैं। वास्तव में ये दुर्ग विशाल राजप्रासाद ही नहीं होते और न ही केवल स्थापत्य के अनुपम करिश्में, अपितु ये स्थिर राज्य की शक्ति, रणचातुर्य एवं सम्पन्नता के पर्याय होते हैं।

समूचे हिमाचल की बात न भी की जाए, केवल मंडी जनपद में सौ से अधिक किले थे। अधिकांश अब काल का ग्रास बन गए हैं या बन रहे हैं, इनके खण्डहरों में इतिहास तथा परम्पराएं दफन हैं। कुछ किले अब भी ठीक हालत में हैं। सभी किलों का परिचय देना कठिन कार्य है, तथापि विभिन्न क्षेत्रों के महत्त्वपूर्ण दुर्गों की पहचान का प्रयास किया जा रहा है।

कांगड़ा जिला

कांगड़ा का इतिहास महाभारत काल से जुड़ा है। कभी यह शक्तिशाली त्रिगर्त साम्राज्य का भाग था। धौलाधार तथा शिवालिक पर्वत-मालाओं के मध्य स्थित

कांगड़ा अपने नैसर्गिक सौन्दर्य के लिए विख्यात है।

कांगड़ा किला

यह किला नगर से लगभग तीन कि०मी० की दूरी पर स्थित है और इसकी पहचान 'नगरकोट' के रूप में है। इस दुर्ग का ऐतिहासिक महत्त्व है और विशालकाय दुर्ग का स्थापत्य भी अनुपम है। उल्लेख है—"It is mentioned as a lofty fort, strong, invincible & with beautiful buildings'—(Shash Fat'h-i-kangra) मुख्य द्वार पर एक संग्रहालय है, जिसमें 1905 के विनाशक भूकम्प से पूर्व के दुर्ग के दुलर्भ चित्र, मूर्तियां, उच्च-कोटि की पाषाण काष्ठ नक्काशी के नमूने इत्यादि सुरक्षित हैं। किले के सात द्वारों को पार करके, गोल पट्टियों के मार्ग से व्यक्ति ऊपर जाता है तो उसे दुर्ग की प्राचीरों पर उभरी हुई प्रतिमाएं दृष्टिगोचर होती हैं। परकोटे से सुरम्य वादी का दृश्य साकार होता है। यह सब प्राचीन गरिमा का द्योतक एवं साक्षी है। समीप ही भव्य मन्दिर हैं—लक्ष्मी नारायण मन्दिर, अम्बिका मन्दिर तथा आदि नारायण जैन मन्दिर। इन मन्दिरों का स्थापत्य उड़ीसा के मन्दिरों या तमिलनाडु के मीनाक्षी-मदुराई मन्दिरों के स्थापत्य का स्मरण करवाता है, जिसमें व्यापकता तथा भव्यता प्रधान रहती है।

हरिपुर दुर्ग, गुलेर

गुलेर कांगड़ा जिला का सुन्दर सा उप-नगर है। धौलाधार पर्वतमाला की गोदी में बसा यह स्थल हरिपुर दुर्ग के कारण भी विश्रुत है। किले की शक्तिशाली प्राचीरें गुलेर से ही दिखाई देती हैं। तीन दिशाओं में वाणगंगा से सुरक्षित यह दुर्ग विचित्र भी है और भव्य भी। समय की धारा ने किले की नक्काशी पर अपने चिह्न छोड़ दिए हैं। कनिघंम आदि ने अपने यात्रा विवरण में लिखा है कि कभी यह दुर्ग पहाड़ी कला का तीर्थ था। इसकी नक्काशी, मूर्तिकला तथा चित्रकला अनुपम थी। कांगड़ा के राजा हरिचन्द ने किले का निर्माण करवाया था।

कोटला दुर्ग

गुलेर नरेशों द्वारा शाहपुर-नूरपुर राजमार्ग पर, एक निर्जन पर्वत शिखर पर निर्मित यह दुर्ग अपनी ऐतिहासिक पहचान के साथ-साथ चित्ताकर्षक भी है। देवदार के घने जंगल में से किले की चढ़ाई दुर्गम नहीं, अपितु लुभावनी है। प्रवेश द्वार के पास भगवती वगुलामुखी का मन्दिर है जिसमें देवी की भव्य प्रतिमा है। समीप ही गणपति जी का मन्दिर है, जिसकी छत गोलाकार है और वंगाल स्थापत्य

का स्वरूप है। मन्दिर में गणपति महाराज की प्रतिमा भी अनुपम है। मन्दिर की बाहरी दीवारों का अलंकरण भित्ति-चित्रों से हुआ है। महराबों की तराशी-नक्काशी एवं चित्रकारी भी विशिष्ट है। एक दीवार जो भग्नावस्था में है, अपने महरावों तथा ताखों के सुरक्षित स्वरूप से, इस दुर्ग के भव्य स्वरूप का बोध करवाती है। इस दुर्ग के पुनरुद्धार की योजना की पूर्ति के प्रयास चल रहे हैं।

तारागढ़ महल

कांगड़ा दुर्ग को कांगड़ा जिला का मुकुट कहा गया है और इस स्थिति में तारागढ़ प्रासाद को मुकुट-मणि का सम्मान देना उचित ही होगा। पालमपुर तथा बैजनाथ के मध्य पन्द्रह एकड़ क्षेत्र का यह प्रासाद भव्य स्थापत्य एवं कलात्मक अभिरुचि का उत्कृष्ट नमूना है। यह नवाब बहावलपुर सर सादिक मुहम्मद खां अब्बासी का व्यक्तिगत ग्रीष्मकालीन आवास रहा। 1931 में निर्मित यह प्रासाद जब 1950 में कश्मीर के शासक श्री हरिसिंह की पत्नी महारानी तारा देवी के स्वामित्व में आया, तो इसका नामकरण 'तारागढ़' हुआ। इनके सुपुत्र डॉ० कर्णसिंह ने, 1967 में अपनी माता के देहावसान पर, इस सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बन, 1971 में इसे 'हैरिटेज होटल' का रूप प्रदान कर दिया। महल की आन्तरिक सज्जा पारिवारिक चित्रों, कलात्मक वस्तुओं तथा अन्य प्रसाधनों से इस प्रकार हुई है मानो इतिहास तथा राजा-महाराजाओं की शानो-शौकत जीवन्त एवं मूर्तिमान हो उठी हो। बहुत पहले फिल्म जगत की भी इस सुरम्य स्थल के प्रति रुचि देखने को मिली, जब श्री जुगल किशोर की फिल्म 'लाल बंगला' का यहां फिल्मांकन हुआ। इस प्रासाद में एक ओर ऐश्वर्य का वातावरण है तो दूसरी ओर घरेलूपन की अनुभूति। शायद इसका कारण यह हो कि राजप्रासाद शक्ति का केन्द्र न होकर, एक सुखदायक आरामगाह के रूप में उपयोग में आया हो।

नूरपुर दुर्ग

सोलहवीं शती में राजा बसु द्वारा निर्मित नूरपुर दुर्ग आकार एवं क्षेत्र में विशाल तो है ही, इसका स्थापत्य भी अनुपम है। किले से जभार खड्ड तथा दूर-दूर फैली वादी का सुरम्य दृश्य मनभावन लगता है। पहले नूरपुर को धमेरी की संज्ञा प्राप्त थी, परन्तु जब सम्राज्ञी नूरजहां इस नैसर्गिक सौन्दर्य पर मुग्ध हो गई, तो नामकरण हो गया नूरपुर! दुर्ग के भीतर, यद्यपि इसकी प्राचीरें दम तोड़ रही हैं, तथापि महरावें, ताखें तथा भित्ति-चित्र गौरवपूर्ण अतीत के साक्षी हैं। उत्तर-पश्चिम

की दीवारों के फलकों पर पशुओं की कलात्मक झांकियां हैं—बैल विविध रूपों—मुद्राओं में हैं—छकड़ा खींचते हुए, पंक्तियों में चलते हुए इत्यादि! फलकों में पुरुष, महिलाएँ, बच्चे, सम्राट, देवी-देवता, पक्षी भी सुन्दर ढंग से प्रदर्शित हैं। किला अपने निर्माण तथा अपनी सम्पदा से आश्चर्यचकित कर देता है। महल के अन्दर श्रीकृष्ण का 'वृज महाराज मन्दिर' है। राजा जगतसिंह के शासनकाल में भगवान् की श्यामल पाषाण प्रतिमा जयपुर से लाई गई थी। मन्दिर की दीवारों पर पौराणिक वृत्तों पर आधारित भित्ति-चित्र विद्यमान है।

जसवां राजघराने की राजकुमारी, जिसने लुटेरों के विरुद्ध संघर्ष किया था, उसके नाम पर स्थापित परागपुर भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं, क्योंकि इसे 'सांस्कृतिक विरासत' के रूप में अपनाया गया है।

हमीरपुर जिला

समुद्र-तल से 785 मीटर की ऊंचाई पर अवस्थित हमीरपुर 1972 तक कांगड़ा का भाग था। इसका सम्बन्ध कटोचवंश से रहा है।

सुजानपुर टीरा दुर्ग

सुजानपुर टीरा का यह किला हमीरपुर से 22 कि०मी० की दूरी पर है। यह ऐतिहासिक नगर कटोचवंशी राजा अभयचन्द द्वारा 1948 में स्थापित किया गया था और दुर्ग निर्माण कार्य 1758 में हुआ। दुर्ग का प्रवेश द्वार सुसज्जित तथा चित्ताकर्षक है। दीवारों के भित्ति-चित्र अब धुंधला गए हैं। इस दो मंजिलें भवन में बड़े-बड़े कमरे, महराबें तथा ताखें हैं। दायीं और बारह दरी है, जहां नरेश अपना दरबार लगाते थे। इस राज प्रासाद की 1905 में भूकंप से और बाद में अग्नि से बहुत क्षति हुई।

सुजानपुर टीरा अपने पांच मन्दिरों के कारण प्रसिद्ध है, जिनमें से गौरी-शंकर मन्दिर दुर्ग परिसर में ही है। इस मन्दिर का निर्माण 1804 में राजा संसारचंद ने करवाया था। इसके भित्ति-चित्र व्यवस्थित ढंग से निर्मित है और अभी तक आभावान है। मन्दिर के भीतर-बाहर बेल-बूटों, शिव-पार्वती, गणेश, देवताओं और मानवों की आकृतियों से शृंगार किया गया है।

मंडी जिला

मंडी जिला पूर्व मंडी तथा सुकेत रियासतों के विलय से अस्तित्व में आया और

यह इस प्रदेश का दूसरा बहुसंख्यक जिला है। इसमें 81 के लगभग भव्य देवालय है, जिस कारण इसे 'पर्वतीय क्षेत्र की काशी' का सम्मान प्राप्त है। मंडी तो एक प्रकार से 'सुकेत' का एक भाग थी। सुकेत की स्थापना वीर सेन द्वारा की गई, जिसका आगमन सातवीं शती में बंगाल से हुआ। उसने पंगना के स्थान पर किलानुमा प्रासाद निर्मित करवाया।

पंगना दुर्ग-प्रासाद

पंगना किला, पचास फीट के पाषाण मंच पर निर्मित, मीनारनुमा निर्माण है। इसके दोनों ओर छोटा-सा गांव बसा है। यह निर्माण सात मंजिला है और इसका सामायिक महत्त्व रहा है। इस भवन की ऊंचाई केवल साठ फीट है और और इसका निर्माण लकड़ी तथा पत्थर से पहाड़ी शैली में हुआ है। लकड़ी की नक्काशी सुन्दर है। इस दुर्ग-प्रासाद में दो घटनाएँ घटित हुईं—एक तो यहां एक मूर्ति निकली और दूसरी घटना झूठे आरोपों के आधार पर एक राजकुमारी को बन्दी बनाना। इन्हीं घटनाओं के कारण शासकों ने इस दुर्ग प्रासाद का परित्याग कर दिया। दुर्ग के मध्य में महामाया का मन्दिर भी स्थित है।

कमलाह दुर्ग

कमलाह दुर्ग, वास्तव में छह किलों—कमलाह, चॉकी, पद्मपुर, शमशेरपुर आदि का समूह है, जो समुद्र-तल से 4772 फीट की ऊंचाई पर निर्मित है। दुर्ग का नामकरण स्थानीय सन्त, कमलाह बाबा के नाम पर हुआ और यह दुर्ग सिकन्दर धार की नोकीली चट्टानों पर निर्मित है। राजा हरिसेन ने, उस स्थल के सामरिक महत्त्व को दृष्टि में रखते हुए 1625 के लगभग दुर्ग का निर्माण कार्य शुरू करवाया और उसके पुत्र सूर्यसेन ने यह निर्माण पूरा करवा इसे दृढ़ता प्रदान की। दुर्ग का मुख्य प्रवेश एंक प्रकार का भंवरजाल है। काफी समय तक यह दुर्ग अजेय रहा। 1840 में इसे महाराजा रणजीत सिंह के सैन्याधिकारी ने अपने अधिकार में ले लिया, परन्तु 1846 में उसे मंडी के शासकों को लौटा दिया गया। यह दुर्ग सरकाघाट जोगेन्द्र नगर मार्ग पर (वाया धर्मपुर सड़क) मंडी से लगभग 80 कि०मी० दूरी पर स्थित है।

किन्नौर जिला

किन्नौर भारत-तिब्बत सीमा पर स्थित है। तिब्बत इसके पूर्व में फैला है। यह

समूचा पर्वतीय क्षेत्र है और वह भी बुलंदी पर स्थित, जिस कारण इस वादी में कठिनाई से इधर-उधर 77 गांव बसे होंगे। इसका विस्तार 80 कि०मी० लम्बाई तथा 65 कि०मी० चौड़ाई में है। क्षेत्र का सम्बन्ध वैदिक युग से जोड़ा जाता है।

कामरू दुर्ग

सांगला तहसील के कामरू गांव में स्थित इस दुर्ग के निर्माता देव पुराण माने जाते हैं। 55 फीट के पाषाण मंच पर यह पंच-मंजिला मीनारनुमा दुर्ग बड़ी शान से खड़ा है। यह एक वर्गाकार उन्नत ढांचा है जिसका निर्माण गढ़े हुए पाषाण खण्डों से हुआ है, जिन्हें लकड़ी की धरन से जोड़ा गया है। सर्वोच्च मंजिल पर लकड़ी के दो बारामदे हैं, जिनका शृंगार लकड़ी की नक्काशी से हुआ है। यहां एक काष्ठ मन्दिर भी है जिसकी छत नोकीली है।

लवरंग दुर्ग

लवरंग गांव में काफी ऊंचाई पर स्थित यह दुर्ग किन्नौर के सभी किलों से ऊंचा है। इसका निर्माण काल विदित नहीं परन्तु लोकमत इसका सम्बन्धों पाण्डवों से जोड़ता है। मुख्य दुर्ग पच्चीस फीट की पाषाण नींव पर स्थित है। इसकी कभी आठ मंजिलें थीं, परन्तु अब केवल पांच ही शेष हैं, छटी आधी टूट चुकी है। ऊपर वाली मंजिल से एक लोहे की जंजीर लटक रही है, जिसका एक सिरा दुर्ग के काष्ठ द्वार से बंधा है।

मोरंग दुर्ग

यह दुर्ग सपनी गांव में अवस्थित है। यह दुर्ग एक विशालकाय निर्माण के रूप में है, जिसमें दो भवनों का एकीकरण हुआ है। मुख्य मीनार पुराना है और इसमें सात मंजिलें हैं, पांचवीं मंजिल पर देवी काली का मन्दिर है। रामपुर के राजा पद्मसिंह ने आगे वाले भाग का निर्माण करवाया। इसमें खिड़कियों, दरवाजों पर लकड़ी का काम अत्युत्तम है। इस क्षेत्र में होने वाली वर्षा तथा मौसम ने काष्ठ-नक्काशी को काफी नुकसान पहुँचाया है। किन्नौर के इन दुर्गों तक पैदल ही पहुँचाना सम्भव है।

कुल्लू जिला

कुल्लू पर्यटकों के आकर्षण का केन्द्र है, विश्वविख्यात मनाली जो समीप है। इसका प्राचीन नाम था—कुलांत पीठ—निवास योग्य स्थान का अन्त। पीर-पंजाल

पर्वत-माला के कारण शायद यहां किलों की आवश्यकता नहीं समझी गई।

नग्गर दुर्ग

नग्गर दुर्ग, मनाली से 23 कि०मी० की दूरी पर, समुद्र-तल से 5600 फीट की ऊंचाई पर व्यास नदी के तट पर स्थित है। यह दुर्ग, जो पहाड़ी वास्तुशिल्प का अन्यतम उदाहरण है, अपनी 42 इंच चौड़ी दीवारों के साथ इतना सशक्त निर्माण है कि 1905 का भीषणतम भूकम्प भी इसे कोई क्षति नहीं पहुँचा सका। इस दुर्ग के निमर्पण में पत्थरों और लकड़ी के लट्ठों का प्रयोग अद्भुत ढंग से हुआ है। इसी संदर्भ में उल्लेख है—"The Naggar castle is a huge timber bound structure built in the style indigenous to the western Himalayas, in which huge logs & stones are placed alternately, with the stones bound together by mud. The deoder or space beams are placed horizentally & inlaid with stones. The roof is slanting & has icicle-like wooden hangings in decoration."[1]

नग्गर विषयक दंतकथाएं, इसका इतिहास, इसका स्थापत्य, इसके मन्दिर और इसका सुरम्य परिवेश—सब मिलकर इसे कुल्लू-मनाली की पहाड़ी संस्कृति का पर्याय बना देती है। 1660 में नग्गर की राजधानी सुलतानपुर (वर्तमान कुल्लू) कर दी गई थी। हिमाचल गजेंट के अनुसार पांच शती पूर्व राजा सिद्ध सिंह ने नग्गर दुर्ग का निर्माण करवाया था। एक उपाख्यान के अनुसार समीपस्थ स्थल पर एक क्रूर राजा भोंसाल के ध्वस्त महल का खण्डहर बारागांओं के नीचे था। राजा सिद्ध सिंह ने सहस्त्रों मजदूरों की सहायता से ध्वस्त दुर्ग के पत्थर वहां से उठवाकर नग्गर पहुंचवाए! इस प्रकार पहाड़ी वास्तुशिल्प का यह अद्भुत नमूना नग्गर दुर्ग निर्मित हुआ। रोशनी जोहर का स्थापत्य सम्बन्धी उल्लेख अत्यन्त सार्थक है।—"It stands to day as an architectural marvel in stone & bonded timer, also containing woodcarvings of blue pine & spruce."[2]

यह दुर्ग दो आंगनों में विभाजित है! एक के आसपास कमरे हैं तथा दूसरे में 'जगाती पत' मन्दिर है। इस मन्दिर सम्बन्धी एक उपाख्यान में बताया गया है कि ऐसा निर्देश था कि नग्गर को संसार के देवी-देवताओं का धार्मिक केन्द्र बनाया जाए। इस कार्य हेतु सभी देवी-देवताओं ने अपने को मधुमक्खियों का रूप दे

---

1. Forts & Palaces of Himachal Pradesh : Himachal Tourism
2. The Tribune (July, 30, 2006) : Roshni Johar

दिया। अपनी असाधारण शक्तियों के साथ ये भृगु-तुंग पर्वत से 'जगाती पत' चिह्न से चिह्नित बड़ी-बड़ी शिलाएं उठा लाईं। इस प्रकार मन्दिर निर्मित हुआ। स्थानीय देवी-देवता यहां पर वार्षिक धार्मिक दरबार लगाते हैं और उन्हें अपने कष्टों तथा प्राकृतिक आपदाओं से त्राण मिलता है।

राजा ज्ञान सिंह ने एक राईफल के बदले यह ऐतिहासिक दुर्ग मेजर हेय, कुल्लू के प्रथम सहायक कमिश्नर, को सौंप दिया था। उसने यह पंजाब सरकार को बेच डाला। 1978 में हिमाचल प्रदेश पर्यटन निगम ने इसे 'हेरिटेज होटल' का रूप दे दिया। इस होटल की सबसे निचली मंजिल में एक संग्रहालय स्थापित है, जिसमें प्रदेश की कला एवं शिल्प उत्पाद, पट, शाल, दरियां, नगारे, पारम्परिक परिधान में देवी-देवताओं की मूर्तियां आदि प्रदेश की कलात्मक-सांस्कृतिक झाँकी प्रस्तुत करती हैं।

लाहौल तथा स्पीति

प्रदेश का यह जिला शेष भाग से अलग-सा ही है क्योंकि अधिकतर यहां बर्फवारी ही होती रहती है।

गोंधला दुर्ग

लाहौल का एकमात्र किला गोंधला है, जिसका निर्माण कुल्लू नरेश रामसिंह ने 1700 में करवाया था। मीनार वास्तु शिल्प का यह प्रतीक केवल काष्ठ निर्मित है। इसके सामने चन्द्रा नदी है! इस निर्माण की आठ मंजिलें हैं—सात में तो कमरे हैं, और आठवीं मंजिल पर लकड़ी का बरामदा जो भवन के चारों ओर जाता है। सीढ़ियां आंशिक रूप से दांतेदार लकड़ी की हैं। भवन में कई कक्ष हैं, जिनमें सौ व्यक्ति सुविधापूर्वक समा सकते हैं। दुर्ग में धनुष-बाण, बंदूकें, तोपें, पुराने परिधान फर्नीचर, मूर्तियाँ आदि पुरानी ऐतिहासिक महत्त्व की वस्तुएं हैं। एक महत्त्वपूर्ण विरासत है 'शराब रलदी'—शराब का भाव है प्रज्ञा तथा 'रलदी' से अभिप्राय 'खड्ग' संस्कृत में इसे 'प्रज्ञा खड्ग' सम्बोधन प्राप्त है। इसकी प्रासंगिकता इस दृष्टि से है कि तिब्बतियों में इसे 'मंजुश्री' का आयुध माना जाता है।

सोलन जिला

मलाउं दुर्ग : यह दुर्ग सोलन जिला का 'गोरखा फोर्ट' है, परन्तु यहां बिलासपुर से सुविधापूर्वक पहुंचा जा सकता है। यह दुर्ग काफी ऊँचे स्थित है और

वहां से 'ट्रेकिंग' का भरपूर आनन्द लिया जा सकता है। लगभग दो बीघा क्षेत्र में फैले इस दुर्ग के दोनों ओर सुरक्षात्मक निगरानी हेतु मीनार निर्मित हैं। परिसर में काली मां का मन्दिर है। इस सामान्य मन्दिर का विशेष आकर्षण मयूर-आकार आधार है। श्री हनुमान, भैरव देव तथा अन्य देवताओं की प्रतिमाएं शासक के समय की हैं। यहां का इतिहास काफी संघर्षपूर्ण रहा। अंग्रेजों ने लौहार घाट के भीषण संघर्ष में यह किला गोरखों से छीन लिया। युद्ध में प्रयुक्त तोपें इस समय गोरखा ट्रेनिंग सेंटर, सुबाथु के संग्रहालय में विद्यमान हैं।

सुबाथु में भी गोरखाओं का एक लघु किला है। इस किले की ऊंचाई कम है। यहां पहुँचना सुगम है। मन्दिर तक पहुंचने के लिए सीमेंट की सीढ़ियाँ हैं।

राज-प्रासाद

हिमाचल प्रदेश में अनेकानेक दुर्गों का निर्माण सामरिक एवं सुरक्षात्मक दृष्टि से हुआ। दुर्ग-प्रासादों की संख्या भी कम नहीं। इनमें सुरक्षा व्यवस्था थी, राज-परिवार की आरामदायक आवासीय व्यवस्था और पूजा-स्थल भी। अनेक प्रासाद नरेशों के ऐशो-आराम, आमोद-प्रमोद के लिए भी निर्मित हुए, जो तात्कालीन वास्तु शिल्प के नमूने तो हैं, परन्तु इनमें नरेशों का ऐश्वर्य तथा उनकी विलासिता अधिक झलकती है। महाराजा पटियाला का ग्रीष्माकालीन आवास रहा 'चायल प्रासाद' योरुपियन स्थापत्य का सुन्दर नमूना है। यह भव्य भवन है, जिसके साथ कुटियाएं भी हैं। सुबाथु से कुनिहार-नालागढ़ सड़क पर ग्यारह कि०मी० की दूरी पर स्थित कुठार दुर्ग-प्रासाद राजस्थानी स्थापत्य में निर्मित है। यह चित्रकला के लिए प्रख्यात है। अरकी सोलन प्रासाद सुरम्य परिवेश तथा सादा स्थापत्य एवं अनुपम चित्रकला सम्पदा के लिए विख्यात है। भव्य नालागढ़ प्रासाद अब हेरिटेज होटल का रूप ले चुका है। धामी प्रासाद (शिमला) पहाड़ी कला का प्रतीक है। देवरी खनेती दुर्ग—प्रासाद लगभग पांच सौ वर्ष पुराना और चट्टान पर निर्मित है। कोटखाई प्रासाद अपने ही ढंग का भव्य स्वदेशी निर्माण है। जुब्बल प्रासाद एक चित्ताकर्षक भवन है। इसका मुख्य प्रवेश द्वार 18 फीट ऊंचा तथा आठ फीट चौड़ा है, जिस पर तांबा जड़ा है। प्रदेश की परम्परा अनुसार इस पर सिक्कों से शृंगार है। सुरम्यता के साथ-साथ प्रासाद का एक अन्य आकर्षण है इसमें स्थित पुस्तकालय, जिसमें संस्कृत तथा फारसी के बहुमूल्य ग्रन्थ हैं। जुंगा प्रासाद (क्योंथल रियासत) भी दर्शनीय रहे हैं। सुन्नी प्रासाद पिरामिड की भान्ति है, जिसके स्थापत्य में पहाड़ी तथा विदेशी शैली का सम्मिश्रण है। रामपुर के पद्म

प्रासाद का निर्माण 1917 में राजा पद्मदेव सिंह ने करवाया था। यह राज प्रासाद अपनी विशालता, सुव्यवस्थित उद्यानों, वृक्ष-सम्पन्नता, स्वच्छता तथा शान्त परिवेश के कारण अनुपम है। इसके स्थापत्य में भारतीय तथा योरुपियन शैली के सम्मिश्रण का निखार है। शीशे का काम तथा काष्ठ-नक्काशी भी अनुपम है। सराहन प्रासाद (शान्ति कुंज), नाहन के प्रासाद, रंज़ोर प्रासाद तथा किसी योरुपियन भवन का पर्याय रण विजय प्रासाद भी इसी शृंखला के अंतर्गत हैं। अखंड चण्डी प्रासाद, चम्बा बहुचर्चित है। जंद्रीघाट प्रासाद (डलहौजी) अपने ढंग का योरुपियन दो मंजिला बंगला है, जिसमें कतिपय पुरातन चित्रकला नमूने सुरक्षित हैं।

बिलासपुर जिला

बिलासपुर में आठ दुर्ग हैं, जिन्हें वास्तव में पहाड़ की चोटियों पर स्थित निगरान-चौकियों का रूप माना जा सकता है। 'ट्रैकिंग' के लिए यह क्षेत्र उपयोगी है।

त्योन दुर्ग

चौदह हेक्टेयर क्षेत्र में विस्तृत यह प्राचीन दुर्ग बिलासपुर से 55 कि०मी० की दूरी पर स्थित है। दुर्ग के निर्माण काल के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कह पाना कठिन है। दुर्ग के अन्दर जड़े एक पत्थर में अंकित तिथि-वर्ष 1142 है। यदि इसे विक्रमी संवत् मान लिया जाए, तो यह दुर्ग नौ सौ वर्ष पुराना माना जाएगा। भग्नावस्था को प्राप्त इस दुर्ग के अवशेषों से इसके स्थापत्य की सामान्य-सी झलक मिल पाती है। यह दुर्ग आयताकार रहा होगा। (400 मीटर लम्बा 200 मीटर चौड़ा) और इसके निर्माण में हथौड़े-छैनी से घड़े पत्थरों का प्रयोग हुआ। पश्चिम की ओर तीन मीटर ऊंचा तथा 5.5 मीटर चौड़ा प्रमुख प्रवेश-द्वार था। दो वर्ग मीटर आकार के विद्यमान ढांचे से संकेत मिलता है कि भीतर अनेक कक्ष थे। यह ढांचा शायद जेल कक्ष था। (मलौण दुर्ग की तरह) जिसमें विद्रोही रखे जाते थे। दुर्ग परिसर में एक शक्ति मन्दिर भी था। यहां एक शिव मन्दिर का भी खण्डहर है। दुर्ग में जल-संग्रह की व्यवस्था थी। दुर्ग की प्राचीरें शत्रु का सामना करने में सक्षम रही होंगी, इनमें मोर्चों के लिए छिद्र हैं। दुर्ग का सामरिक तथा आवासीय दृष्टि से निर्माण हुआ। यही परम्परा राजस्थान में भी थी।

सरियुन दुर्ग

बिलासपुर से 58 कि०मी० की दूरी पर घुमारवीं की ओर 1500 मीटर की

ऊंचाई पर स्थित इस पहाड़ी दुर्ग का भी इतिहास है। राजा महान चन्द, जब अवयस्क थे, उनकी सुरक्षा में दुर्ग की सराहनीय भूमिका रही। आयताकार पत्थरों से निर्मित दुर्ग की दीवार एक मीटर मोटी थी। दीवारों के छिद्रों से शत्रुओं पर बन्दूकों का निशाना होता था। दुर्ग में पन्द्रह कक्ष थे और इसका मुख्य द्वार पश्चिम में था। जनश्रुति के अनुसार किले का निर्माण सुकेत के किसी शासक ने करवाया था। कहलूर के शासक ने इसे जीतकर अपने अधीन कर लिया।

रत्नपुर दुर्ग

स्वारघाट-बिलासपुर मार्ग पर बिलासपुर से 27 कि०मी० दूर यह किला सुमद्र-तल से चार हजार फीट की ऊंचाई पर खुई गांव की चोटी पर स्थित है। यह दुर्ग मलौण के ठीक सामने है। फरवरी 1815 के गोरखा युद्ध में इस दुर्ग की विशेष भूमिका थी। थार्टन नामक अंग्रेज ने इस तथ्य को स्वीकार करते हुए कहा था कि यह सुदृढ़ दुर्ग मलौण लड़ाई में बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ। यह वर्गाकार किला 50 मीटर लम्बी तथा बीस मीटर ऊंची दीवार पर गोलियों के निशान झेलते हुए भी, आज अपनी उपेक्षा पर अश्रुपात कर रहा है। राजा अमरचन्द ने अपने कार्यकाल (1883-88) में इसका यथासम्भव जीर्णोद्धार करवाया। कहा जाता है कि बिलासपुर रियासत में इस किले का उपयोग कारागार के रूप में भी होता रहा।

कोट कहलूर दुर्ग

यह दुर्ग गंगुवाल (पंजाब) से तीन कि०मी० की दूरी पर बिलासपुर सीमा पर स्थित है। लगभग 1250 वर्ष पूर्व कहलूर रियासत के संस्थापक राजा वीरचन्द ने यह दुर्ग-प्रसाद निर्मित करवाया था। इस किले के साथ काहलू नामक गुज्जर का नाम जुड़ा है। शायद इसी कारण दुर्ग का यह नामकरण हो गया। दुर्ग की लम्बाई तथा ऊंचाई—दोनों तीस मीटर है। दीवार दो मीटर मोटी है। दो मंजिला इस दुर्ग की प्रथम मंजिल की छत बड़े पत्थरों पर टिकी है और यह पन्द्रह मीटर ऊंची है। ऊपर की मंजिल में बारह कक्ष हैं। दुर्ग में भगवती नैणा देवी का मन्दिर है, जिसमें देवी की प्रस्तर प्रतिमा है।

फतहगढ़ दुर्ग

बिलासपुर नगर से 45 कि०मी० तथा स्वार घाट से तीन कि०मी० दूर यह किला पहाड़ी पर स्थित है। किले का निर्माण समतल पहाड़ी पर हुआ है और इससे

नीचे फैली विस्तृत वादी तथा क्षेत्र के अन्य किलों की स्पष्ट झांकी मिल जाती है। किले का निर्माण कब और किसने करवाया, यह निश्चित नहीं। लगभग 150 वर्ष पूर्व इस किले में बिलासपुर राज्य के रक्षा-दस्ते रहते थे। किले से प्राप्त पांच देवताओं की प्रतिमाएं तथा विशाल भण्डारण-वर्तन इस समय बिलासपुर संग्रहालय में सुरक्षित है।

बसेह दुर्ग

बछरेटु से छह कि०मी० दूर इस दुर्ग का निर्माण चौदहवीं शती में राजा रत्नचन्द के काल में हुआ। यह एक फीट मोटी दीवार का आयताकार दुर्ग है। किले का आकार 200-50 मीटर था और यहां जल संग्रह हेतु टैंक निर्मित था।

बछरेटु दुर्ग

बिलासपुर से 62 कि०मी० तथा घुमारवी से 32 कि०मी० दूर यह दुर्ग भाखड़ा मार्ग पर बछरेटु गांव में स्थित है। बिलासपुर नरेश श्री रत्नचन्द ने 600 वर्ष पूर्व यह दुर्ग निर्मित करवाया था। 150 मीटर लम्बे तथा 50 मीटर चौड़े इस किले में 15 कक्ष थे। दो भूमिगत कक्षों में रक्षा टुकड़ियों का अन्न-भण्डार था। अब ये कक्ष मलवे के नीचे दबे पड़े हैं। किले में जल-भण्डार की भी व्यवस्था थी। देवी अष्टभुजा का यहां एक मन्दिर भी था। अब किले की कुछ दीवारें शेष हैं। निर्माण खण्डहर में बदल चुका है।

छंजियारा दुर्ग

बरठीं (बिलासपुर) से छह कि०मी० की दूरी पर स्थित इस दुर्ग का निर्माण राजा महाचन्द ने 1795 में करवाया था। अब इस दुर्ग का कोई अवशेष भी उपलब्ध नहीं।

इस प्रकार इतिहास के साक्षी इन अधिकांश किलों का अस्तित्व ही मिटता जा रहा है।

□□□

हिमाचल के कबीले—जनजातियां

हिमाचल प्रदेश में किन्नौर, लाहौल, कुल्लू, चम्बा-पांगी आदिम क्षेत्र हैं। इन क्षेत्रों में निवास कर रही आदिम जातियों में अब भी प्रागैतिहासिक कालीन सामाजिक तथा सांस्कृतिक मान्यताओं एवं परम्पराओं के दर्शन होते हैं। इन जातियों की चर्चा किसी-न-किसी रूप में इतिहास एवं पुराण साहित्य में हुई है। आदिम जातियों में किन्नोरे, लाहौले, पंगवाले, गद्दी, गुज्जर, बोध, खंपा तथा स्वांगले लोग आते हैं। कतिपय जातियों के नाम उनके निवास स्थल से सम्बन्धित हैं। इन जातियों की निजी मान्यताएं तथा परम्पराएं हैं। धार्मिक आस्थाओं, गीत-संगीत, नृत्य शैली में भी इनकी पहचान निहित है! ये लोग मुख्य रूप से घुमक्कड़ प्रकृति के है, परन्तु प्रकृति के संसर्ग ने इन्हें सरल-सहज, सहृद, रंगीला तथा अतिथि-सत्कार करने वाला बना दिया है। जीवन में गति है तो साहस एवं कठिन परिश्रम जीवन का आधार! वैज्ञानिक युगीन सभ्यता में भी इनके संस्कारों, परम्पराओं एवं व्यवहारगत नियमों को विकृत या प्रदूषित करने की क्षमता नहीं। आदिम जनजातियों एवं कबीलों का यहां संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है।

किन्नोरे

किन्नौर जिला, जो पहले किन्नर प्रदेश के नाम से ज्ञात रहा, वहां के निवासी किन्नर थे। कालान्तर में किन्नर का अपभ्रंश रूप हो गया, 'किन्नौरा'। इस जाति का उल्लेख वेदों, पुराणों, बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों में उपलब्ध है। इनका आधुनिक स्वरूप पुरातन उल्लेखों से भिन्न है। लावण्य एवं आकृति—स्वस्थ शरीर, लम्बा कद, गौर वर्ण, विशाल नेत्र—ये सभी चिह्न इन्हें आर्य परम्परा से जोड़ने में सक्षम हैं। किन्नर जाति की महिलाएं, चाहे मैले-कुचैले वस्त्रों में क्यों न हों, सौन्दर्य एवं आकर्षण की प्रतिमूर्ति भासती हैं। ये लोग मृदुभाषी, गाने-बजाने-नाचने के शौकीन होते हैं। मदिरापान तथा मांस के व्यसन से ये मुक्त नहीं होते। महिलाएं मदिरापान नहीं करतीं। इनकी विवाह पद्धति को 'पाण्डव विवाह' नाम दिया गया है, जिसका भाव है कि यहां बहु पति-प्रथा प्रचलित है। इसी कारण बहुत-सी कन्याएं

अविवाहित ही रह जाती हैं। शिक्षा के प्रचार-प्रसार से अब स्थिति में परिवर्तन हो रहा है। प्रत्येक परिवार में एक लड़का तथा एक लड़की आजन्म अविवाहित रह धर्मसेवा को समर्पित हो जाते हैं। किन्नौरी भाषा में इन्हें 'लामा' या 'जोमी' का सम्बोधन प्राप्त है। दरिद्रता तथा भौतिक असुविधाएं भी इनके जीवन की गति, मौज-मस्ती को रोक नहीं पाती।

स्वांगले

इस जाति का निवास स्थल लाहौल-स्पीति की पाटन घाटी है। इस जाति को यहां का मूल निवासी नहीं माना जाता। श्री ठाकुरसेन नेगा की स्थापना है—"ये लोग जम्मू, किश्तवाड़, कश्मीर आदि क्षेत्रों से यहां आए हैं और ब्राह्मण हैं। अतः यह जाति स्वयं को अन्य लोगों से श्रेष्ठ मानती है।"[1] इस जाति का मुख्य व्यवसाय कृषि है। धार्मिक दृष्टि से ये लोग शैव हैं, इनमें शिवलिंग तथा नागपूजा का प्रचलन है। इनमें संयुक्त परिवार पद्धति प्रचलित है। बहुपति प्रथा भी है—दो भाइयों की आमतौर पर एक पत्नी होती है! यह तथ्य आश्चर्यचकित करने वाला होगा कि एक परिवार एक सौ पन्द्रह सदस्यों का है, सदस्य भिन्न-भिन्न स्थानों पर विभिन्न व्यवसायों में कार्यरत हैं। एक परिवार में आठ से इक्कीस तक सदस्य संख्या आम बात है! इनकी भाषा 'स्वांग' है और वेशभूषा बौद्धों जैसी। मांस, नमकीन चाय तथा छंड (मदिरा) के ये शौकीन हैं। बीमारियों के उपचार में औषधियों की अपेक्षा ये तन्त्र-मन्त्र तथा जादू को प्राथमिकता देते हैं।

लद्दाख का कबीला : चम्पा

'चंग्पा' तिब्बती शब्द है जिसका अर्थ है उत्तर दिशा के कबीले! चम्पा कबीले के लोग लद्दाख के चंगयांग क्षेत्र से सम्बन्धित बताए जाते हैं। यह क्षेत्र लेह के उत्तर में है, जिससे इन्हें भी उत्तर से आया माना जाता है। वास्तव में ये हैं अद्भुत लोग। लद्दाख में अनेक प्रकार की जातियों का निवास है। क्षेत्रीय एकता होते हुए भी, इन जातियों में अनेक स्तरों पर भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। यह भिन्नता रहन-सहन एवं रीति-रिवाजों में स्पष्ट दीखती है।

चम्पा या चंग्पा नामक बंजारा जाति लद्दाख के एक छोर पर लगभग तेरह हजार की फीट से लेकर पंद्रह हजार फीट की ऊंचाई पर वास करती है, परन्तु स्मरण रहे कि इन लोगों का कोई स्थायी निवास स्थल नहीं होता। पशुपालन के

---

1. 'शैड्यूल्ड ट्राईब्ज़ ऑफ हिमाचल प्रदेश : टी०एस० नेगी

व्यवासय से जुड़े ये लोग अपनी भेड़-बकरियों के साथ साल भर चलते ही रहते हैं—इन्हें तलाश रहती है पशुओं के लिए हरी घास की। ऊँची पहाड़ियों पर तो गर्मियों में भी शीत का अनुभव होता है, परन्तु शीतकाल में तो पारा शून्य से भी 25 डिग्री नीचे चला जाता है। ऐसी कड़कती सर्दी में पशु हो या इन्सान—सबका जीवित रहना कठिन-सा होता है, परन्तु इस समस्या का जीवित उदाहरण हैं चम्पा जाति के लोग। इन लोगों के पशु ऐसी नस्ल के होते हैं, जिनका सर्दी कुछ नहीं बिगाड़ सकती। इन पशुओं के बालों से अत्यधिक गर्म ऊन पशमीना वनती है। इस पशमीना ऊन को या तो ये लोग व्यापारियों को वेच देते हैं या स्वयं इस ऊन से धागा कातकर भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्त्र बनाते हैं और इन्हें वेच जीवनयापन करते हैं। विश्व-भर में ऐसी ऊन दो-चार स्थानों पर ही उपलब्ध होती है, परन्तु लद्दाखी पशमीना का प्रथम स्थान है। पशमीना शॉलों की यह विशेषता होती है कि ये हलके-फुलके होने पर भी इतने गर्म होते हैं कि इनकी तुलना में ढेरों गर्म कपड़े भी नहीं ठहरते। पशमीना शॉल खरीदना सामान्य व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं होता, क्योंकि यह बहुत महंगी होती है।

चम्पा जाति के लोग खेमों में रहते हैं, जिनका निर्माण जंगली याक के बालों से बुने हुए रस्सों से होता है। ये रस्से इस प्रकार बुने जाते हैं कि तेज हवाएं तथा झंझावत का वेग भी इन रस्सों से बने खेमें झेल लेते हैं। एक विशेषता यह रहती है कि भीतर की गर्मी बाहर नहीं जाती और बाहर की सर्दी भीतर नहीं आ पाती—बस सुरक्षा और बचाव ही पर्याप्त। यहां वर्षा या हिमपात का तो प्रश्न ही नहीं उठता, डर तो केवल तूफानों का होता है, जिनका सामना ये अस्थायी निवास कर लेते हैं।

आमतौर पर चम्पा कबीले के लोग कद्दावर होते हैं। ठंडे वातावरण के कारण ही शायद मटमैला भूरा रंग और नैन-नक्श मंगोलों से मिलते-जुलते—तंग माथा, चपटी नाक, काले बाल, गालों की हड्डियाँ उभरी हुई। कई पुरुष कबीले की महिलाओं की भान्ति बाल रखते एवं बनाते हैं। एक जैसे परिधान के कारण, कई बार स्त्री-पुरुष का भेद करना कठिन हो जाता है। ठंड से शरीर का बचाव करने हेतु ये लोग भूरे या काले रंग का लम्बा ऊनी चोगा पहनते हैं। यह चोगा घुटनों के नीचे तक होता है, उसके नीचे गर्म तंग पायजामा तथा पैरों में घर पर ही निर्मित पट्टू के बूट! सिर पर धारण की जाने वाली लद्दाखी टोपी, एक ओर अलग पहचान कायम रखती है, तो दूसरी ओर यह झंझवातों से भी रक्षा करती है। महिलाएं तथा पुरुष सामान्य ढंग से कीमती पत्थरों के मनकों की माला पहनते हैं।

खान-पान मे ये लोग लद्दाख के अन्य निवासियों के समान ही हैं। इनका मुख्य आहार ग्रिम है। याक के मक्खन के साथ चाय पान के ये शौकीन हैं। छंग (घर पर बनाई गई शराब) इनके जीवन का अभिन्न अंग है। छंग सेवन का कोई बहाना चाहिए—कोई उत्सव हो या अनुष्ठान—बस मौज ही मौज! मदिरा हो तो मांस भी जरूरी है। भेड़ या याक के मांस के ये लोग शौकीन हैं, पर इन्हें मारने में ये संकोच करते हैं। कोई जंगली याक मर जाए तो उसके मांस का उपयोग होता है। अपनी आवश्यकता से मांस अधिक हो, तो वेच दिया जाता या प्रयोग हेतु सुखा लिया जाता है। आवश्यकता पड़ने पर ये जंगली याक को पकड़कर, उसके सांस को रोक देते हैं, जिससे उसकी मृत्यु हो जाती है। उसकी खाल इस प्रकार उतारी जाती है कि खून का एक भी कतरा न गिरे। इसी प्रकार कोई भेड़ दुर्घटनाग्रस्त हो जाए तो उसको भी समाप्त करने का भी यही तरीका है, क्योंकि उठाकर ले जाना कठिन कार्य है। इस परिदृश्य के अनेक प्रत्यक्षदर्शी मिल जाते हैं। इस प्रकार से उपलब्ध होने वाले मांस का जैसा प्रयोग इस कबीले में होता है, उसी प्रकार का व्यंजन कुमाऊँ की दरमा घाटी के भोट भी करते हैं।

चम्पा कवीले के लोग मांसाहारी होते हुए भी बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं। इनके सभी धर्म-कर्म एवं अनुष्ठान लामाओं की उपस्थिति में ही होते हैं। बच्चे का नामकरण हो, शादी की रस्म हो या कोई इसी प्रकार का कार्य—लामा ही इसे सम्पन्न करते हैं। इस कबीले में लड़कियों की संख्या कम होने के कारण बहुपति प्रथा का भी प्रचलन है। विवाह आमतौर पर कबीले में ही होते हैं। अब कबीले के बाहर भी विवाह होने लगे हैं, जिससे बहुपति प्रथा का आंशिक समाधान हुआ है। इन लोगों का जीवन काफी कठिन होता है, इसी कारण बच्चों की संख्या भी आमतौर दो तक ही सीमित रखी जाती है। कभी इन लोगों को हूणों के समकक्ष मान, शासन-व्यवस्था में सुरक्षा का दायित्व इन्हें संभाला जाता था। सचमुच यह कबीला अद्भुत है।

गद्दी परिवार (कबीला)

हिमाचल के दुर्गम पहाड़ों के मध्य निवास करने वाले लोगों का एक समुदाय ऐसा भी है, जो अपनी श्रम जीविता के साथ-साथ घुमक्कड़ी के लिए भी विख्यात है। प्रकृति से एकाकार होने वाले इस मस्तमौला गद्दी समुदाय का मूल मन्त्र है—'जीवन है चलने का नाम'। भौतिक सुविधाओं के मोहजाल में न फंसकर, ये लोग विपरीत परिस्थितियों में भी जिन्दगी के कारवां को रुकने नहीं देते। भोजन

का जुगाड़ न हो पाए तो बकरी के दूध में ही काम चल जाता है। पर इस परिस्थिति में भी अपने रक्षक-कद्दावर कुत्तों को भूखा नहीं रखते, इन्हें दूध पिलाते हैं और मांस भी खिलाते हैं। कुत्ते जंगली जानवरों से उनकी तथा उनकी सम्पत्ति भेड़-बकरियों की रक्षा जो करते हैं।

हिमाचल प्रदेश में गद्दी अधिकतर कुल्लू, कांगड़ा तथा चम्बा जिलों में बसे हैं। चम्बा जिला की भरमौर तहसील को इनका स्थायी निवास भी स्वीकारा जाता है। पाणिनी के अनुसार इस क्षेत्र के लोग 'गब्दिक' थे। भरमौर घाटी के लिए पाणिनी ने 'गब्दिका' शब्द का व्यवहार किया है। गब्दिक का भाव है गद्दी और इस प्रकार 'गब्दिका' गद्दियों की बस्ती हुई। भरमौर को गद्दियों का देश भी कहा जाता है। इसके लिए 'गद्देरन' शब्द का भी प्रयोग हुआ है।

इस समुदाय के उद्गम के सम्बन्ध में इतिहासकार एक मत नहीं हैं। प्रो० डेविड ने इन्हें आर्यों का बंशज स्वीकार किया है तो एक अन्य विद्वान् का कहना है कि इनके पूर्वज पंजाब के मैदानी क्षेत्र में बसे 'खत्री' थे, जो मुस्लिम आक्रमणकारियों से बचने के लिए पहाड़ों में आ छिपे थे। जनरल कन्निघम भी इसी विचार के पक्षधर हैं। उनका कथन है—'ये लोग क्रूर मुसलमान शासकों से डरकर पहाड़ों में आ बसे हैं। इनके पूर्वज पंजाब तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश से आए बताए जाते हैं।' कतिपय विद्वान् 'गद्दी' समुदाय को व्यापक परिवेश में लेते हैं और इनके अनुसार इस समुदाय में ब्राह्मण, खत्री, राजपूत, ठाकुर, कोली, रेहारा, हाली तथा सिपी भी शामिल है। यह समुदाय मुख्यतः पशुधन पर निर्भर है। भेंड़-बकरियों के समूह ही इनकी सम्पत्ति है, जिसे 'धण' की संज्ञा प्राप्त है। इन्हीं में से कुछ परिवारों ने कांगड़ा की घाटियों में जमीन खरीदकर खेती-बाड़ी भी शुरू कर दी है। कुछ लोग ऊनी चादरें, पट्टू, पट्टियाँ आदि बुनने तथा खराद का कार्य भी करते हैं। पहले जीविकोपार्जन के लिए कुछ लोग धान कूटने तथा माल ढोने का कार्य भी करते रहे। जो लोग पशुधन पर ही निर्भर रहते हैं, उन्हें 'पुआल' कहा जाता है। वे अपना जीवन घुमक्कड़ के रूप में व्यतीत करते हैं। सर्दियों में वे अपनी हजारों भेड़-बकरियों के साथ निचले क्षेत्र में आ जाते हैं, जबकि गर्मियां दुर्गम पहाड़ियों में ही व्यतीत करते हैं। इनके कार्यक्रम में दिन-भर चलना शामिल होता है। रात को खुले में ही पड़ाव डालकर वहां आग जला लेते हैं। रुकने का यह संकेत भेड़-बकरियाँ भी समझती हैं और उनके आसपास इकट्ठी हो जाती है।

गद्दी लोग शरीर से मजबूत होने के कारण प्रायः कम बीमार होते हैं। घुमक्कड़ी में इन्हें जंगली जड़ी-बूटियों की पहचान हो जाती है और इनके प्रयोग से

छोटी-मोटी बीमारी का निदान स्वयं कर लेते हैं। ये लोग बकरी का दूध पीते हैं और इससे भी शरीर गर्म रहता है और सर्दी सहज में ही कट जाती है। गद्दियों का परिधान सादा, परन्तु आकर्षक होता है। कमीज के ऊपर पट्टू से बना कलीदार लम्बा चोगा पहना जाता है, जो घुटनों तक आता है। कमर में ऊन की रस्सेनुमा डोरी लिपटी रहती है। सिर पर टोपी रहती है, जिसमें कई बार कलगी भी लगाई जाती है। गद्दी महिलाएं पुरुषों की अपेक्षा सजने-संवरने में अधिक विश्वास रखती हैं। इनकी चितवन मोहक तथा आकर्षक होती है और सौन्दर्य भी अपने ढंग का! प्रायः महिलाएं सूती कमीज पहनती हैं, जिसे कुर्ती कहा जाता है। नीचे घाघरा पहना जाता है। सिर ढकने वाली ओढ़नी को 'घुंडू' कहा जाता है। शरीर के विभिन्न अंगों पर धारण किए गए चांदी के आभूषण इन महिलाओं की आभूषण-प्रियता के द्योतक हैं। गद्दिने ज़ितनी सुन्दर एवं स्वस्थ होती हैं, उतनी ही बुनाई आदि के कार्यों में निपुण भी। इनके बनाए शाल तथा पट्टू लोकप्रिय होने के कारण अच्छे दाम में बिकते हैं।

ये लोग मांस-मदिरा के शौकीन हैं। पुरुष हुक्के का भी शौक पालते हैं। इनके चोगे के दोनों ओर थैलों जैसी बड़ी-बड़ी जेबें होती हैं, जिनमें भोजन तथा हुक्का रहता है। ऊनी रस्सी के नीचे चमड़े के छोटे से थैले में तम्बाकू तथा मुरली बन्धी रहती है। मुरली इनके संगीत प्रेम को दर्शाती है। इन लोगों की सभी देवी-देवताओं के प्रति आस्था है, परन्तु ये भगवान् शिव के अनन्य भक्त हैं। शिव ही इन्हें स्वास्थ्य और समृद्धि का वरदान देते हैं। इनके चोगे के ऊपर कमर पर लम्बा काला ऊनी धागा लिपटा रहता है, जिसे 'शिव-सैली' कहते हैं। यह इनकी शिवभक्ति का प्रतीक है। गद्दी संगीत तथा नृत्य में भी रुचि रखते हैं। घर में निवास के समय संगीत-नृत्य का भरपूर आनन्द लेते हैं। आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होने से अब इनका शिक्षा के प्रति रुझान बढ़ा है। इसी के फलस्वरूप आज इस समुदाय के कुछ लोग अच्छे पदों पर आसीन हैं।

लाहौले

'लाहौले' शब्द से यह स्पष्ट होता है कि इसका प्रयोग लाहौल घाटी के निवासियों के लिए हुआ है। इस जाति का सम्बन्ध मुंडा आदिम जातियों तथा तिब्बितयों के मिश्रण से आंका जाता है। इस वर्ग में ब्राह्मण, लोहार, डागी सभी आ जाते हैं, परन्तु ठाकुर इनकी सर्वश्रेष्ठ उपजाति स्वीकार की जाती है। ये लोग सीधे-सादे तथा सरल स्वभाव के होते हैं। मूलरूप में ये लोग महायान बौद्ध धर्म के

अनुयायी थे, परन्तु अब वैदिक-पौराणिक धर्म की ओर लौट आए हैं। फिर भी काफी लोग अब भी महात्मा बुद्ध के प्रति आस्थावान हैं। सम्पन्न परिवारों में प्रत्येक परिवार का निजी मन्दिर है, जिसमें महात्मा बुद्ध की प्रतिमा प्रतिष्ठित रहती है। 'कंग्यूरु' तथा 'तेंग्यूर' इनके धार्मिक ग्रन्थ हैं, जिनमें 108-108 पोथियां हैं। इस जाति में प्रचलित बहुपति प्रथा अब धीरे-धीरे समाप्त हो रही है। इनके मुख्य मन्दिर त्रिलोकनाथ में लामा, पण्डित, बौद्ध, हिन्दू तथा अन्य वर्गों के लोग भी दर्शनार्थ आते हैं। मिरकुला देवी में भी इनकी आस्था है। यह जाति चम्बा-लाहुल में अधिक संख्या में हैं।

गुज्जर

हिमाचल प्रदेश में गुज्जरों के स्थायी निवास कम हैं। भैंसे पालने के व्यवसाय से जुड़े ये लोग चलते-फिरते डेरों के ही निवासी हैं। खुले आकाश के नीचे डेरा डालने में इन्हें आनन्द की अनुभूति होती है। वैसे ये मौसम के अनुरूप घास-फूस की झोंपड़ियां भी अपने तथा अपने पशुधन के लिए बना लेते हैं। ऐसा माना जाता है कि ये हिन्दू थे, जिन्होंने औरंगजेब की धार्मिक असहिष्णुता के आगे घुटने टेककर इस्लाम स्वीकार किया था। इनमें चौहान, चंदेल, चीपी, भट्टी आदि उपजातियां हैं।

चम्बा, सिरमौर आदि क्षेत्रों में इनका आगमन जम्मू-कश्मीर से हुआ। सिरमौर में इनके निवास का भी विचित्र वृत्त है। कहते हैं कि एक बार सिरमौर नरेश पुंछ गए, जहां गुज्जरों द्वारा भेंट किया दूध उन्हें रुचिकर लगा। सिरमौर नरेश ने प्रसन्न होकर, वहां के राजा से फरमायश कर दी कि इन्हें सिरमौर में भी बसाया जाए। महाराजा को दहेज में उन्नीस गुज्जर परिवार मिले। इन्होंने सिरमौर को अपना निवास बनाया। भारत विभाजन पर इस जाति के अनेक परिवार हिमाचल से पाकिस्तान चले गए। वहां चारागाह आदि की सुविधाओं के अभाव में, विवश होकर इन्हें हिमाचल लौटना पड़ा।

घुमक्कड़ होने के कारण इस जाति के लोगों को आधुनिक सुविधाएं उपलब्ध नहीं है। इसी संदर्भ में श्री ठाकुर सेन नेगी का कथन है—"ये लोग भूखे नहीं मरते, परन्तु इनका खाना-बदोशी जीवन इन्हें आधुनिक जीवन स्तर से नीचे का जीवन व्यतीत करने पर बाधित करता है। ये लोग प्रायः कर्जाई रहते हैं। यह जाति मूलतः हिन्दू है। अतः इनके 'गोत्र' हिन्दुओं के समान है। इनमें से कुछ गोत्रों में हिन्दू त्यौहार भी मनाए जाते हैं। इनमें पुत्रोत्पत्ति अल्ला का वरदान हैं।"[1]

1. शैड्यूल्ड ट्राइब्ज़ ऑफ हिमाचल प्रदेश : टी०एस० नेगी

दूध तथा मकई इस जाति के प्रिय खाद्य हैं। सलवार, कुर्ता, वास्कट, कोट, पगड़ी, तहमद इनका पहनावा है। गुज्जरों की मूल पहचान है—कंधे पर चादर, हाथ में घड़ी, बेतरतीवी पगड़ी तथा बढ़ी हुई दाढ़ी। इन्हें कशीदाकारी का शौक है। इनकी भाषा 'गोजरी' है। एक स्थान पर स्थायी निवास न होने के कारण ये शिक्षा की दौलत से वंचित हैं। अब सरकारी एवं गैर-सरकारी स्तर पर इनके उत्थान की योजनाएं बनाई जा रही हैं।

□□□

हिमाचल : भव्य लोक-संस्कृति

संस्कृति ब्रह्म की भान्ति अनिर्वचनीय, व्यापक तथा गूढ़ है। किसी ने इसे मानवीय उद्देश्यों की समष्टि कहा है, तो कोई इसे मानव के आन्तरिक गुणों की द्योतक मानते हैं। संस्कृति शब्द 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से 'क्तिन' प्रत्यय लगाने पर निष्पन्न होता है--इसका भाव है निखरना या निखारना। संस्कृति परिष्कार की प्रक्रिया है और इसका नियामक है धर्म! एडवर्ड वी० टायलर के अनुसार संस्कृति ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, न्याय, रीति-रिवाजों तथा अन्य क्षमताओं या आदतों--जो मनुष्य द्वारा समाज का सदस्य होने के बाते अर्जित की जाती है, इन सबका सम्मिश्रण है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने संस्कृति को मनुष्य की विविध साधनाओं की सर्वोत्तम परिणति माना है। डॉ० प्रसन्नकुमार आचार्य का कथन भी महत्त्वपूर्ण है--'मनुष्य की नैसर्गिक वृत्ति ही उसकी प्रवृत्ति कहलाती है। जब उस प्रवृत्ति का ऐसा संस्कार हो जाए कि वह मानवता के लक्ष्य की ओर अभिमुख हो उठे, तो उसे ही संस्कृति समझना चाहिए। सरल शब्दों में संस्कृति कुल-शील की पहचान है। इसी संदर्भ में उल्लेख है--"कुल-शील शब्द संस्कृति के अभिप्राय को सम्प्रेषित करने में सक्षम है। 'कुल' से हमारा अभिप्राय वंशानुगत संस्कार अथवा परम्पराएं हैं। 'शील' जीवन पद्धति का वह परिवर्तन है, जिसमें हमारा सतत् योगदान रहता है। यह हमारी अर्जित थाती है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्राप्त होने वाली विरासत हमारी अर्जित थाती से मिलकर आने वाली पीढ़ी के लिए 'कुल' का रूप धारण कर लेती है। यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। इसी कारण संस्कृति एक गतिशील प्रक्रिया है।'[1]

संस्कृति के स्वरूप को जानने के बाद 'लोक-संस्कृति' से परिचित होना भी आवश्यक है। 'लोक' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की 'लोक दर्शने' धातु से मानी जाती है, जिसका अर्थ है देखना। इस प्रकार 'लोक' का अर्थ हुआ देखने वाला। प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसी सन्दर्भ में कहा है--'लोक शब्द

1. पंजाब : लोक-संस्कृति एवं साहित्य दिग्दर्शन : प्रो० मोहन मैत्रेय (उत्तर क्षेत्र सांस्कृतिक केंद्र, पटियाला)

का अर्थ जानपद या ग्राम्य नहीं है बल्कि नगरों और गांवों में फैली हुई वह समूची जनता है, जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये लोग नगर में परिष्कृत रुचि सम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुएं आवयक होती हैं, उनको उत्पन्न करते हैं।'

'हिंदी साहित्य कोश' में 'लोक' विषयक उल्लेख है—"लोक समाज का वह वर्ग है, जो आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना और अहंकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित है।" एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' में लोक सम्बन्धी उल्लेख है—'वह सामान्य जन जो नागरिक संस्कृति और साविधी शिक्षा के प्रवाहों से परे हैं।' वास्तव में 'लोक' किसी वर्ग विशेष का पर्याय नहीं। ऐसे लोक का साहित्य ही लोक साहित्य है।

'लोक' विषयक जानकारी के उपरान्त 'लोक-संस्कृति' तथा 'लोक-साहित्य' का परिचय आवश्यक हो जाता है। 'फोक-लोर' (Folk Lore) को लोक-साहित्य का पर्याय मानना उचित नहीं। 'फोक' शब्द की उत्पत्ति ऐंग्लो-सैक्शन शब्द Folk से मानी जाती है। डॉ० बॉर्कर का कहना है कि 'फोक' से किसी ऐसी जाति का वोध होता है, जो सभ्यता से दूर हो। 'लोर' एंग्लो-सैक्शन शब्द 'लर' (Lar) से बना है, जिसका भाव है ज्ञान। इस प्रकार 'फोक लोर' शब्द का अर्थ यह माना गया—'असंस्कृत लोगों का ज्ञान'। वास्तव में इस शब्द से विशिष्ट वर्ग की पहचान नहीं हो पाती। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार 'फोक लोर' का पर्याय 'लोक-संस्कृति' ही है। डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय भी डॉ० द्विवेदी के विचार से सहमत हैं। डॉ० सत्येंद्र के अनुसार " 'लोक-संस्कृति' वस्तुतः आदि मानव की मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति है, वह चाहे दर्शन, धर्म, विज्ञान तथा औषधि के क्षेत्र में हुई हो, अथवा सामाजिक संगठन, अनुष्ठानों में अथवा विशेषतः इतिहास, काव्य और साहित्य के अपेक्षाकृत बौद्धिक प्रदेश में संपन्न हो।" लोक-संस्कृति (फोक लोर) का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इसी संदर्भ में श्री सुरेंद्र त्यागी का कथन अत्यन्त सार्थक है—"इसके अन्तर्गत समस्त लोक विश्वास, लोक रीतियां, लोक साहित्य और लोक कलाएं आ जाती हैं।" 'लोक साहित्य' फोक लोर (लोक-संस्कृति) का एक अंग है जिसके अन्तर्गत लोक गीत, लोक कथा, लोक गाथा, लोक नाट्य और लोकोक्ति आदि आते हैं। डॉ कृष्णदेव उपाध्याय ने लोक साहित्य को उस निर्मल दर्पण के समान बताया है, जिसमें जनता जनार्दन का अखिल तथा विराट स्वरूप

पूर्णरूपेण दिखाई देता है। इसी निर्मल दर्पण में से हिमाचल के स्वरूप को देखने-परखने का प्रयास आवश्यक है।

लोक गीत

लोक गीत मानवीय अनुभूतियों एवं संवेदनाओं की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है। लोक गीत से अभिप्राय क्या है?—लोक में प्रचलित गीत, लोक निर्मित गीत या लोक विषयक गीत—निश्चित ही तीसरा अर्थ अभिप्रेत नहीं। लोक गीत का सम्बन्ध मानस की स्वाभाविक मेधा से है। इसी संदर्भ में उल्लेख है—"लोक गीत वास्तव में वही कहे जा सकते हैं, जिनमें रचयिता का निजी व्यक्तित्व नहीं होता। लोक गीत का लेखक लोकमानस से तादात्म्य स्थापित कर व्यक्तित्वहीन रचना करता है। लोक का व्यक्तित्व उसमें आ ही जाता है। वास्तव में लोक गीत गीतों का वह प्रकार है, जिसको ऐसे किसी व्यक्तित्व से सम्बन्धित नहीं किया जा सकता, जिसकी मेधा लोक-मानस की स्वभाविक मेधा नहीं।"[1]

डॉ श्याम परमार के अनुसार लोक गीत प्रकृति के उद्गार—तड़क-भड़क से दूर, पारदर्शी, शीशे की तरह स्वच्छ है। सरलता, रस, माधुर्य और लय इनके गुण हैं। लोक संस्कृति के शीर्ष विद्वान् श्री देवेंद्र सत्यार्थी ने तो सीधे-सादे शब्दों में लोक गीत का मर्म वता दिया है—"कहाँ से आते हैं इतने गीत। स्मरण-विस्मरण की आँख मिचौली से। कुछ उदास हृदय से—जीवन के खेत में उगते हैं, ये सब गीत। कल्पना भी अपना काम करती है, रस वृत्ति और भावना भी, नृत्य का हिलोरा भी—पर ये सब हैं खाद! जीवन के सुख, जीवन के दुःख, ये है लोक गीत के बीज' श्री रैल्फ वी० विल्यिम का कहना है कि लोक गीत न नया होता है और न पुराना। यह ऐसा वृक्ष है जिसकी शाखा भूत में रहती है, परन्तु जिसमें लगातार नव पल्लव फूटते हैं।[2]

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लोक गीत को आर्येतर सभ्यता का वेद कहकर इसकी महत्ता का गान किया है। श्री नरोत्तम स्वामी के अनुसार आदिम मनुष्य-हृदय के ज्ञानों का नाम लोक गीत है। श्री वासुदेव शरण अग्रवाल ने कहा है कि लोक गीत किसी संस्कृति के मुँह बोलते चित्र हैं। श्री रामनरेश त्रिपाठी का कथन

---

1. पंजाब का पर्वतीय साहित्य : मोहन मैत्रेय (कीर्ति प्रकाशन)
2. A folk song is neither new nor old, it is like a forest tree with its roots deeply burried in the past but which continually puts forth new branches, new leaves, new fruits.

अत्यन्त सार्थक है–"ग्राम गीत प्रकृति के उद्‌गार हैं। इनमें अलंकार नहीं, केवल रस है। छंद नहीं, केवल लय है। लालित्य नहीं, केवल माधुर्य है। ग्रामीण मनुष्य के, स्त्री-पुरुषों के मध्य में हृदय नामक आसन पर बैठकर प्रकृति गान करती है। प्रकृति के वे ही गान ग्राम गीत हैं।'

फ्रेंच विद्वान् मोशिये के अनुसार लोक गीत की प्रमुख विशेषताएं हैं–अत्यानुप्रास के स्थान पर ध्वनि साम्य का प्रयोग, पुनरुक्ति, तीन-पांच-सात संख्याओं का बार-बार प्रयोग तथा दैनिक व्यवहार की वस्तुओं को सोने–रूपे की कहना। डॉ० श्याम परमार ने निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है–अकृत्रिमता, सामूहिक भाव-भूमि, परम्परात्मकता अथवा मौखिक परम्परा, रुढ़ अतिशयोक्ति तथा संगीतात्मकता। डॉ० यदुनाथ सरकार ने प्रबन्ध की द्रुत गति, शब्द-विन्यास की सादगी, विश्व व्यापक मर्मस्पर्शी प्राकृतिक और आदिम मनोरोग, सूक्ष्म किन्तु प्रभावोत्पादक चरित्र चित्रण आदि को लोक गीत के लिए आवश्यक माना है। डॉ० श्याम परमार ने लोक गीतों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है–जातियों की दृष्टि से, प्रथाओं की दृष्टि से, धार्मिक विश्वासों की दृष्टि से, कार्य के सम्बन्ध की दृष्टि से, रस-सृष्टि की दृष्टि से। श्री रामनरेश त्रिपाठी ने लोक गीतों के ग्यारह वर्ग बताए हैं–संस्कार सम्वन्धी गीत, चक्की-चरखे के गीत, धर्मगीत, ऋतु सम्बन्धी गीत, विभिन्न जातियों के गीत, अनुभव वचन, वीर गाथा, गीत-कथा इत्यादि।

हिमाचल के लोक गीत

भारतीय परम्परा में सोलह संस्कार स्वीकार किए जाते हैं, जिनमें शिशु जन्म तथा विवाह संस्कार प्रमुख हैं। बच्चे के जन्म पर घर में खुशियों का माहौल बन जाना स्वाभाविक ही है। कृष्ण जन्म के रूप में पुत्र-रत्न की खुशी इस प्रकार व्यक्त हुई है–

गीगा साडा खेलदा आया
मोड़ पतासा गुलसट दिंदी
सून्ने दी है कटोरी
कि गीगा साडा खेलदा आया।
चन्नण कट्टी पलंघूड़ा घड़ांदी
अलपटे दिआं डोरां
कि गीगा साड्डा खेलदा आया
खेलदा आया

ओंदे तां जांदे माई-बाप झुटां दे।।

विवाह के आयोजन पर अनेक संस्कारों का विधान है, परन्तु इससे पूर्व कन्या के लिए उपयुक्त वर की तलाश भी तो समस्या है। कुल पुरोहित जिस वर की अनुशंसा करे, जरूरी तो नहीं कि वह कन्या को पसन्द आ जाए। कन्या अपनी मां से रोष करती है—

मूरख नी मायें मूरखड़े दे लड़ लाई,
येह भेजिया था मै हदिया जो गरने दे पत्त ल्याया!
येह भेजिया था चकां जो टोकरु चक्कि ल्याया,
मुरख नी....
ये सोला खांदा सजरीयां सतारा खांदा बाहि,
डल रवांदा कचालुआं दी घड़ा पींदा ठाहि।।

रिश्ता तय हो गया, बारात आती है, खुसर-फुसर भी चलती है कि बारात कहां से आई है, कैसे लोग हैं—इत्यादि। विवाह का अवसर हो और महिलाएं नोक-झोंक, हँसी-ठिठोली न करें तो विवाह कैसा? दूल्हे के नाती व्यंग्यबाण का शिकार होते हैं—

इत्थु होर पाओ जी
लाड़े दे बाबे दा पेट बड़ा कुनाला।
इत्थू होर पाओ
घड़ोलू भत्ते दा खांदा
बाटी मदरे दी मुकाई।
टांची—पाणिए दी मुकाई।
ईदा, पेट बड़ा चिकुणा
ए खांदा ऊणा दूणा
इत्थु होर पाओ जी!

विवाह खुशी-खुशी सम्पन्न हो जाए, लड़की के लिए मायका छोड़ना सरल-सुगम नहीं—कई यादें इससे जुड़ी है। माता-पिता विवाहित कन्या को घर में कैसे रख लें? अश्रुपूर्ण विदाई तो देनी ही होगी। लोक गीत इसी स्थिति का हृदय स्पर्शी दृश्य प्रस्तुत करता है—

कन्या : तेरे महलां दे अंदर जी बापू
मेरा डोला अड़ेया!
बाप : तेरे डोले दिंग्गे छुड़ाई,
जा धीए घर आपणे!
कन्या : तेरे महलां दे अंदर जी माएं,
मेरियां गुड़ियां रहियां!
माता : तेरियां गुड़ियां दिंग्गे पुजाई,
जा धीए घर आपणे।
कन्या : तेरयां महलां दे अंदर जी बापू,
मेरी मां रोए!
पिता : तेरियां माऊ जो दिंग्गे पतियाई,
जा धीए घर आपणे।।

कन्या के लिए विवाहोपरान्त, नये जीवन की शुरुआत होती है। ननद-भावी तथा देवर-भावी का हास-परिहास लोक गीतों में स्वर पाता है तो अधिकांश किस्से सास के अत्याचारों के ही होते हैं। सास को तो बहू पर ताना कसने का अवसर मिलना ही चाहिए, क्रोध की चिंगारी फूट पड़ती है—

होरना दे चरखे घट-घट बोलदे
तेरे चरखे बड्डा रोग
नी मेरा राम जाणे!
....
कैंहदे कारण तूं तूहें चरखा कत्तिया,
कैंहदे कारण तूं सीस गुंदाया
नी मेरा राम जाणे!

सास के अत्याचारों से पीड़ित नई-नवेली दुल्हन के पास मायके जाने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं। पति सेवा में है, नौकरी पर जाने से पूर्व उसने मां से अनुरोध किया था कि उसकी पत्नी का ध्यान रखना। मां ने वायदा भी किया था, परन्तु निभाए कौन? शायद वह भी कभी अपनी सास से प्रताड़ित रही हो। ससुराल को शापित करते गीत के बोल उमड़ते हैं—

जली जांदा सौरिआं देश ओ
अम्मा जी मैं नहीं ओ वसणा

मयाग्जे हुंदी माए झाड़ू पकड़ाई दिंदे
दसी दिंदे पटिआं दा फेर ओ अम्मा जी
मैं नहीं वसणा सौरियां दे देश

....

छलिया दी रोटी माए साग बनाई दिंदे
भरी करी झोले दा कटोरा पकड़ाई दिंदे
जली जाओ एहो देआ खाणा अम्मा जी
जली जांदा"

पहले पर्वतीय क्षेत्र में अल्पायु में ही लड़की का विवाह हो जाता था। विवाह के बाद, अभी वह ठीक प्रकार से पति को पहचान भी नहीं पाई थी कि पति को सेना की नौकरी पर जाना पड़ा। वर्ष बीत गए, पति घर लौटा तो पत्नी कुएँ पर पानी भर रही थी। वह पति को पहचान न पाई। दिल लगी भी हो गई और पत्नी की धर्म परीक्षा भी। लोक गीत की चित्रात्मकता विशिष्ट है—

पुरुष : खूए दे ऊपर खड़ोतिए मुटियारे नी
पाणी दा घुट्ट प्या वाँकिए नारे नी।
स्त्री : कच्छ घड़ा, कच्छ लोटकी जी सिपाहिया जी
आप्पू भरो आप्पू पियो असां तेरे मैरम नहीं।
पुरुष : अपणां तां भरया नित पीणा मुटियारे नी,
भन घड़ा चल कर ठीकरी चल सिपाहिए ने नाल,
नी पतलिए नारे नी।
स्त्री : तेरे देए दो छोकरे जी सिपहिया जी,
साडे बापुए दे चरवेदार जांदिया राहिया जी।

प्रश्न-उत्तर का सिलसिला, उसके बाद के मिलन में कितना रस, कितना आनन्द तथा कितना उन्माद होगा?

पर्वतीय लोक गीतों में प्रेम के दोनों पक्षों—संयोग-वियोग के मार्मिक चित्र हैं। हीर-रांझा, सस्सी-पुन्नू, लैला-मजनूं अमर प्रेमियों के रूप में चर्चित रहे हैं। कुल्लू में भी कुन्जु-चंचलो ऐसा ही प्रेमी युगल था—

चंबे दे चौगाने डेरा कुंजआ,
मैं तां नार बगानी हो।
कपड़े धोवाँ नाले रोवां कुंजुआ,

विच बटन निशानी हो।
गोरी-गोरी बाहवां चूड़ा तेरा चंचलो,
विच गजरा निशानी हो।
अधी-अधी राती मत आंदा कुंजुआ,
पंज भरिया बंदूका हो।

प्रेमी के लिए प्रेमिका ही जीवन का सच है, वह हर समय उसके स्वप्न देखता है, उसे पास रखने की इच्छा करता है—

धीऊ आ तेलीआ जीऊआ,
तेरा नखरा नमाणा।
बुहने धिरे तेरे शहरा-शहरा,
उहजे भेखली टोपू।
राती मेली वोलु सुपने झूरिए,
सारा कमरा तोपू।।

प्रेमी मिलने के लिए मिन्नत करता है, सलवार-चोली के उपहार का वायदा करता है, तो कभी जोगी बनने की धमकी भी दे देता है—

दासी लाड़िये जाचड़ू शोभला—झूरी री खोली
ससीरा देनूं सुथणू—नीले छोटी री चोली
आंधरे वेशिये—शर्मे बाहरे निकली न्होली
दसाँ जींदरे बेशिये—शर्मे ढूणी न्होली
कोना ना पाई मुंदरा—फौकू न पाई झोली।।

केवल प्रेमी की ही यह दशा हो, ऐसी बात नहीं। नायिका की भी तड़प है। प्रेमी मिल जाए—शायद देवी की मन्नत ही काम आ जाए—

नेगी लोड़ी घौरा वै फीरू—
भागा सीधा वै देणा वौकरु—नेगी लोड़ी धौरावे फीरु।
तौभे बोलू मेरी झूरिए—तारा निकला हेरू—
तेरे ढाले रे झूरने—छाती वरमा फेरू—।।

कुल्लू के लोक गीतों में दोहों का विशेष स्थान है। इन दोहों के सम्बन्ध में उल्लेख हैं—"दोहे की एक पंक्ति का विषय से कोई सम्बन्ध नहीं होता। यह प्रायः

प्राचीन पंक्तियों के संग्रह से उद्धृत की जाती है। इसका एक लाभ यह होता है कि अनुप्रास की समस्या का समाधान हो जाता है। इन दोहों का सम्बन्ध प्रेम से है, प्रेम में भी वियोग पक्ष को ही अधिक लिया गया है। कहीं-कहीं तो पंक्तियाँ अपनी यथार्थता के कारण अत्यंत मार्मिक हो गई हैं।"[1] इस परम्परा का उदाहरण लीजिए—

धूने अने-रा सुथणू वारवी अने-रा चोलू।
थोड़ी झूरा सा झूरिए लालचे झूरा सा वोहू।।

नीचे की पंक्ति में जीवन की ठोस सच्चाई सम्मुख आती है—आधुनिक प्रेम में वासना का प्राधान्य है। ऊपर की पंक्ति—'धूने प्रकार की ऊन का पायजामा अच्छा बनता है तो वारषी ऊन से चोली—का नीचे की पंक्ति से विशेष सम्बन्ध नहीं।

नारी का यौवन ही पुरुष के आकर्षण का केन्द्र है। यौवन न रहे, तो वह डंठलमात्र है—फिर प्रेम का बन्धन कैसा? कितनी स्वाभाविक अभिव्यक्ति है—

वूहने खोजी टीपरी पीच्छे खड़ी मड़ोली।
फूल नेऊ तेरे लोभीए चूड़िय डंडलू हरीये रली।।

अपना प्यार ही न मिल पाए, दुर्भाग्य का साया जीवन की खुशियों को निगल जाए, तो भाग्य-विधाता से भी तो निपटना पड़ेगा—

खीर गंगी रा पधरू कायलू धारे ही तीके।
भेटी न कारणै विधी माते रे हौथड्डु धाऊड़े कागज लिखै।।

पर्वतीय लोक गीतों में नारी का आदर्श, उसकी ममता, उसकी द्रवणशीलता एवं कर्तव्यपरायणता ध्वनित हुई है, तो उसकी विवशता, असहायता, वेदना भी मूर्तिमान है। डॉ० श्याम परमार का उल्लेख है—'इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि लोक गीत की नारी अपनी रूप राशि और भावनाओं में स्वस्थ एवं परिपूर्ण है। दुःख और सुख दोनों की सीमा पर खड़ी हुई वह अपना जीवन कर्म करते हुए बिता रही है। उसका अपना स्वाभिमान जितना बढ़ा-चढ़ा है, उतना ही उसका त्याग है। उसके बालिका, युवती, प्रौढ़ा और वृद्धा के विभिन्न रूप अपनी-अपनी सीमाओं में पूर्ण हैं।[2]

1. पंजाब का पर्वतीय साहित्य : मोहन मैत्रेय (कीर्ति प्रकाशन)
2. भारतीय लोक साहित्य : डॉ० श्याम परमार

हर नारी की भान्ति पर्वतीय नारी के भी कुछ अरमान हैं, सुखी जीवन के लिए कुछ इच्छाएं-आकांक्षाएं हैं, कुछ चाव हैं। निम्न पंक्तियां इन्हीं का पर्याय हैं–

इक नत्थ घड़ी देयां जी हरिपुर देया सुनयारा,
नत्थ ऐसी घड़या जी घुंडे विच मारे लसकारा।
इक न्याओ करि देयां जी दिलीया देया ठाणेदारा,
न्याओ ऐसा करयां जी जठाणियां ते दो आई देसां चुबारा।।

पत्नी को गर्व है कि उसका पति सेना में सेवा करता है, परन्तु लम्बी जुदाई भी तो अत्यन्त कष्टदायक है। दर्शन के लोभ को कैसे रोका जाए?

होरनां दे बागे सब फुल फुल्लदे,
मेरे बागे फुल्ली गोभी।
खाणो पीणे दा लालच कोई ना,
नैणां तेरेयां दी लोभी।।

विभिन्न जातियों के गीतों में गद्दियों का निम्न गीत इस जाति की नवयुवती के मनोभावों को दर्शाता है–

रस्सियां दा वणि गेया सप्प लोको,
उजड़ी कांगड़े देश जाणा।
सूही प्यूली प्यूली कबरी हिक्का मंझ बनदी
लक्क मटकाई करी छोरी, छोरी लंगदी,
पक्खी गोरी दे हत्थ लोको,
नक्के मांझ लिसके नत्थ लोक्को,
उजड़ी कांगड़े···

इन लोग गीतों में 'कारक' भी हैं और वीर गाथाएं भी। 'राजवधूरुल्ल' की कांगड़ा क्षेत्रीय प्रसिद्ध कारक है। रामसिंह पठारिणया, गूगा छतरी, राजा गोपीचंद आदि गाथाएं भी लोक गीतों का उल्लेखनीय भाग है। लोक गीतों में प्रदेश की परम्पराओं तथा सामयिक जीवन की भी झलक मिलती है। अतिथि-सत्कार की परम्परा निम्न गीत में साकार हुई है–

नित औणा जी नित औणा,
सदा मेरे अंगणा पैर पौणा!

....

दुआर खड़े कई बाहर परौणे
किंहा करि के आए जी
धन-धन अप्पणे भाग सजनी
इन्हां दे दरसन पाए जी।

निर्धनता तथा साधन-हीनता यहां के जीवन का अभिशाप बनी रही है। इसी को दर्शाती है ये पंक्तियां—

हट्टी बैठिया ढुहाणियां
तेरी हट्टी विकेंदा जीरा
होर लाँदिया रेसमी ढाठू
मै लांदी लीरां!
....
पाणी भरि लैणा पत्तीलिया कने
लौंग तेरे फल के लाणा,
कटि लैणे तीलियाँ कने।

बहुपत्नी प्रथा अब काफी कम हो गई है, परन्तु पूरी तरह समाप्त नहीं हुई। पत्नियों की मांगे भी तो समस्याएं पैदा करती हैं—

दो नारां देया लोभिया जी
तिज्जो बड़ी भारी वणीवे
इक ता मंग्गे सिरे जो सालुआ
दूजी घघरे जो अड़ी वे
दो नारां दे—
इक तां मंग्गे नक्के दी वेसर
दूजी लौंगे जो अड़ी वे।

भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में 'चरखा' आजादी का पर्याय बना, तो लोक गीत में भी यह स्वर मुखरित हुआ—

चरखा लयाई दे माये कि मिंज्जो कतणे दा चाओ
कतणे दा चाओ कि पूणी वट्टणे दा चाओ
चरखा लयाई···

स्वतन्त्रता के उपरान्त निर्माण-विकास का प्रभात आया, तो शिक्षा के प्रति भी

जागरूकता बढ़ी—

पंज नीं करनी दस नीं करनीं
चौदा करनीं जमातीं
भलो जी चौदा करनी—

'मेले-जात्राएं' यहां के जीवन का आवश्यक अंग हैं। मिलकर यात्रा पर जाना, रास्ते में डेरा डालना—यही दृश्य है इन पंक्तियों में—

मैहले दीया यात्रा लौहड़िया दा पाणी,
ते किल्ला मत पींदा ढील शरावियां।
पहला डेरा लाणा स्रेई वो घराटा,
दूजा डेरा लाणा देवी दे देहरे।
ते त्रीया डेरा लाणा लोहड़ी रे पाणी
मैहले दीया...

इन लोक गीतों में भाषा की सरलता, विचारों की उदारता तथा स्वाभाविकता, भावों की तल्लीनता तथा मनोवैज्ञानिकता है। ये पर्वतीय जीवन के मनोहारी चित्र हैं!

लोक गाथा—लोक कथा

लोक-संस्कृति एवं लोक साहित्य में लोक कथा की विशिष्ट भूमिका है। देश के विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित लोक कथाओं में वस्तु, पात्र, शैली आदि का सादृश्य देखने को मिलता है। 'कथा सरितसागर', 'हितोपदेश', 'बैताल पंच विंशति' आदि ग्रन्थों की अनेक कथाओं के परिवर्तित रूप अनेक लोक कथाओं में उपलब्ध हैं। श्री बेरियर एल्विन के अनुसार ये कथाएं एक क्षेत्र या देश तक सीमित नहीं। ये लोक कथाएं राज्यों की सीमांओं के बन्धन को तोड़कर भी जीवित है। डॉ० सत्येन्द्र ने लोक कथाओं को 'क्रम-संवृद्ध-कहानी' की संज्ञा दी है। श्री शरतचंद्र मित्र के अनुसार'इन कथाओं में एक विशेष गतिक्रम (आवृत्ति) तथा जिज्ञासात्मक विलक्षणता रहती है।[1]

1. Accumulative drolls or cumulative folk tales are stories in which the narrative goes on by means of short & pretty sentences & at every step of which all the previous steps thereof are repeated, till at last the whole series of steps thereof are recapitulated—Saratchander mitter.

इन कथाओं की शुरुआत भी अद्भुत है। 'कणा वाहियां कथा आइयां'—गेहूँ की फसल की कटाई हो गई तो किसान के पास खेती का विशेष काम नहीं रहता। सर्दी की रातें लम्बी होती हैं, लोग आग जलाकर उसके आस-पास बैठ जाते हैं और इन कथाओं का क्रम चालू हो जाता है। पहेलियों का दौर भी चलता है। कथक कहता है—'सै तिथ्यु असां इत्थू'। इन कथाओं के पात्र प्रायः राजा, रानी, परियां, राजकुमार-राजकुमारियां, भूत-प्रेत तथा पशु-पक्षी होते हैं। हास्यास्पद कथाओं का पात्र प्रायः जुलाहा होता है। घर में कोई मेहमान आ जाए, तो उससे भी कथा का आग्रह किया जाता है। जिस प्रकार इन कथाओं की शुरुआत होती है, उसी प्रकार अन्त भी—' कणाकां निसरियां, कथां बिसरियां'। 'सोनकेसी और रूपकेसी' यहां की अत्यन्त लोकप्रिय लोक कथा है। इसी प्रकार की प्रचलित लोक कथाएं हैं—अंधा तथा कुबड़ा', काठ का घोड़ा, एक ब्राह्मण तथा उसकी सात पुत्रियां, राजा बाणबट्ट की कथा, कौए दी धी, ऐं कुलुए दी कथा, जादू रा ताला, तोता-मैना किस्सा। इन लोक कथाओं के विषय सामाजिक, ऐतिहासिक, नैतिक, पशु-पक्षी सम्बन्धी इत्यादि होते हैं। सुनने-सुनाने की शैली चित्ताकर्षक तथा विचित्र होती है। सरलता, जिज्ञासा, विविधता इनके गुण होतें हैं।

इन कथाओं में लम्बी गेय कथाएं भी होती हैं, जिन्हें लोक गाथा कहा जाता है। हिमाचल में अनेक छोटी-छोटी रियासतें थीं, जो आमतौर सीमा-विवाद या वर्चस्व के लिए परस्पर उलझी रहती थीं। तथाकथित सामरिक घटनाओं पर आधारित नूरपुर के बदाल, चम्बा के पांगी, भरमौर के धुरई जातीय लोक गायकों ने लोक गाथाओं के सृजन की परम्परा का पालन किया। रामसिंह पठाणियां (कांगड़ा) हौकू मियां की हार (सिरमौर), 'कुंजू-छेंछली' तथा 'रांझू फुलमू' (प्रेम-प्रसंग), ढोलरु (कथा गीत) चर्चित लोक गाथाएं हैं। रुल्हा दी कुल्ह (कांगड़ा) राणी सूई (चम्बा), 'रुकमणी रा कुंड (बिलासपुर) आदि अनेक रोमांचपूर्ण लोक गाथाएं हैं।

हिमाचल की लोक कथाओं के महत्त्व को दर्शाते हुए डॉ० गौतम शर्मा 'व्यथित' ने लिखा है—'हिमाचली लोक कथाओं का निजी महत्त्व है। इनके द्वारा स्थानीय लोक के मनोवैज्ञानिक, समाज शास्त्रीय, ऐतिहासिक तथा परम्परित ज्ञान-कोष पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। इनमें वैदिक, पौराणिक, वृहत् कथा, कथा सरितसागर, पंचतन्त्र, हितोपदेश आदि कथा-ग्रन्थों की कहानियों के मूल बीज परम्परित मिलते हैं; परन्तु इन पर आंचलिक प्रभावों की अधिकता है। अतः ये प्रादेशिक सम्पत्ति बन गई हैं।'[1]

---

1. हिमाचल प्रदेश : लोक-संस्कृति और साहित्य (डॉ० गौतम शर्मा 'व्यथित')

लोक नाट्य

लोक नाट्य लोक के मनोरंजन का प्रमुख परन्तु सरल साधन है। भारतीय नाटक के विकास का बीज भी लोक-नाट्य में निहित माना जाता है! लोक नाट्य में नागरिक मंच की भान्ति आडम्बर नहीं होता। समय की गति के साथ लोक नाट्य की स्थिति मंद चाहे पड़ी हो, परन्तु सर्वथा कुंठित नहीं हुई। डॉ० श्याम परमार ने इस पर पड़ने वाले प्रभावों की चर्चा इस प्रकार की है—"देश की घटनाएं इन्हें प्रभावित करती हैं, समाज की प्रचलित भावनाएं इनमें रस का संचार करती हैं और लोक भाषाएं इनकी अभिव्यक्ति में चार चांद लगा देती हैं। हमारे दशे में सभी कलाओं का सम्बन्ध धर्म से जुड़ा है। लोक नाट्य में मनोरंजन तो इसका बाहरी रूप ही है, आन्तरिक भाव में तो धर्मतत्त्व का प्राधान्य रहता है।"

हिमाचल के लोक नाट्यों में भगत, करियाड़ा या करियाला, बाँठड़ा तथा हरण-यात्र अधिक लोकप्रिय हैं। भक्त, करियाला तथा बांठरा मूल रूप में तो समान है, क्षेत्रीय प्रभाव के कारण थोड़ा-बहुत अन्तर या भेद अवश्य हो जाता है। सिरमौर तथा महासू क्षेत्र में करियाला तथा बिलासपुर-मंडी क्षेत्र बाँठड़ा का प्रचलन है। कांगड़ा-चम्बा में भगत का प्राधान्य है, तो किन्नौर में हरणयातर को अधिमान प्राप्त हे। करियाड़ा में मानवीय अनुभूतियों की अभिव्यथ्कत का माध्यम लोक सम्मत प्रतीक रहते हैं। इस सम्बन्ध में उल्लेख है—'करियाड़ा लोक नाट्य हिमाचल के लोक जीवन की अंतरंग झांकी इन्द्रधनुषी रंगों में प्रस्तुत करता है। यहां का हर्ष, विषाद, प्यार, द्वेष, आशा, निराशा आदि सभी मूल मानवीय अनुभूतियां करियाड़ा लोक नाट्य द्वारा विभिन्न लोक-सम्मत प्रतीकों के माध्यम से मुखरित होती है।[1] लोक नाट्य का प्रारम्भ मंगलाचरण से होता है। मनसुखा अथवा 'डंड' द्वारा कथावस्तु का परिचय दिया जाता है। कथ्य सामयिक परिस्थितियों का दिग्दर्शन करवाता है, परन्तु आधार ऐतिहासिक तथा पौराणिक ही रहता है। मुख्य पात्र 'मनसुखा' अथवा रौलू होता है और पात्र प्रायः सन्हाई, जुलाहा, झीर आदि जातियों से होते है। प्रसाधन तथा साज-सज्जा में स्थानीय वस्तुओं का ही प्रयोग होता है। सम्वाद सरल, संक्षिप्त, परन्तु चुटीले होते हैं। 'भगत' में तो मनसुखा का हास-परिहास ही आकर्षण का केन्द्र होता है। अधिकांश सम्वाद पद्यात्मक होते हैं। इन नाट्य रूपों के सम्बन्ध में डॉ० गौतम शर्मा 'व्यथित' का कहना है—मूलतः ये नाट्य रूप एक विशिष्ट वर्ग की सोच के दर्पण हैं। इनमें नृत्य गीतों का पर्याप्त

---

1. हिमाचल का लोक नाट्य—करियाला—श्री ओम चन्द हांडा (सोमसी)

प्रयोग रहता है। नाटी, गिद्दा, लुड्डी, डगी, डंडारस नृत्यरूपों तथा झंझोटी, मोहणा, गंगी, झूरिया, लामण आदि लोक गीत शैलियों को फरमाइशी रूप में प्रस्तुत किया जाता है।"[1]

हिमाचल में 'स्वांग' लोक नाट्य का भी प्रचलन है। प्रदेश के विभिन्न मेलों—रेणुका मेला (सिरमौर), मिंजर मेला (चम्बा), शिवरात्रि (मंडी), दशहरा (कुल्लू) आदि में स्वांग की परम्परा है, तो लोगों द्वारा देवी-देवताओं की मनौतियों में भी इनके स्वांग निकाले जाते हैं। इसे धर्मपरायण लोग एक धार्मिक कृत्य के रूप में लेते हैं। डॉ० वंशीराम ने किन्नौर क्षेत्र में इस परम्परा के निर्वाह की चर्चा इस प्रकार की है—'राक्षसो की प्रत्येक ग्राम में उपस्थिति मानी जाती है। यह कहा जाता है कि प्राचीन काल में इस क्षेत्र में भूत-प्रेतों तथा राक्षसों के कारण मनुष्य का बसना सम्भव नहीं था। परन्तु ग्राम देवताओं ने इन दुरात्माओं को गांव से बाहर भगा दिया। अब भी विभिन्न अवसरों पर मुखौटे लगाकर गांवों में कई प्रकार के उत्सव आयोजित किए जाते हैं। इनमें एकाधिक व्यक्ति राक्षसों के प्रतीक बनते हैं और दर्शक उन्हें बुरा-भला कहकर दूर भगाने का अभिनय करते हैं।'[2]

प्रदेश में पर्व सम्बन्धी स्वांग की भी परम्परा है। चंद्रौली, गूगा आदि के स्वांग भी सौन्दर्य का सृजन करते हैं। उपनयन तथा विवाह के अवसर पर भी स्वांग की परम्परा है। नानू के स्वांग का सांस्कृतिक महत्त्व स्वीकार किया जाता है।

देश के अन्य भागों की भान्ति रामलीला तथा रासलीला का भी इस प्रदेश में भव्य आयोजन होता है। रामलीला के विषय में कहा जाता है कि भक्त शिरोमणि तुलसीदास ने इसका श्रीगणेश किया और सर्वप्रथम उनकी प्रेरणा से ही, काशी में रामलीला हुई। रामलीला का आधार पौराणिक रामकथा है और रामचरितमानस के दोहे-चौपाइयाँ ही इसके प्राण हैं। रासलीला की भान्ति इसमें संगीत तथा नृत्य का प्राधान्य नहीं होता। चरित नायक की शालीनता, मर्यादा पर ध्यान रहता है और इसका रूप सम्वादात्मक होता है। श्रीकृष्ण की राधा तथा गोपियों के साथ क्रीड़ा रासलीला के नाम के प्रख्यात हुई। भक्तिकालीन रासलीला में आध्यात्मिकता का पुट अधिक था, परन्तु आगे चलकर यह रूप शिथिल पड़ गया। इसमें न तो रस का प्रवाह रहा और न ही संगीत की शास्त्रीयता। इसमें नृत्य, उक्ति-वैचित्र्य तथा वाग्विलास को प्रधानता मिली और उद्देश्य हो गया केवल मनोरंजन।

---

1. हिमाचल प्रदेश—लोक संस्कृति और साहित्य : डॉ० गौतम शर्मा व्यथित
2. किन्नर लोक साहित्य : डॉ० वंशीराम

इस प्रदेश में व्यापक स्तर पर रामलीला का आयोजन होता है। रामलीला मण्डिलियाँ अधिकांश नगरों-ग्रामों में स्थापित हैं। जो मंडली एक बार रामलीला का दायित्व संभालती है, वह आमतौर पर चौदह वर्ष तक इसका निर्वाह करती है। मध्य में इसे छोड़ना अधर्म माना जाता है। रामकथा के साथ-साथ लोकगीत भी प्रस्तुत किए जाते हैं। रासलीला करने वाले 'रासधारिए' भी प्रदेश में चर्चित हैं। इनके डेरे होते हैं, अत्यन्त लोकप्रिय डेरा है 'मांगो शाहे दा डेरा'! 'रामलीला' का मंचन तो पूर्ण रूप से धार्मिक अनुष्ठान स्वीकार किया जाता है।

लोकोक्ति साहित्य

लोकानुभूतियों का चित्रण, वैसे तो लोक साहित्य की सभी विधाओं में यथोचित ढंग से होता है, परन्तु लोकोक्तियों में यह चित्रगण अनूठा है। इन्हें लोक मानस का 'नवनीत' कहना सार्थक लगता है। इनमें 'गागर में सागर भरने' का गुण विद्यमान है। लोकोक्ति साहित्य तो ग्रामीण जनता का नीति शास्त्र है। इनके महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने लिखा है—'लोकोक्तियां मानव ज्ञान के चोखे और चुभते हुए सूत्र हैं। अनन्त काल तक धातुओं को तपाकर सूर्य राशि नाना प्रकार के रत्न-उपरत्नों का निर्माण करती है, जिनका आलोक सदा छिटकता रहता है। उसी प्रकार लोकोक्तियां मानवी ज्ञान के धनीभूत रत्न हैं, जिन्हें बुद्धि और अनुभव की किरणों से फूटने वाली ज्योति प्राप्त होती है।' 'कुवलयानन्द' में अप्पय दीक्षित ने लिखा है—'लोक प्रवादानुकृति रीति भव्यते'—अर्थात् लोक विख्यात किसी कथन के अनुकरण से ही लोकोक्ति बनती है। अरस्तु का कथन है—'तत्त्व ज्ञान के खण्डहरों से चुनकर निकाले हुए टुकड़े—बचा लिए गए अंश'! रसेल ने इसी सम्बन्ध में कहा है—'अनेकों का चातुर्य और एक की बुद्धि का चमत्कार (The wisdom of many & the wit of one) एग्रीकोला के अनुसार कहावतें वे संक्षिप्त वाक्य हैं, जिनमें आदि पुरुषों ने सूत्रों की तरह अपनी अनुभूतियों को भर दिया है। फ्लेमिंग के विचार से लोकोक्तियों में किसी युग अथवा राष्ट्र का प्रचलित और व्यावहारिक ज्ञान होता है। डॉ० श्याम परमार ने लोकोक्ति के स्वरूप को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—'जीवन के विस्तृत प्रांगण में भिन्न-भिन्न अनुभव सर्व-साधारण-जन के मानस को प्रभावित करके उसके अभिव्यक्ति सम्बन्धी अंग को उत्कर्ष प्रदान करते हैं। ये ही अनुभव लोकोक्तियां—कहावते हैं।' गढ़वाली में कहावतों के लिए 'पखाणों' या 'अखाणों' शब्दों का प्रयोग मिलता है, ये शब्द क्रमशः उपाख्यान तथा आख्यान के रूप हैं।

हिन्दी में प्रचलित अनेक लोकोक्तियों का आधार संस्कृत हैं। 'हत्कंकण' किं दप्पणेणा पेक्खी आदि'—हाथ कंगन को आरसी क्या?—'न क्षुधार्तोऽपि सिंहस्तृणं चरति'—सिंह भूखा रहकर भी घास नहीं चरता, 'आयसैरायसं छेद्यम्'—लोहा लोहे को काटता है—यह स्पष्ट उदाहरण है। लोकोक्तियों के मुख्यतः दो रूप होते हैं—पहेली, कहावत। पहेली बुद्धि-परीक्षा का साधन है! कहावत सूत्र रूप में होती है, पहेली विस्तृत! हावेल के अनुसार कहावतों की तीन प्रमुख विशेषताएँ हैं—Shortness, Sense & Salt। 'लाघत्व' लोकोक्तियों का प्रमुख गुण है। अनुभूति तथा निरीक्षण इनका प्राण हैं। लोकरंजन तथा प्रभावोत्पादकता भी इनके गुण हैं।

कहावतों के वर्गीकरण के चार आधार हैं—विषयानुसार, स्थानानुसार, भाषानुसार तथा जातीय अनुसार। इन कहावतों में देश-काल की छटा विद्यमान रहती है। पहाड़ी जीवन मूलतः कृषि-प्रधान है। इस प्रदेश में कृषि तथा व्यवसाय से सम्बन्धित अनेक कहावतों का प्रचलन हैं। निम्न कथन में खेती के बोने की प्रक्रिया का उल्लेख है—

कणक कमोदी सप्पणी, डांगा डांग कपाह।
ल्हेफे दीं बुकल मारीने, छलियां चो लंघी जा।।

इस कथन में अनुभव साकार हुआ है। ज्येष्ठ मास के अन्तिम आठ दिन तथा आषाढ़ के पहले आठ दिन खूब तप जाएं, तो भरपूर फसल होती है—'तपे तीर तां होए अमीर'! इसी प्रकार वैशाखी के दिन वर्षा होने से आम की फसल नष्ट हो जाती है—'बरया बसीआ, न अंब न कोआ'। पर्वतीय समाज में नारी की स्थिति, उसकी सोच एवं मानसिकता पर आधारित भी कई कथन हैं—

बेईरी री जात, ऐ भेड़ों सी बरात।—स्त्री की जात भेड़ की बारात सदृश है। कुरुपा स्त्री के साज-शृंगार पर निम्न कथन का व्यंग्यवाण कसा गया है—गंजी घुटारी चूंडिया अल्हा।

इस प्रदेश की कतिपय लोकोक्तियों तथा मुहवरों का परिचय यहां दिया जाता है।

लोकोक्तियां

1. चलण भी मंगणा, पथ भी अपना—किसी से उधार मांगते समय, पथ (माप) भी अपना ले जाना।

2. दूहक लेणा दूहीकरी, बाहक लेना बाही करी—दूध देने वाला पशु खरीदना हो, तो पहले दोहन करना चाहिए, घोड़ा आदि खरीदना हो, तो सवारी करके परख हो।
3. गट्‌ठी नी लिद कने थानेदार ने जिद—अपनी स्थिति का अनुमान लगाए बिना सम्पन्न-शक्तिशाली से शत्रुता करना।
4. नक्के ते कढया, जीभे ते रख्या—कार्य करने को दिया जाए और व्यक्ति इसे अधूरा छोड़ दे।
5. दो दिन दौड़ी के इक दिन खाए, भूखा होए सोह जनेती जाए—किसी कार्य में अधिक समय लगाना।
6. आएगा नादौन, जाएगा कौण—नादौन के प्राकृतिक सौन्दर्य में ऐसा लीन होना कि लौटने का मन न हो।
7. जिन्हां घरे दे चलन चलाने, सिर खोली बन्नन पाने—किसी व्यक्ति की रुचि किसी कार्य को करने में हो, तो वह साधन जुटा ही लेता है।
8. दे होए तां अत्तां बतां, रात पवै तां चरखा कत्तां—समय पर काम न करना।
9. जगत रोन छाईगी ते बुड्‌ड्डेंचां कलीड़ीदा—स्वार्थी का स्वार्थ साधना।

मुहावरे

1. दिनां जो ढक्के—जीवन दूभर होना।
2. सयाण्यां दा गलाया ने आंवले दा खादया पिच्छे तो याद ओंदा—बुद्धिमत्ता की बात समय पर न मानना, बाद में पछताना।
3. सुंडी दी कणी हत्थे आई गई—मूल्यवान वस्तु हाथ लगना।
4. गोच्छे दी जूं—मूल्यहीन वस्तु।
5. मोयां जो मारना—निर्बल को तंग करना।
6. माखी मारी करी माह करना—कंजूसी का प्रदर्शन।
7. मोहले-मोहले कन्न विझन—उपदेश देना।
8. मेरो इ मूंड मेरो इ पोललो—मेरा सर, मेरा ही जूता।
9. मुड़दा तिस्सेई किलनी टंगणा—ढाक के तीन पात।
10. बगानी सुथनी जंघ देणा—पराई बात में हस्तक्षेप करना।

इस प्रदेश की कहावतों के सम्बन्ध में डॉ० गौतम शर्मा 'व्यथित' का कथन अत्यन्त सार्थक है—"हिमाचली कहावतें स्थानीय लोक के चिन्तन, भावना तथा सामाजिक आत्मा की प्रतीक हैं। इनमें सामाजिक प्रेरणा का अनन्त स्रोत प्रवाहित

मिलता है। इनमें पहाड़ी जीवन की व्याख्या मिलती है।[1]

प्रहेलिका साहित्य (पहेलियां)

पहेली के लिए प्रहेलिका, प्रहेलि, बुझौबल, प्याली, उखाणा आदि शब्दों का प्रयोग होता है। संस्कृत में इसे 'ब्रह्मोदय' सम्बोधन प्राप्त है। हिमाचल के किन्नौर में इसके लिए 'शस्त्रड्' शब्द का प्रयोग है। डॉ० सत्येन्द्र ने पहेली को लोकोक्ति का ही एक अंग स्वीकार किया है, क्योंकि जिस प्रकार लोकोक्ति की सीमित शब्दावली में विस्तृत अर्थ निकलता है, उसी प्रकार पहेली में भी। यह बुद्धि परीक्षा का माध्यम है। लोक मानस इसके द्वारा अर्थ-गौरव की रक्षा करता है, मनोरंजन सुख भी प्राप्त करता है। आचार्य केशवदास ने पद्य में पहेली के स्वरूप का प्रतिपादन इस प्रकार किया है—

> बरनिय वस्तु दुराय जहँ, कौनहुँ एक प्रकार।
> तासों कहत प्रहेलिका कवि कुल बुद्धि उदार।।

डॉ० श्याम परमार ने पहेली निर्माण हेतु तीन विशेषताओं का उल्लेख किया है—पैनी दृष्टि, उक्ति वैचित्र्य तथा विनोद। कभी-कभी विद्वान् भी पहेली का उत्तर खोजने में असमर्थ रहता है। इसी कारण श्री रामनरेश त्रिपाठी ने पहेली को 'बुद्धि पर शान चढ़ाने का यंत्र' या स्मरण शक्ति और 'वस्तु ज्ञान बढ़ाने की कलें' कहा है। हिमाचल प्रदेश की कुछ पहेलियाँ इस प्रकार हैं—

1. कच्चा खाणा पकेरा मुल पाणा (सरसों)
2. काला हण्डू लाल भत्त सणे हण्डुए गरल गप्प फगूड़ा (अंजीर का दाना)
3. सिरी भिरी सिर भिरी संग शरीरी।
   पिठिमते चिघु चल कश्मीरी।। (ढाल)
4. रीणी बगड़ी रेडेड़ा वी संझा वाणा म्यागा लुणण। (तारों भरा आकाश)
5. एक चिड़ी चड़ डगे दार।
   त्यों रे बच्चे नौ हजार।। (अफीम का डोडा)
6. वणे च बड़ी, वणे च टुक्की,वणे च कित्ते हार संगार।
   वारहु वारिहां जले च रही, मूड़ी न दिक्खे घरबार।। (नौका)
7. बामी जिसदी पाणीएं भरियो, भखदी जिसदे ऊपर आग।

1. हिमाचल प्रदेश—लोक-संस्कृति और साहित्य : डॉ० गौतम शर्मा 'व्यथित'

बंसरिया दी घुन बजांदी, ताह्लू निकलदा काला नाग।। (हुक्का)

8. ओलहणी मोलहणी छारा अन्दर खोलहणी। (जूते)
9. बारह ओबरी इक्कोई थम्ह। (छाता)
10. पारे तो आया बाबा अंबी।
    अप्पूं होच्छा दाढ़ी लम्मी।। (जौ)

लोक नृत्य

ललित कलाओं में विशेष स्थान होने के कारण, नृत्य का भारतीय तथा पाश्चात्य जगत में समान रूप से महत्त्व स्वीकार किया गया है। 'नृत्त-सूत्र' में तो इसे मोक्ष का साधन स्वीकारा है—

देवताराधनं कुर्याद्यस्तु नृत्तेन धर्म वित्।
स सर्व कामानप्नोति मोक्षोपायं च विन्दति।।

नृत्य दो प्रकार के कहे गए हैं—शास्त्रीय, अशास्त्रीय। अशास्त्रीय नृत्य जिनमें नियमों का कठोर पालन नहीं, लोक नृत्य कहे जाते हैं। विश्व कवि टैगोर के अनुसार संस्कृति का सुखद सन्देश ले जाने वाली कला है लोक नृत्य। डॉ० हरिराम जसटा के अनुसार लोक नृत्य लोक कला का ही विशिष्ट रूप है, जिसमें ललित कलाओं के अनेक रूप समाहित है। लोकनृत्य में लोक नाट्य, संगीत, काव्य एवं वास्तुकला का सम्मिश्रण है। लोक नृत्य तथा शास्त्रीय नृत्य में यह अन्तर होता है कि लोक नृत्य में कलात्मकता का कोई संकल्पित प्रयास नहीं होता। अन्तर मनोवृत्ति का भी होता है। उल्लेख है—

The difference between folk dancing & classical dancing., Of which the former is the main spring, is largely one of attitude. There is no deliberate attempt of artistry in the folk dance.

(Folk Dances of India)

मूर्धन्य विद्वानू श्री राहुल सांकृत्यायन ने लोक नृत्य को जातीय एकता सुरक्षित रखने का शक्तिशाली माध्यम माना है। प्रख्यात कलाविद् डॉ० कपिला वात्स्यायन का मानना है कि भारत की नृत्य परम्पराओं का व्यापक अध्ययन तब तक सम्भव नहीं, जब तक कि ललित कलाओं के लोक पारम्परिक रूप का ज्ञान न हो। जब-जब नृत्य शैलियों पर अलंकरण हावी हुआ तो लोक परम्पराओं ने इन्हें विनाश से सुरक्षित कर नवजीवन दिया। उल्लेख इस प्रकार है—

The comprehensive study of dance tradition of India would

not be possible also without an awareness of rich folk/village traditions of the performing arts. They have continually provided vitality & sustenance to more sophisticated forms; whenever sophisticated forms reached a point of baroque ornateness verging on decadence it has been the full throated primordial folk traditions which have helped resurrection & thus survival.

—Kapila Vatsyayan (Indian Classical Dance)

हिमाचल के लोक नृत्य केवल धार्मिक उत्सवों तथा त्यौहारों तक ही सीमित नहीं, ये जन-जन के हर्षोल्लास के प्रतीक हैं और इनके माध्यम से क्षेत्रीय परम्पराओं को भी अभिव्यक्ति मिलती है। यहां का गडरिया नृत्य इतना सुकोमल, रोमांचक तथा मनमोहक है कि इसे सन् 1954 के लोक नृत्य महोत्सव में राष्ट्रीय विजयोपहार भी प्राप्त हुआ। इस प्रदेश के लोकनृत्यों के सम्बन्ध में श्री गुरमीत बेदी का कथन है—"जहां तक हिमाचली लोक नृत्यों का सवाल है, इनमें जीवन की उमंग तो झलकती ही है, देवत्व का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। इन लोक नृत्यों की विशेषता है कि कुछेक नृत्यों को छोड़कर बाकी सभी में पुरुष और महिलाएं साथ-साथ नाचते हैं।" श्री लक्ष्मी नारायण गर्ग ने इन नृत्यों की स्वच्छन्द छवि के सम्बन्ध में कहा है—"अधिकांश पहाड़ी लोकनृत्य किसी सीमा से नहीं बन्धे। पर्वतीय निर्झर की भान्ति वहां के लोक नृत्य भी स्वच्छन्द हैं। पांव चलते हैं और हाथ विभिन्न भावों को प्रकट करते हैं। हाथ और पांव के साथ-साथ उनका मुँह भी चलता है। इस प्रकार अपूर्व उल्लास और आनन्द इन नृत्यों में थिरकने लगता है।' लौकिक मान्यताओं तथा स्थानीय इतिहास को प्रतिबिम्बित करने वाले नृत्यों—देव नृत्य, राक्षस नृत्य, डंगी नृत्य, लासा नृत्य, नाटी नृत्य, नागस नृत्य, द्रोड़ी नृत्य, धरवेणी नृत्य, डुमाशोम नृत्य आदि का यहां प्रचलन है। प्रदेश के प्रमुख लोक नृत्य चार ही स्वीकार किए जाते हैं—बनजारा तथा गडरिया, घुघती, लावली बगावली तथा चौराहा। पंजाब के भंगड़ा तथा गिद्धा की भान्ति 'नाटी' हिमाचल की पहचान बन चुका है।

नाटी

कुल्लू के प्रसिद्ध लोक नृत्य नाटी का सम्बन्ध श्री कृष्ण की रासलीला से जोड़ा जाता है। कुल्लू, मंडी, महासू, चम्बा, सिरमौर आदि में नाटी के विभिन्न रूपों का प्रचलन है। कुल्लू की नाटी को 'सिराजी नाटी' का सम्बोधन प्राप्त है, जिसमें लोकगीत कुल्लू का होता है और इसके सुर-ताल का सम्बन्ध भीतरी सिराजी से। नाटी के वैसे तो बीस से भी अधिक भेद हैं, परन्तु श्री लक्ष्मी नारायण गर्ग ने चौदह

को ही प्रमुखता दी है—पदरागी, फेटी, दोहरी, लाहुली, लूड़ी, मगेल, खड़ायत, पदरावली बांठडा, चाइलु, उजगजमा आदि। इन नाटियों के स्वरूप का परिचय श्री लक्ष्मी नारायण गर्ग ने इस प्रकार दिया है—"इन सभी रूपों में पृथक्-पृथक् तालों और गतियों पर भिन्न-भिन्न लोकगीत गाए जाते हैं। नृत्यों के अनुसार ही ताल, अंगहार और पाद-विक्षेप आदि बदलते रहते हैं। इन तालों का चक्र प्रायः बारह मात्रा का होता है और नाटी की एक गोलाई आठ मात्रा की, पर इनका जोड़ ठीक ही बैठता है। यद्यपि नाटी नृत्य में घुंघरू का उपयोग नहीं होता पर पाद-विक्षेप ताल की रीति से ही होता है। श्री गुरमीत वेदी ने विभिन्न क्षेत्रों में नाटी के प्रचलित रूपों का दिग्दर्शन यों करवाया है—"सबसे तेज गति में की जाने वाली नाटी 'कड़माऊ' है, जिसमें नर्तक का सारा शरीर एक बारगी झकझोरा जाता है। कभी इस नृत्य की गति धीमी होती है तो कभी इतनी तेज हो उठती है मानो नर्तकों के शरीर में विद्युत प्रवाहित हो रही है। दूसरी तरफ मंडी के लुड्डी नृत्य की शुरुआत भी धीमी गति से होती है, मगर ज्यों-ज्यों गीत की लय बढ़ती जाती है, नर्तकों के पैरों की थिरकन भी तेज होती जाती है। कुल्लू की 'घूघती' नाटी के नर्तक एक-दूसरे की पीठ के पीछे खड़े होकर हाथ आगे वाले के कंधों पर रखकर एक लम्बी पंक्ति बनाते हैं। शिमला जिला की नाटियों में माला नृत्य की प्रधानता है। किन्नौर की 'क्यांग' नाटी सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इस नृत्य की विविधता वास्तव में पद-चाल, अंग-संचालन, ढोल की ताल तथा गीतों की अनेक रूपता पर निर्भर करती है।"

श्री लक्ष्मी नारायण गर्ग के अनुसार 'नाटी' पांच प्रकरणों में संपूर्ण होती है। इस नृत्य में नर्तकों की पोशाक होती है—शरीर पर कमीज और उस पर ऊन का घुटनों तक चोला, कमर में पटका, गले में रुमाल, चूड़ीदार पायजामा, मोजे तथा पूला जूता। शरीर पर जनेऊ की भान्ति चादर भी ओढ़ी जाती है। सिर पर काले रंग का टोपा, अनेकानेक प्रकार के आभूषण तथा बायीं ओर दो कलगियां। नर्तक फूल-मालाओं से लद ही जाते हैं। 'नाटी' में प्रायः पुरुष तथा महिलाएं अलग-अलग नृत्य करते हैं, परन्तु अब इस परम्परा में परिवर्तन हो रहा है। यह व्यावसायिक नृत्य न होकर समूचे लोक का नृत्य है। यह आवश्यक नहीं कि इस नृत्य में शामिल नर्तक शुरू से लेकर अन्त तक रहें, लोग आते-जाते रहते हैं—तारतम्य बना रहता है। इन नाटियों की, भले ही नाटी कुल्लू की हो या शिमला की, किन्नौर की हो या भरमौर की, विशेषता यह रहती है कि इनमें अभिनय स्वतः सिद्ध होता है, किसी पूर्व तैयारी की जरूरत नहीं होती। महिलाओं की नाटी में संगीत की लय गूंजती है—'भोआ रूपिए ओ, खेले रे एंजे मेरी भौंआ रुपिए' और पुरुष नाटी

में—'म्हारे राजेआ मेघासिंहा—म्हारे राजेआ'—तो शरीर में लहरों जैसी हिलोर आ जाती है—आनन्द की तरंगें फैल जाती है।

बनजारा-गडरिया नृत्य

हिमाचल के महासू क्षेत्र में प्रचलित इन नृत्यों में नर्तक गडरियों या बनजारों का रूप धारण कर, लोकगीतों की लय पर नृत्य करते हैं। नृत्य और लोकगीत का चोली-दामन का साथ है। 'पैरों में थिरकन आते ही स्वर फूट पड़ता है और शरीर की भाव-भंगिमाएं मुखर हो जाती है। उल्लास का सागर लहराने लगता है और इसी में नृत्य की सफलता है।

घुघती

इस नृत्य का नामकरण शायद घुघती पक्षी की क्रियाओं को दृष्टि में रखकर किया गया हो। यह पक्षी दाना चुगने के बाद मस्ती में झूमने लगता है। इस नृत्य में भी पक्षी जैसी मस्ती होती है। इस नृत्य में शारीरिक गति विशेष होती है। नर्तक अपने हाथों को अगले नर्तक के कंधे पर टिकाता है और अगले नर्तक 'घुघती' गीत गाते हैं, जबकि शेष दुहराते हैं। नृत्य करते हुए नर्तक मस्ती में आगे-पीछे, दाएं-बाएं झुकते हैं। नृत्य के आरम्भ में नर्तक मंडलाकार रूप धारण करते हैं। महिलाएँ पुरुषों के साथ यह नृत्य नहीं करतीं। ढोल की थाप पर नृत्य शुरू हो जाता है और नर्तक कबूतर की भाँति अपना गोल चक्कर पूरा करता है।

लालड़ी

यह लोकप्रिय महिला नृत्य है। इसमें महिलाएं दो दलों में विभाजित हो एक-दूसरे के सामने खड़ी हो जाती हैं। एक दल गीत शुरू करता है, तो दूसरा दल कमर झुका दोनों हाथों से ताली बजाता है। गीत की पंक्ति पूरी होने तक ये महिलाएँ आगे बढ़ती रहती हैं। फिर यही क्रम दूसरी पंक्ति का रहता है। इस नृत्य में ढोल, नगाड़ा, शहनाई आदि वाद्यों का प्रयोग नहीं होता। ताल-लय की व्यवस्था ताली के माध्यम से ही होती है।

लावली बगावली

इस नृत्य का आयोजन विवाह, फसल पकने तथा अन्य आनन्दप्रद संस्कारों के अवसर पर होता है। इस नृत्य में शहनाई, नरसिंहा, ढोलक, खड़ताल आदि वाद्यों की संगत रहती है। वादक नृत्य के समय एक ओर खड़े होकर या नृत्य

मंडली के घेरे में खड़े होकर संगीत की धुन छेड़ते हैं। नर्तक एक पग आगे, एक पग पीछे, फिर कुछ झुककर, फिर हाथों को ऊपर हवा में घुमाते हुए गोल घेरे में नृत्य करते हैं। नृत्य के इस हर्षोल्लास में दर्शक भी शामिल हो जाते हैं।

चौराहा

तिब्बत सीमा के निकट चम्बा क्षेत्र में प्रचलित इस महिला नृत्य में महिलाओं की साज-सज्जा देखते ही बनती है। वस्त्राभूषण का क्रम रहता है—गले में ओढ़नी, हरि या पीली अंगिया (कमर पर चुस्त भुजाओं पर ढीली), पैरों में ऊनी जूते, नाक में बुलाक और कानों में मोटी-मोटी स्वर्ण बालियाँ। नृत्य की पद्धति सम्बन्धित उल्लेख है—"दो-दो के समूह में नवयुवतियां मंच पर आकर वृत्ताकार में घूमती जाती हैं—दाएं डिप-डिप, बाएं डिप-डिप, हाथ कमर पर शरीर झूलता हुआ। यह प्रक्रिया दुहराई जाती है और फिर नाचने वालियों की दो पंक्तियां पहले स्थान पर पृथक्-पृथक् वृत्तों की रचना करती है। नृत्य चरम सीमा पर पहुंचता है तो शरीर का ओज स्वतः उद्दीप्त हो उठता है। प्रथम चक्कर में नवयुवतियां तालियां नहीं बजाती, परन्तु दूसरी बार तालियों का प्रयोग होता है।"[1] नृत्य समाप्त होने पर नर्तकियां एक-एक करके नृत्य स्थल से प्रस्थान करती हैं।

लुड्डी

मंडी क्षेत्र के इस प्राचीनतम नृत्य का आयोजन मुख्यतः विवाहोत्सव पर होता है। यहां के निवासियों के अनुसार इस नृत्य में महिलाएं सोलह गज का चोलू तथा चूड़ीदार पायजामा पहनती है—चोलू का निचला छोर बड़ा होता है और उस पर लाल-सफेद धारियां, पायजामा का भी यही रंग। परम्परागत आभूषणों से शृंगार होता है। ढोल तथा शहनाई की ताल पर नर्तक पंक्तिबद्ध होकर नाचते हैं। पाश्चात्य प्रभाव ने इस नृत्य शैली को विकृत करने का प्रयास किया है।

लाहुल-स्पिति के लोक नृत्य

इस क्षेत्र के लोक नृत्यों में चाम, ग्रिफी, शोन, शीनी, चोड़या प्रमुख है, जो सभी जातियों में प्रचलित है। यहां के 'बेटा' समूह में सम्मिलित लगभग पचास जातियों का मुख्य व्यवसाय ही 'नृत्य' है। समूह बुचान, गर, जाबरू, मुंकर आदि नृत्य भी प्रस्तुत करता है। प्रायः गोनपा जाति के लोग धार्मिक उत्सवों पर 'चाम

---

1. उत्तर भारत के लोक नृत्य : प्रो० मोहन मैत्रेय (उत्तर क्षेत्र सांस्कृतिक केंद्र, पटियाला)

नृत्य' प्रस्तुत करते हैं। नर्तकों की पोशाक भड़कीली होती है और वे मुखौटों का प्रयोग करते हैं। नर्तक चक्करदार घेरे में आगे बढ़ते हुए धीरे-धीरे उछलते हैं। नृत्य में नीला, पीला, आसमानी, नारंगी रंग प्रयुक्त होता है और नृत्य के मध्य हास्य प्रसंगों का भी समावेश होता है। 'चोड़या नृत्य' मूक अभिनय पर आधारित है। नृत्य में मुखौटों का प्रयोग होता है, वाद्य होता है ढोल।

ग्रिफी

ढोल की थाप तथा मसकवीन के सुरों के संग सम्पन्न होने वाले इस नृत्य में पुरुष तथा महिलाएं दोनों सम्मिलित होते हैं। नर्तक चक्कर में घूमते हुए लय से गाते हैं। शारीरिक चेष्टाएं इसी के अनुरूप होती है। 'जाबरू बेटा' समूह के इस नृत्य में महिलाएं तथा पुरुष—दोनों नृत्य करते हैं। नृत्य का आयोजन प्रायः विवाहोत्सव पर होता है। इस नृत्य में संगीत का प्रयोग नहीं होता। नृत्य का प्रथम भाग पुरुषों का होता है, तो दूसरा भाग महिलाओं का! पहले पुरुष गाते हैं और महिलाएँ उत्तर देती हैं। हाथों को पीठ के पीछे करके लम्बी शृंखला निर्मित की जाती है। 'मुकर' इस नृत्य में पुरुष-महिलाओं का संग रहता है। संगीत का माध्यम है 'हेसिस'। 'हेसिस' द्वारा गीत की पहली पंक्ति गाई जाती है और अन्य इसे दुहराते हैं।

बुचान 'बेटा' जाति के उप-समूह 'भुजेन' का यह प्रमुख नृत्य है। यह नृत्य मुखौटों से निर्मित मायवी रूपों तथा तलवारों के प्रयोग के कारण रोमांचक तथा प्रभावक होता है। गर तथा बुंकम नृत्य पर्याप्त समान है। इनमें पुरुष-महिलाएं समभागी होते हैं। नृत्य की गति 'गर' में धीमी होती है, पर 'बुंकम' में तीव्र। संगीत 'हेसिस' द्वारा होता है। यह नृत्य लामा लोग ही करते हैं। शन् तथा शाबू नृत्य महात्मा बुद्ध की स्मृति में गोंपा में आयोजित होते हैं। 'शन्' का अर्थ है—बुद्ध स्तुति। इस नृत्य में तार वाद्यों के प्रयोग से वातावरण अद्भुत हो जाता है। शाबू नृत्य त्यौहार नृत्य है, जो इन लोगों के हर्षोल्लास, मान्यताओं-परम्पराओं का प्रतीक है।

किन्नौर के लोक नृत्य

किन्नौर के किन्नरों का उल्लेख पौराणिक साहित्य तथा महाभारत में उपलब्ध है। इस क्षेत्र के लोक नृत्यों में क्यांग, चाम, चशमीक, तोशीमिक प्रख्यात हैं। क्षेत्र का मुख्य नृत्य क्यांग नाटी का ही एक प्रकार है। यह नृत्य पुरुषों-महिलाओं द्वारा

किया जाता है। नर्तक एक-दूसरे का हाथ पकड़कर माला का रूप-आकार बनाते हैं। इनका नेता होता है याक के बालों से निर्मित चंवर पकड़े एक व्यक्ति। नर्तक आगे-पीछे पग रखते हुए मन्द स्वर में गायन करते हैं। वाक्यांग नृत्य केवल महिलाएं ही करती हैं। बांगपर क्यांग में लोकगीत का गायन नहीं होता, नृत्य के साथ संगीत ध्वनि ही चलती है। सिंह क्यांग इस नृत्य में केवल पुरुष नर्तक ही भाग लेते हैं। बुरी आत्माओं को दूर रखने हेतु यह नृत्य होता है और उनके प्रतीक के रूप में वृक्षों की शाखाओं से बने सर्पों का दमन होता है। साँप को 'बाहस' कहते हैं, जिसका निर्माण शीत ऋतु में किया जाता है।

इस क्षेत्र में आदिम जीवन का स्मरण करवाने वाले देव तथा राक्षस नृत्य भी आयोजित होते हैं। राक्षस नृत्य मुखौटे धारण कर किया जाता है, जो तीन, पांच, सात या नौ की संख्या में होता है। राक्षस नृत्य छम्म का स्वरूप भंगड़े जैसा होता है और इसमें लामा ही नाचते हैं। नृत्य में भूत-प्रेतों को भगाने के दृश्य होते हैं। कर्मकाण्डपूर्ण इस नृत्य में पद-चालन की गति तीव्र होती है। चश्मीक विवाहोत्सव नृत्य है, जिसके दो प्रकार होते हैं—एक में केवल वाद्यों का प्रयोग होता है, तो दूसरे में लोक गीत का! इसके भेद बुराचंग में मुखौटों का प्रयोग होता है। तोशीमिक शीत ऋतु का नृत्य है, जिसमें नवयुवक नवयुवतियां सहभागी होते हैं। आदिवासी क्षेत्रों में याक नृत्य का भी प्रचलन है।

चम्बा क्षेत्र

इस क्षेत्र का प्रसिद्ध नृत्य है डंडारस! ढोल पर धमाल एवं लाहौली आदि तालों पर मन्द तथा तीव्र गति में जब यह नृत्य किया जाता है, तो मादकता का वातावरण बन जाता है। इसी संदर्भ में उल्लेख है—'लाहौली मन्द गति का ताल है। इसमें नर्तक पांव को एक, दो, तीन की संख्या के क्रम से भूमि पर पटकते, हाथों को ऊपर-नीचे उठाते-गिराते, मस्ती के आलम में गोलाकार नृत्य करते हैं। हे-हे तथा शी-शी की ध्वनियां निरन्तरता तथा तन्मयता की सूचक बनती है। चोला और चूड़ीदार पायजामा तथा ऊनी टोपी पहने, हाथ में रुमाल लिए नर्तक नृत्य करते हुए जब विभिन्न भाव-भंगिमाओं का प्रदर्शन करते हैं, तो चम्बा घाटी का लावण्य तथा सौन्दर्य साकार हो जाता है।[1]

डंगी इस क्षेत्र का महिला नृत्य है, जिसकी प्रस्तुति धार्मिक पर्वों, जागरणों तथा विवाहों के अवसर पर की जाती है। यह नृत्य खड़ी पंक्तियों तथा वृत्त में

1. उत्तर भारत के लोक नृत्य : प्रो० मोहन मैत्रेय (उत्तर क्षेत्र सांस्कृतिक केंद्र, पटियाला)

होता है। सुन्हीं-भूखू के प्रणय गीत का मन्द, परन्तु मधुर गायन होता है। नृत्य में आद्योपांत मन्द गति ही होती है। नृत्य में महिलाओं की संख्या में कमी-वृद्धि होती रहती है। नृत्य के लावण्य ने इसे लोकप्रियता प्रदान की है। 'धुरेती' भी इसी क्षेत्र का एक भावपूर्ण नृत्य है।

सिरमौर के नृत्य

सिरमौर तथा आसपास के क्षेत्र में प्रचलित लोक नृत्य हैं—झूरी, ठडईर, रासा, गी, धरवेणी, द्रौड़ी तथा पड़ुआ! 'झूरी' नृत्य की प्रस्तुति स्वच्छंद वातावरण में ताल के साथ की जाती है। 'गी' की भान्ति इस नृत्य में भी प्रश्नोत्तर रूप अपनाया जा सकता है। प्रत्येक कड़ी के अन्त में 'हू-हू' का उच्चारण होता है। 'गी' में नर्तक वृत्ताकार खड़े गायकों के मध्य नृत्य करता है। इसमें ताल रहता है—1, 2, 3 खाली तथा 4-5। नर्तक को बाहें फैलाकर चक्कर लगाना अनिवार्य होता है। ठडईर की प्रस्तुति रौद्र ताल पर होती है। इसमें नर्तकों के एक हाथ में गंडासा, डंडा, तीर-कमान पकड़ा होता है और वे नाचते, प्रतिद्वंद्वी को ललकारते उसकी ओर बढ़ते हैं। नृत्य में ऐतिहासिक कथ्यों को दुहराया जाता है। रासा नृत्य एकता का प्रतीक है, जिसकी प्रस्तुति नर्तक ताल के अनुसार कदमों को आगे-पीछे करके, झूमते-बैठते-मुड़ते हुए करते हैं।

पंजाब से लगते क्षेत्रों में 'कीकली नृत्य' का प्रचलन है। यह अवयस्क लड़कियों का, खेल के उद्देश्य से किया गया नृत्य है! कांगड़ा, हमीरपुर, ऊना आदि क्षेत्रों में पंजाब के लोकप्रिय नृत्य भंगड़ा का भी प्रचलन है।

हिमाचल की लोककलाएं

भारत में सभी कलाओं का सम्बन्ध धर्म से जोड़ा गया है। हिमाचल इसका अपवाद नहीं, यहां भी कला का नाता धार्मिक आस्थाओं तथा सांस्कृतिक परम्पराओं से है। यह यहां के जीवन की अपेक्षाओं तथा वास्तविकताओं का प्रतिबिंब है। यहां की लोककला के कई रूप हैं—मूर्तिकला, काष्ठकला, वास्तुकला (स्थापत्य), चित्रकला तथा विविध व्यावसायिक लोककलाएं। वास्तुकला तथा चित्रकला की स्वतन्त्र रूप से चर्चा इसी पुस्तक में हो चुकी है। अन्य रूपों की संक्षिप्त चर्चा यहां प्रस्तुत है।

मूर्तिकला

हिमाचल प्रदेश में मूर्तियों के दो प्रमुख रूप ही रहे हैं—पौराणिक (देवी-देवता) तथा मानव मूर्तियां तथा पशु मूर्तियां। देवी-देवताओं में शिव, विष्णु, देवी की

मूर्तियां प्रमुख हैं—कहीं ये देव अकेले हैं, तो कहीं अपनी पत्नियों के साथ। अधिकांश मूर्तियों का आधार ब्राह्मणवादी आस्था है। पुजारी आराध्य देव की विशेषताओं और उसके स्वरूप का जैसा विवरण प्रस्तुत करते, मूर्तिकार उसे साकार करने का प्रयास करते। मानव मूर्तियों में गंधर्व, गण, राजपुरुष, द्वारपाल, सेवक आदि ही प्रधान रहे हैं। प्रदेश के मन्दिरों में पशु मूर्तियां अधिक नहीं। हाथी, बैल, शेर, पक्षियों, मछलियों, सांपों की मूर्तियां हैं—पशु देव-वाहन जो हैं। मंडी के पंचवक्ता मन्दिर में ऐसी मूर्तियां हैं। मसरूर तथा हाटकोटी के मन्दिरों में मछलियों को उकेरा गया है।

प्रदेश में धातु, लकड़ी तथा पाषाण प्रतिमाएं उपलब्ध है। इनकी शैली मुख्यतः परवर्ती गुप्तकालीन शैली से प्रभावित है, परन्तु राजपूत कला एवं स्थानीय परम्पराओं की रंगत इस शैली में है। जहां तक धातु मूर्तियों का सम्बन्ध है, ये मूर्तियाँ कांस्य तथा अष्टधातु की हैं। उत्तरी भारत में प्रतिहारों के शासनकाल (सन् 750 से 1930) में कांस्य मूर्तियों के निर्माण की परम्परा थी। हिमाचल में भी कांस्य मूर्तियों के निर्माण की परम्परा के संकेत मिलते हैं। जिला शिमला, निरमंड, भरमौर बजौरा, छतराहड़ी में इन मूर्तियों के निर्माण केन्द्र रहे हैं। स्कंद कार्तिकेय गणेश, उमा-महेश्वर, विष्णु, महिषासुर मर्दिनी आदि रूप कांस्य मूर्तियों में में लोकप्रिय रहे! छटी शती की कार्तिकेय कांस्य मूर्ति अत्यन्त भव्य है। हाटकोटी मन्दिर की महिषमर्दिनी मूर्ति सातवीं शती की बताई जाती है। यह मूर्तिकला का सुन्दर उदाहरण है—एक-एक अंग सटीक तथा सप्राण है। ब्रह्मौर तथा चतरारी (चम्बा) के मन्दिरों में अष्टधातु से निर्मित भव्य प्रतिमाएं हैं। इनके निर्माता प्रसिद्ध मूर्तिकार गुग्गा कहे जाते हैं, जिनका सम्बन्ध चम्बा के राजा मेरु वर्मन (आठवीं शती) से बताया जाता है। लखना देवी, नरसिंह, शक्तिदेवी, नंदी की मूर्तियों में उच्चकोटि का कलाबोध झलकता है। चम्बा के हरिराय मन्दिर की नवीं शती में निर्मित चम्बा शैली की विष्णु मूर्ति भी अपना उपमान आप है। इस अष्टधातु की भारी मूर्ति के सम्बन्ध में डॉ० मोती चन्द्र का कहना है कि पूरी दुनिया में इस प्रकार की किसी मूर्ति के अस्तित्व का ज्ञान नहीं। यह चतुर्मुखी 1.17 मीटर ऊंची मूर्ति नक्काशीयुक्त स्तम्भों पर स्थित है।

लकड़ी की मूर्तियां ब्रह्मौर के लखना देवी मन्दिर, शक्ति मन्दिर (चतरारी), मुकुला देवी मन्दिर (उदयपुर), हाटकोटी के शिव मन्दिरों में अपनी भव्यता लिए हुए हैं। अधिकांश मूर्तियां, छतों, दीवारों, द्वारों पर खुदी हैं।

प्रदेश में प्राप्य अधिकांश मूर्तियां पत्थर से निर्मित हैं। मसरूर के आठवीं शती

के मन्दिरों की पाषाण प्रतिमाओं में सादगी है। महिषासुर मर्दिनी की मूर्ति में रेखाओं की व्यवस्था और कलात्मकता स्पष्ट है। नागर, जगत सुख तथा दशाल में मूर्तियों की भव्यता दर्शनीय है। चम्बा की विष्णु तथा लक्ष्मी मूर्तियों का निर्माण काल दसवीं शती है और ये मूर्तियां परवर्ती गुप्त काल तथा राजपूत शैली का समन्वित प्रतीक हैं। कुल्लू में कार्तिकेय की मूर्ति भी संतुलित तथा भव्य है। त्रिलोकनाथ मन्दिर (मंडी) की काली देवी, महादेव मन्दिर, पंचवक्ता शिव, अर्धनारीश्वर आदि अनेक मूर्तियां कला का उत्कृष्टतम उदाहरण है। जनजातीय क्षेत्रों में उपलब्ध मूर्तियों का स्वरूप स्थानीय जन-धारणाओं के अनुरूप है। ग्रामीण क्षेत्रों की गुगा मढ़ियों में गूगा, गूगड़ी तथा उनकी सेना की मूर्तियां पत्थर से कलात्मक ढंग से तराशी गई है।

काष्ठकला

इस प्रदेश में काष्ठकला के दो रूप उपलब्ध हैं—काष्ठ मन्दिर तथा लकड़ी में उकेरी गई मूर्तियां एवं चित्र! प्रदेश के जनजातीय क्षेत्रों मिधल, छत्राहड़ी, भरमौर, पराशर, करसोग, मूरंग, सराहन, विल्बा, मनाली आदि में निर्मित काष्ठ मन्दिर वास्तुकला के अन्यतम उदाहरण हैं। लकड़ी पर खुदे चित्र भी बेजोड़ है। पाश्चात्य विद्वान हर्मन गोट्ज ने इन मन्दिरों में उपलब्ध काष्ठकलाकृतियों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उसके अनुसार ये कलाकृतियाँ अद्भुत है। नीरथ (शिमला) के सूर्य मन्दिर के प्रवेश द्वार पर उत्कीर्ण नंदी-आरोही शिव, बीजट देवता (चौपाल) के मन्दिर के प्रवेश द्वार पर उत्कीर्ण सैनिकों, खड्ग नृत्य आदि के दृश्य अत्यन्त सजीव एवं चमत्कारी है। मलाना (कुल्लू) के एक स्तम्भ पर मैथुन क्रिया का दृश्य है! घरों के द्वारों, स्तम्भों, छतों, बरामदों में भी लकड़ी की कला की भव्यता दृष्टिगोचर होती है। कुल्लू, शिमला, चम्बा, भरमौर, कांगड़ा आदि के अनेक सम्पन्न घरों के प्रवेश द्वार पर ऋद्धि-सिद्धि दाताश्री गणेश उत्कीर्ण मिलेंगे। स्तम्भों पर उत्कीर्ण पशु-पक्षी तथा जन-जीवन से सम्बद्ध दृश्य सहज ही दृष्टिगोचर होते हैं। चम्बा के पहाड़ी शैली के मन्दिरों में लकड़ी पर जिस निपुणता तथा एकाग्रता से पौराणिक प्रसंगों, गन्धर्वों, अप्सराओं का उत्कीर्ण हुआ है, यह सिद्ध करता है कि चम्बा में काष्ठकला चरमोत्कर्ष पर थी!

हस्तशिल्प

पहाड़ी लोककला-शिल्प में पहाड़ी रुमाल, जिसे चम्बा रुमाल के रूप में प्रख्याति प्राप्त है, का विशिष्ट स्थान है। ऐसी मान्यता है कि यह कला जम्मू से

चम्बा में आई और राजा संसारचन्द्र के शासन-काल में इस कला का प्रसार कांगड़ा तथा राज्य के अन्य भागों में हुआ। यह भी कहा जाता है कि इस अनूठे हस्तशिल्प का श्रीगणेश राजा जयसिंह के काल में हुआ। चम्बा रुमाल में किसी ऐतिहासिक प्रसंग या रासलीला के दृश्यों को दोहरे टांकों की कढ़ाई से प्रस्तुत किया जाता है। यह कार्य इतनी निपुणता तथा कुशल सूक्ष्मता से किया जाता है कि यह जान पाना सहज नहीं होता कि कौन-सा भाग सीधा है और कौन-सा उल्टा। इस कलात्मक कृति को विवाह सम्बन्ध या मित्रता के प्रतीक के रूप में भेंट किया जाता है। चम्बा नरेश गोपाल सिंह ने, कुरुक्षेत्र युद्ध चित्रित रुमाल, ब्रिटिश रेजीडेंट को भेंट किया था। अब यह रुमाल विक्टोरिया एवं अल्बर्ट संग्रहालय लंदन में सुरक्षित है। आमतौर पर ये रुमाल वर्गाकार होते हैं, कहीं-कहीं अधिक लम्बाई तथा कम चौड़ाई भी देखने में आई है। इन रुमालों पर रंग-बिरंगें पक्के रेशमी धागों से रासलीला, कृष्णलीला, राग-रागनियों, पौरराणिक दृश्यों का सुन्दर अंकन होता है। फुलकारी में कशीदे गए चित्रों के मध्य गोलाकार शीशों से भी सज्जा की परम्परा है।

चम्बा में चर्म हस्तशिल्प ने व्यवसाय का रूप धारण कर लिया है। चम्बा में रियासती काल से 'चम्बा चप्पल' निर्माण का कार्य हो रहा है, परन्तु अब यह हस्तशिल्प व्यवसाय का रूप धारण कर गया है। मर्दाना चप्पलों पर यद्यपि सुनहरे तिल्ले का काम नहीं होता तथापि इनके डिजाइन आकर्षक होते हैं। महिलाओं के लिए बनाई गई चप्पलों पर सुनहरी काम प्रचलित है।

पहाड़ी हस्तशिल्प कला के अनुपम नमूने थापड़ा, कोहारा (दीवार पर टांगने का कपड़ा), चोलियों, टोपियों पर की गई कशीदाकारी के रूप में मिलते हैं! कुल्लई, सिरमौरी, किन्नौरी तथा लाहौली टोपियों में भी इस शिल्प का भव्य रूप साकार हुआ है। कुल्लू के शाल-दुशाले, लाहौल के नमदे, गलीचे भी अपने कला-सौष्ठव के कारण विख्यात हैं। रंग-बिरंगे पुराने कपड़ों की कतरनों को जोड़कर निर्मित बिछौने भी कम आकर्षक नहीं होते। कपड़े की रंगाई तथा छपाई कभी यहां की हस्तकला का महत्त्वपूर्ण अंग रहा है। श्री लाकवुड किपलिंग ने इस कला की सराहना इस प्रकार की है—'यह विद्या कांगड़े की असाधारण विशेषता है। यहां छपे हुए कपड़ों में निश्चय ही दिल्ली से भी अधिक सफाई पाई जाती है।'[1] जनजातीय लोग आमतौर पर फराहड़े तथा छींबे जाति के लोगों के द्वारा छापे गए, रंगे गए वस्त्रों का प्रयोग करते हैं। गद्दणों की लुआंचड़ियाँ (गाउन जैसा वस्त्र) तथा

1. जन साहित्य : पार्वती लोकमानस विशेषांक (1966)

चोले में इसी लोककला के दर्शन होते हैं।

लोककला का प्रयोग यहां निर्मित आभूषणों में भी मिलता है। कुल्लुई, सिरमौरी, किन्नौरी, पंगवाली, भरमौरी जनजातीय महिलाओं के आभूषणों में यह कला अनुपम रूप में साकार हुई है। लोककला का एक रूप कांस्य तथा पीतल के बर्तनों पर चित्रलेखन है। कांगड़ा के गंगथ उपनगर में पीतल के बर्तनों का कार्य प्रसिद्ध रहा। पीतल के जलपात्रों—मुसरब्बों, चरोटियों (पीतल के बड़े बर्तन), गिलासों आदि पर 'फ्लोरल पेटिंग' तथा सूक्ष्म-चित्र-परम्परा विद्यमान थी। अब भी चम्बा, कुल्लू, सिरमौर, किन्नौर के जनजातीय घरानों में इस प्रकार के बर्तन सुरक्षित हैं।

किन्नौर, कुल्लू आदि क्षेत्रों में मुखौटे बनाने की भी परम्परा है। इन मुखौटों का प्रयोग लोक-नाट्यों तथा लोक-नृत्यों में होता है। इस प्रदेश में 'गोदना' की परम्परा भी प्रचलित हे। स्त्रियां इस कार्य में होने वाली पीड़ा को दांत तले दबा, बड़ी रुचि से शरीर के विभिन्न अंगों पर गोदना गुदवाती है। इस कला से विश्वास तथा परम्पराएं जुड़ी हैं।

हिनोप्लास्ट्री (Rhenoplastry)

इसे लोककला का नाम दें या शल्य क्रिया का कमाल, कांगड़ा इस विशिष्ट कार्य-विधि के कारण विश्व-भर में विख्यात रहा है। श्री बार्नस की सन् 1850 की 'सैटलमेंट रिपोर्ट' में इस हुनर की चर्चा यों है—" 'हिनोप्लास्ट्री' में कांगड़ा के सर्जन कमाल की दक्षता रखते हैं। ये लोग कटी हुई नाक की जगह नई नाक लगा देते हैं। यह नाक असली नाक की भान्ति घ्राण शक्ति का पूरा काम देती है। इसके लगाने के लिए व्यक्ति को कपोल या मस्तक से सानुबंध मांसपिंड काटकर कटी हुई नाक के स्थान पर भर दिया जाता है। हाथ की सफाई के कारण यह आरोपण कृत्रिम मालूम नहीं पड़ता और चेहरे के सौन्दर्य में भी कोई अन्तर नहीं पड़ता।" मैक्समूलर ने भी स्वीकार किया है कि महारानी विक्टोरिया के शासनकाल में यूरोप के डॉक्टरों ने यह कला भारत के सर्जनों से सीखी थी। श्री रघुनन्दन शास्त्री ने अपने एक लेख में दर्शाया है कि उन्होंने 1927 में इस जाति के अन्तिम सर्जन सुन्दर से मुलाकात की थी। उस समय उसकी आयु 70-75 वर्ष की थी। श्री सुन्दर ने श्री शास्त्री के सम्मुख ऐसे प्रमाण प्रस्तुत किए जो इस शल्य क्रिया के साक्षी थे।[1] इस विधि का पालन करने वालों को 'नकेहड़े' सम्बोधन प्राप्त था।

□□□

1. जन साहित्य : श्री रघुनंदन शास्त्री

हिमाचल के धार्मिक स्थल : मन्दिर गोम्पा

मन्दिर-रूप विधान तथा विग्रह

मन्दिर हिन्दू चिन्तन के अनुसार, परमात्मा का निवास है और यह परमात्मा समस्त विश्व में आधारभूत आत्मतत्त्व के रूप में विद्यमान है! परमात्मा के दोनों रूपों—निराकार एवं साकार की पूजा-अर्चना का विधान है। साकार-पूजन में निवास की व्यवस्था अपेक्षित रहती है और इसे ही देवालय, शिवालय, देवायतन की संज्ञा प्रदान की जाती है! इस देवालय में मूर्ति-स्थापना के साथ ही सार्थक साकार-पूजन का श्रीगणेश माना जा सकता है। इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए श्रीकृष्ण देव ने लिखा है—'To the Hindu, the temple is the abodc of God who is the spirit immanent in the universe. The temple, therefore, is known by such terms as devalaya, shivalya and devayatana. Hence worship constituting the living use of the temple with the installation of life in the form of the deity in the sanctum.'[1]

वैदिक साहित्य में 'देवालय' शब्द का प्रयोग मिलता है, जिससे स्पष्ट है कि वैदिक समाज में देवता के रूप और उसके निवास की स्थिति अज्ञात न थी। यह बात अलग है कि ईसवी सन् के आरम्भ से देव-पूजा का जो रूप प्रचलित रहा है, वह पहले वैदिक साहित्य में नहीं था। डॉ० वासुदेव उपाध्याय का मानना है कि वैदिक परम्परा में मन्दिर का स्थान था। कथन है—"इष्ट देव के स्थान निश्चित थे, जिन्हें देवस्थान, देवायतन, देवालय या मन्दिर की संज्ञा दी जा सकती है—यह कहना उचित न होगा कि वैदिक परम्परा में मन्दिर के लिए स्थान न था।[2] 'देव' शब्द की उत्पत्ति—'दिवू' या 'द्यौ' से मानकर—अर्थ चमकने वाला या कान्तिमान ही लेना होगा। संस्कृत में 'देव' शब्द है तो ग्रीक में 'घ्यूस', जर्मन में 'ज्यू' और

---

1. Temples of North India : Sh. Krishna Deva – Page 1, (National Book Trust, India)
2. प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मन्दिर—डॉ० वासुदेव उपाध्याय (बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना) (पृष्ठ 114)

कैल्टिक में देवोस! निरुक्तकार यास्क ने शब्द के प्रचलित अर्थ के प्रयोग पर बल देते हुए इस प्रकार व्याख्या की है—'देवो दानाद् द्योतनाद् दीपनाद् वा'। देवों में अतिमानवीय तथा अतिप्राकृतिक शक्तियों का निवास माना गया है और जो अजर-अमर होते हैं। अधिकांश उपनिषदों में देव का उल्लेख 'मनुष्य से भिन्न जाति' के रूप में हुआ है, परन्तु श्वेताश्वतर उपनिषद में देव का अर्थ परब्रह्म ही स्वीकार किया गया है—

विश्वतश्चक्षुस्त विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
स बाहुभ्यां घमति सं पतत्रै धार्वाभूमी जनयन् देव एकः।।

मन्दिर निर्माण कार्य यज्ञ-समान स्वीकार किया गया है। यह एक ऐसी पवित्र भेंट है जो निर्माता और उसके वंशजों का तो कल्याण करती ही है, इससे पूजा-अर्चना करने वाले श्रद्धालुओं को भी अलौकिक ऊर्जा प्राप्त होती है, जो उनके जीवन को सार्थक अर्थ देती है। उल्लेख है—'Building a Hindu temple is comparable to the performance of a sacrifice. It is an offering or an act of pious dedication which brings merit to the builder & his family and vicariously to the devotee who visits the temple & to his relations. The devotee is not a mere spectator, he perceives & worships & thus fulfils the two objectives he has in visiting a temple.[1]

मन्दिर के रूप विधान को मूर्त रूप देना कोई सुगम कार्य नहीं था, युगों तक इस पर विचार हुआ होगा और अनेकानेक कलाकारों ने ध्यानावस्थित होकर चिन्तन भी किया होगा! भारतीय वास्तुशास्त्र का विकास इसी का परिणाम था! भारतीय मन्दिरों के निर्माण के पीछे निश्चय ही मानव-देह की कल्पना रही होगी। इस सम्बन्ध में डॉ० वासुदेव उपाध्याय का कथन है—"कलाकारों ने सही विचार किया कि जो परमात्मा मनुष्य के शरीर में अंतर्हित है, सूक्ष्म रूप में विराजमान है, उसी (इष्ट देव की मूर्ति) की प्राण-प्रतिष्ठा कर देवालय में रखते हैं। अतएव, मूर्तिकारों ने उस देव की मानवाकृति (Anthropomorphic form) तैयार की, जिसे मन्दिर के गर्भगृह में स्थापित किया गया। अतः यह कहना यथार्थ होगा कि देवता का आवास मन्दिर को मनुष्य के शारीरिक अंगों के सदृश व्यक्त (प्रत्यक्ष रूप) किया गया।[2] मन्दिर का निर्माण कार्य मूल रूप से जिस चबूतरे पर शुरू होता

1. Temples of North India : Sh. Krishna Deva – Page 2-3, (National Book Trust, India)
2. प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मन्दिर—डॉ० वासुदेव उपाध्याय (बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना) (पृष्ठ 201)

है और जो मन्दिर के समूचे बोझ को अपने ऊपर लेता है, उसे 'पाद' की संज्ञा दी जाती है। मानव शरीर का बोझ भी तो उसके पांव ही सम्भालते हैं। पाद से ऊपर का भाग पैर तथा जांघ का रूप है। 'कटि' वह स्थिति है, जहां से मन्दिर का भीतरी भाग दृश्यमान होता है! भीतरी भाग पेट का द्योतक है। छत छाती तथा स्कंध का संकेत देती है। शीर्ष में मानव का शरीर रूपायमान होता है। शीर्ष के दो रूप उपलब्ध हैं—विष्णु मन्दिरों में शिखर का आविर्भाव हुआ, परन्तु दक्षिण के शिव मन्दिरों का शीर्ष-गुंवज स्तूप के आकार का सा है।

वैदिक भक्ति के तीन प्रमुख अंग हैं—स्तुति, प्रार्थना तथा उपासना, जिनका वैदिक युग में निर्वहण मुख्यतः खुले में ही होता। मन्दिरों के निर्माण पर यह परम्परा एवं विधि-विधान मन्दिर परिसरों में सीमित हो गया। अपने इष्ट देव की मूर्ति के सम्मुख श्रद्धालु भक्त पूजा-अर्चना एवं मन्त्रोच्चारण करता। मन्त्र द्वारा साधक ध्वनि विशेष का उच्चारण करता है और जप इसी क्रिया की पुनरावृत्ति है, जो अभीष्ट सिद्धि का आधार बनती है। मन्दिर के गर्भगृह में देव-प्रतिमा की स्थापना इस प्रकार से की जाती है कि उसके सम्मुख साधक द्वारा उच्चारित मन्त्र की ध्वनि-तरंगें उस देवता को स्पर्श कर सकें। ये ध्वनि-तरंगें, वायुमण्डल में प्रसारित-प्रतिध्वनित होकर जब बार-बार उस देव को स्पर्श करती हैं, तो वह ही सम्वेदनशील नहीं होता, साधक को इनसे विशेष ऊर्जा प्राप्त होती है। देव-प्रतिमा की अनेक बार परिक्रमा में भी सकारात्मक ऊर्जा प्राप्ति का रहस्य छिपा है। भारतीय मनन-चिन्तन में एकाग्रचित्त तथा एकान्त शान्त वातावरण को प्रधानता प्राप्त है। इष्टदेव की पूजा-अर्चना व्यक्तिगत रूप में ही श्रेयस्कर स्वीकारी जाती है। बौद्ध धर्म के अन्तर्गत चैत्य अथवा विहार में व्यक्तिगत एवं सामूहिक पूजा-अर्चना का प्रचलन था। कालान्तर में ब्राह्मण मत ने भी इसी पद्धति का अनुकरण किया, जिसके फलस्वरूप मन्दिरों में भी सामूहिक कथा-कीर्तन हेतु कक्ष या सभा भवन निर्मित होने लगे! युगीन आवश्यकताओं के अनुरूप मन्दिर-वास्तुशिल्प का परिमार्जन-संशोधन होता रहा।

प्राचीन मन्दिर प्रायः काष्ठ के होते थे। गुप्त युग से जहां मन्दिर निर्माण में ईंटों का प्रयोग होने लगा वहां निर्माण हेतु समतल भूमि का भी चयन हुआ। मन्दिर-निर्माण की प्रत्यक्ष परम्परा का श्री गणेश कब हुआ, इसमें मत-मतान्तर हैं। श्री राय कृष्णदास का अपनी पुस्तक 'भारतीय मूर्ति कला' (पृष्ठ 44) में कथन है—"मन्दिर-स्थापत्य विकास स्वतन्त्र रूप से और अशोक के पहले से ही हुआ जान पड़ता है।' श्री हैवेल का भारतीय जीवन और भारतीय कलाओं के सन्दर्भ में

कथन इसी ओर इंगित करता है कि यह परम्परा अशोक से लेकर आज तक जीवन्त है। कथन इस प्रकार है—"अशोक के समय से लेकर आज तक के भारतीय जीवन और विचारधारा का जो अमूल्य संकलन यहां की कलापूर्ण रचनाओं पर टंका हुआ है, उसके लिए विश्व भारत का ऋणी है। किसी ने भी धर्म को जीवन का दर्शन बनाने में इतनी सफलता नहीं प्राप्त की। यहां तक कि किसी ने भी मानवीय ज्ञान को इतना समृद्ध एवं शक्तिशाली नहीं बनाया![1] 'अर्थशास्त्र' में, नगर के भीतर, देव-मन्दिर निर्माण के विधि-विधान का उल्लेख है, जिससे यह सिद्ध होता है मन्दिर-निर्माण की परम्परा आचार्य चाणक्य के समय में विद्यमान थी।

भारतीय शिल्पकला की तीन प्रमुख शैलियां स्वीकार की जाती हैं—द्रविड़ शैली, चालुक्य शैली तथा आर्य प्रणाली! द्रविड़ शैली में मन्दिर का स्वरूप चौकोर होता है और मन्दिर का ऊपरी भाग पिरामिड-शिखर की भान्ति होता है। आर्य प्रणाली में स्वरूप वर्गाकार होता है और मन्दिर का शिखर पर्वत के नुकीले शिखर सदृश निर्मित किया जाता है। चालुक्य प्रणाली में मन्दिर का स्वरूप नक्षत्राकार रहता है और शिरोभाग पिरामिड सदृश! देश के दक्षिणी भाग में मुख्यतः द्रविड़ तथा चालुक्य शैलियों का प्रचलन रहा है, तो उत्तरी भाग में आर्य प्रणाली को अधिमान दिया गया। मन्दिर के अंग-प्रत्यंग के चमत्कारी प्रभाव को को लक्षित करते हुए डॉ० वासुदेव उपाध्याय ने लिखा है—'मन्दिर का शिखर दूर से ही उच्च स्वर में ईश्वर की सर्वव्यापकता का उद्घोष करता है। समीप आते ही मानव भक्ति में विभोर हो जाता है। संसार की ओर से हटकर आध्यात्मिक भावना जग जाती है। मन्दिर की भित्तियों, स्तंभों तथा छतों पर उत्कीर्ण अथवा उभरी हुई आकृतियों के मध्य दर्शक अपने को भूल जाता है। देवी-देवताओं के सम्मुख भक्त नतमस्तक हो जाता तथा अपने कुकृत्यों पर पश्चाताप कर निर्मल एवं पवित्र भावों के निमित्त जागरूक होता है।[1]

मन्दिरों की भित्तियों, स्तंभों, छतों, दीर्घाओं का पशु-पक्षी, पुष्पलता, पौराणिक आख्यानों एवं लोककथाओं के चित्रण द्वारा शृंगार तो भक्तों एवं अन्य लोगों को स्वीकार है, परन्तु उन्हें इन स्थानों पर तरुणियों की मोहिनी छवि तथा कामोत्तेजक

---

1. 'A study of Indo – Aryan Civilization' (Page 220) Mr. E.B. Havell
2. प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मन्दिर : डॉ० वासुदेव उपाध्याय (बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना) (पृष्ठ 199)

प्रसंगों के अंकन पर आपत्ति है। डॉ० वासुदेव उपाध्याय ने इस आपत्ति का निराकरण इस रूप में किया है कि ऐसे प्रसंगों को प्रस्तुत करने का एकमात्र लक्ष्य दुष्टों के आसुरी कृत्यों को प्रकाश में लाना है। ये प्रणय चित्र भी मनुष्य को आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर करते हैं। श्री भगवती प्रसाद सिंह ने अपने लेख 'भारत के प्रसिद्ध मन्दिरों की शिल्प दृष्टि' से आलोचना (कल्याण : हिन्दू संस्कृति अंक संख्या 2064, पृष्ठ 667) में इस सन्दर्भ को लेकर अद्‌भुत तर्क प्रस्तुत किया है–"अनेक मन्दिरों में यथा खुजराओ के विशाल चंदेल मन्दिरों में, भुवनेश्वर के मन्दिरों में, पुरी के जगदीश मन्दिर में, कोर्णाक के ध्वस्त सूर्य मन्दिर में तथा काशी के नेपाली मन्दिर में बाहर की ओर कई नियमित स्थानों पर अश्लील मूर्तियां मिलती हैं–पर यथार्थ में इन अश्लील मूर्तियों का प्रयोजन मन्दिरों की वज्रपातादि में रक्षा करना है। नए मकान बनांते समय कई स्थानों पर झाड़ू, डलिया इत्यादि इसलिए लटका दी जाती हैं कि कहीं किसी की 'नजर' न लगे। अपने मत के समर्थन में श्री सिंह ने 'अग्निपुराण' का निम्न श्लोक भी प्रस्तुत किया है–

अधःशाखाचतुर्थांशे प्रतीहारौ निवेशयेत्।
मिथुनै रथवल्लीभिः शास्त्राशेषं विभूषयेत्।।

भारत के मन्दिरों में शिव और विष्णु को ही प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ। समस्त भारत में सृष्टिकर्ता श्री ब्रह्म जी के प्रमुख मन्दिर केवल चार-पांच ही होंगे। ब्रह्माजी के प्रति भक्ति के अवसान का कारण पौराणिक युग का यह विश्वास था कि दैत्यों की स्तुति पर ब्रह्मा जी सहज में ही उन्हें वरदान प्रदान कर देते थे। इस प्रकार दैत्यों के बल में वृद्धि होती रही और वे सदा ही इन्द्र को स्वर्ग से निर्वासित करने के प्रयास में लगे रहते!

श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' शिव को आर्येत्तर देवता मानते हैं। अनेकानेक विद्वानों के अनुसार भी शिव अवैदिक देवता हैं! श्री आर०सी० मजूमदार भी शिव तथा उमा को द्रविड़ देवता मानते हैं और इस मत के समर्थन में शिव के नामों, 'नील लोहित', 'शम्भु' आदि की चर्चा करते हैं। डॉ० सॉवलिया बिहारी मल का 'विश्व-धर्म-दर्शन' (पृष्ठ 207) में उल्लेख है कि दक्ष प्रजापति के यज्ञ में शिव को नहीं बुलाया गया और यज्ञ का भूत, प्रेत, प्रमथादि द्वारा ध्वसं हुआ, यह भी प्रमाण है कि शिव आर्येत्तर जातियों के देवता थे। डॉ० श्रुतिकान्त ने रुद्र और शिव के एकीकरण के सम्बन्ध में लिखा है–'शिव आरम्भ में आर्येत्तर देवता थे और बाद में रुद्र के साथ उनका एकीकरण हुआ, इसमें सन्देह नहीं। पौराणिक शिव के जितने नाम हैं और उपाधियां हैं, उनका स्पष्टीकरण भी रुद्र और शिव के

एकीकरण द्वारा ही सम्भव है।[1] रुद्र और शिव का एकीकरण पौराणिक काल से पूर्व हो गया था और पौराणिक काल में 'महादेव' के रूप में शिव प्रधान देवता स्वीकार कर लिए गए थे। यह विश्वास था कि शिव का नाम भव-सागर से पार उतारने वाला है। भागवत (पृष्ठ 385) में उल्लेख है—

शिवेति द्वयक्षरं नाम व्याहरिष्यन्ति ये जनाः।
तेषां स्वर्गश्च भोक्षश्च भविष्यन्ति न चान्यथा।।

शिव की पूजा-अर्चना मूर्ति एवं लिंग दोनों रूपों में प्रचलित है। प्रतिमा साकार रूप है तो लिंग निराकार रूप! लिंग पूजा 'शक्ति और शक्तिमान् का प्रतीक है—पुरुष-प्रकृति का सहज चिह्न'! शिव का स्वरूप भी विचित्र है—वर्ण कपूर के समान गौर है, शरीर पर भस्म का लेप, श्वेत वस्त्र परन्तु नील ग्रीव। सिर पर जटा है, गले में सर्पों और रुण्डों की माला। त्रिनेत्रधारी शिव श्मशान में वास करते हैं, खप्पर भोजन-पात्र है तो भांग-धतूरा खाद्य पदार्थ। हाथ में डमरू और त्रिशूल है तो भूत-प्रेत-पिशाच इनके गण। वेश से चाहे वह अशिव हों, परन्तु व्यवहार में शिव (कल्याणकारी)! शिव के इस बाहरी स्वरूप की आध्यात्मिक व्याख्या भी है। भस्म सत्य का प्रतीक है क्योंकि दोनों का रंग उजला (सफेद) होता है। अन्य रंग धोने पर उतर जाते हैं, परन्तु श्वेत वैसे का वैसा रहता है। पर्याय है कि ईश्वर का रूप कृत्रिम नहीं, स्वाभाविक है। सर्प मृत्यु के प्रतीक हैं, जिन्हें धारण करने का भाव है कि शिव 'मृत्युंजय' है। ललाट पर विराजमान चन्द्र सन्तापहारी है तो गंगा मुक्ति देती है। इस प्रकार शिव मुक्तिदाता हुए! शिव के तीन नेत्रों में दो नेत्र हैं—सूर्य और चन्द्र और तीसरा नेत्र है ज्ञान! वृषभ धर्म का पर्याय है, भाव हुआ कि शिव धर्म को धारण करने वाले हैं। शिव दिगम्बर हैं—देश और काल से अनवच्छिन्न!

शिव महायोगी हैं, औघड़ दानी और भोले भण्डारी हैं—शीघ्र पसीजने वाले। भगवान् शिव नटराज हैं—समस्त कलाओं के सृष्टा! समूचा विश्व नटराज का नृत्यालय है। धार्मिक आख्यानों के अनुसार शिव ने सात बार नृत्य किया और ये सभी नृत्य ताण्डव के अलग-अलग प्रकार बने। आनन्द ताण्डव, संध्या ताण्डव, त्रिपुर ताण्डव एवं संहार ताण्डव एकल नृत्य हैं, जबकि गौरी के संग हुए नृत्य—गौरी ताण्डव, उमा ताण्डव एवं कालिका ताण्डव युगल नृत्य हैं। शिव के ताण्डव और पार्वती के लास्य से ताल की उत्पत्ति हुई। यही ताल भारतीय संगीत की नींव है।

---

1. भारतीय देव-भावना और मध्यकालीन हिन्दी साहित्य : डॉ० श्रुतिकान्त (वाणी प्रकाशन, दिल्ली), (पृष्ठ 102)

शिव के डमरू से पाणिनी के चौदह सूत्रों का आविर्भाव स्वीकार किया जाता है। प्रख्यात वाद्य रुद्र वीणा के आविष्कारक भी शिव ही माने जाते हैं। भारतीय संगीत के छह रागों की उत्पत्ति भी शिव से मानी जाती है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण एवं आकाशोन्मुख होकर क्रमशः शिव ने भैरव, हिंडोल, मेघ, दीपक और श्री रागों का सृजन किया। पार्वती के श्रीमुख से कौशिक राग की उत्पत्ति हुई। शिव आनन्द स्वरूप हैं।

ऋग्वेद में विष्णु का उल्लेख अधिक महत्त्वपूर्ण देवता के रूप में नहीं हुआ। आरम्भ में विष्णु को सूर्य के बारह नामों में से एक के रूप में ही लिया गया। विश् धातु से विष्णु शब्द की व्युत्पत्ति मानकर विष्णु की महत्तां के विस्तार में सहायता मिलती है। इनके चरित्र की सर्वाधिक महत्ता यह स्वीकारी जाती है कि इन्होंने अपने तीन पगों में तीनों भवनों को व्याप्त कर लिया! कालान्तर में विष्णु को देवताओं में सर्वश्रेष्ठ स्थान मिला। 'यज्ञो वै विष्णुः' के अनुसार विष्णु की लोकप्रियता उनके यज्ञरूप होने के कारण भी है। भागवत धर्म में विष्णु के दयालु होने के भाव को दृढ़ता मिली।

विष्णु वर्ण से श्याम हैं, पीले वस्त्र धारण करते हैं, कटि में किंकिंणी है, वक्षःस्थल पर वत्स की स्वर्णिम रेखा और गले में कौस्तुभ मणि! विष्णु की चार भुजाओं में शंख, चक्र, पद्म तथा गदा हैं। गदा का नाम कोमोदकी है तो शंख है पांचजन्य। विष्णु शार्ङ्ग, नामक धनुष भी धारण करते हैं। इनका स्थायी निवास वैकुण्ठ है, परन्तु वर्षा ऋतु में निवास क्षीर सागर रहता है, जहां आप शेष-शय्या पर विश्राम करते हैं। इनकी भार्या लक्ष्मी है, जो विभिन्न अवतारों में भी साथ रहती है।

ऐसे अनेक आख्यान उपलब्ध हैं, जिनमें भगवान् विष्णु की भक्तवत्सलता का उल्लेख है। आरम्भ में अपने भक्त की चाहे कठिन परीक्षा क्यों न लेते हों, परन्तु भक्त पर प्रसन्न होने पर उसके लिए सब कुछ करने को तत्पर हो जाते हैं। भागवत पुराण में श्री विष्णु की चर्चा 'सर्वदिव नमस्कृत' के रूप में हुई है। महा प्रलय के समय विश्व संस्कृति की रक्षा का कार्य हो, देवताओं की दानवों से रक्षा का प्रश्न हो या समुद्र मन्थन से अमृत-प्राप्ति का प्रयास—प्रत्येक कठिन कार्य में विष्णु ही सहायक बनते हैं। कभी-कभी देवों की रक्षा हेतु श्री विष्णु को ऐसे कार्य भी करने पड़े, जिन्हें सामान्य रूप में उचित नहीं कहा जा सकता। विष्णु के अनेकानेक अवतार जन-कल्याण हेतु ही हुए।

श्री विष्णु के दो अवतार विशेष रूप से चर्चित तथा उपास्य हैं—त्रेता रूप में

श्री राम के रूप में अवतार हुआ तो द्वापर में श्री कृष्ण के रूप में। श्री राम का लोक रक्षक रूप प्रधान है, तो श्री कृष्ण का लोकरंजक रूप! वैसे द्वापर का अवतार धर्म की रक्षा के लिए हुआ और महाभारत युद्ध के समय दिया गया गीता का सन्देश युग-युग तक स्मरण किया जाएगा। स्थित-प्रज्ञ बनकर जो व्यक्ति गीता के सन्देश को आत्मसात कर लेता है, उसका कभी पुनर्जन्म नहीं होता–

भारतामृतसर्वस्वं विष्णोर्वक्त्राद्विनिः सृतम्।
गीतागंगोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते।।

मन्दिरों में राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति स्थापित रहती है तो रामभक्त हनुमान सेवित सीता-राम-लक्ष्मण विग्रह की पूजा-अर्चना करते हैं।

समूचे देश में स्थापित प्रख्यात शक्ति-पीठों से शक्ति (देवी) की पूजा की लोकप्रियता का भी परिचय मिलता है। 'शक्ति' शब्द की व्युत्पत्ति 'शक्' धातु से है और इसका अर्थ है बल! साधारण रूप में यही अर्थ लिया जाता है। वास्तव में शक्ति-बल के साथ-साथ आनन्दमयी भी है। भारतीय उपासना-पद्धति में शक्ति-आराधना के दो रूप हैं—स्वतन्त्र रूप में तथा सहायिका रूप में। सहायिका रूप में शक्ति अपने देवता के साथ प्रतिष्ठत होती है। हर-गौरी, शिव-पार्वती, राधा-कृष्ण, सीता-राम में शक्ति की भूमिका सहायिका की रहती है। तान्त्रिक साधना में शक्ति-पूजा को स्वतन्त्र मान्यता प्राप्त रही है। स्वतन्त्र रूप से पूजन में ये शक्तियां ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के अनुसार ही आराध्य रही हैं। शक्ति का महत्त्व इसकी क्रियाशीलता में ही दीखता है। शिव गतिहीन हैं और सब कार्य शिवा द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। इसी से शिव के श्वेत शरीर में खड़ी काली की पूजा होती है। सृष्टि की उत्पत्ति शक्ति के द्वारा ही होती है, शिव अपने-आपमें तो शवमात्र हैं! शक्ति के संयोग से ही वह परम शिव बनते हैं।

'मार्कण्डेय पुराण' में देवी माहात्म्य के अन्तर्गत यह वर्णन है कि विभिन्न देवताओं के शरीर से निकले तेज के सामूहिक तत्त्व से एक नारी रूप प्रकट हुआ। यह कल्याणमयी देवी सिंहवाहिनी दुर्गा के नाम से विख्यात हुई। इस देवी की पूजा-अर्चना रौद्र एवं शान्त दोनों रूपों में होती है। रौद्र रूप में महिषासुर मर्दिनी, महादुर्गा, महाकाली, चण्डिका आदि नामों का उल्लेख है तो अम्बिका, उमा, उषा, गौरी मां के शान्त रूप हैं। नवरात्रों में भक्तजनों एवं पूजा स्थलों में देवी के नौ स्वरूपों की स्थापना तथा उनके पूजन का विधान है। ये नौ स्वरूप हैं—शैलपुत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघंटा, कुष्माण्डा, स्कन्द माता, कात्यायनी, कालरात्रि, महागौरी एवं सिद्धिदात्री! वैसे तो भारत में अन्य देशों की तुलना में छह ऋतुएं होती हैं, परन्तु

प्रधान दो ही हैं—शरद और ग्रीष्म! इन ऋतुओं की सन्धिबेला को 'नवरात्र' की संज्ञा प्राप्त है। 'मार्कण्डेय पुराण' में भगवती दुर्गा की वर्ष में चार बार नवरात्र पूजा का उल्लेख है। प्रथम पूजा चैत्र शुक्ल पक्ष की प्रथमा से नौवीं तिथि तक महाकाली रूप में है तो दूसरी पूजा महालक्ष्मी रूप में आषाढ़ शुक्ल पक्ष की पहली से नौवीं तिथि तक! तीसरी पूजा में महादुर्गा रूप है और चौथी पूजा में सरस्वती रूप। तीसरी तथा चौथी पूजा क्रमशः अश्विन शुक्ल-पक्ष तथा माघ शुक्ल-पक्ष में पहली से नौवीं तिथि तक बताई गई है। भारत के अतिरिक्त एशिया, अमेरिका, यूरोप, तिब्बत, जापान में भी नवरात्र पूजा का प्रचलन है। इस पूजा में संसार के श्रेयस का भाव है।

□□□

हिमाचल मन्दिर और उनका शिल्प

हिमाचल हिमालय की तराई में अवस्थित अनुपम प्राकृतिक सौन्दर्य का पर्वतीय प्रदेश है। एशिया के मध्य में 2500 कि०मी० की यह अर्धचन्द्राकार धनुष-प्रत्यंचा सरस पर्वतमाला अफगानिस्तान से बर्मा तक फैली हुई है। हिमालय पर्वत को तो भगवान् कृष्ण ने अपना स्वरूप माना है। श्रीमद् भगवद्गीता के दशम अध्याय के पच्चीसवें श्लोक में कथन है—

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयं।।

भाव है कि मैं महर्षियों में भगु और शब्दों में एक अक्षर अर्थात् ओंकार हूँ। सब प्रकार के यज्ञों में जपयज्ञ और स्थिर रहने वालों में हिमालय पर्वत हूँ। इसी कथन में हिमालय की महिमा है।

विश्व कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने पंजाब की धरती पर विश्व की प्राचीनतम तथा सर्वगुण सम्पन्न संस्कृति के उदय के सन्दर्भ में कहा था—"पंजाब वह भू-भाग है, जिसके नीले गुम्बद पर पूर्व की सूर्य-रश्मियां सर्वप्रथम उदित हुईं। पंजाब के सुन्दर घने जंगलों में ही सामवेद के सुमधुर धार्मिक संगीत की स्वर-लहरियां गूंजी थीं।" जिन वनों-पर्वतों की यहां चर्चा है, वे अब सभी हिमाचल प्रदेश के भाग हैं। इस प्रदेश में क्या कुछ नहीं है—अनेकानेक देवी-देवता, विशालकाय गहन वन, पुष्प वाटिकाएं, नृत्यशील मनोरम झरने, कल-कल नादिनी नदियां, सुरम्य घाटियां, प्रकृति का अद्भुत शृंगार—यहां की झीलें और सर्वोपरि नारी कण्ठों से मुखरित मादक संगीत की स्वर-लहरियां। अपने में सम्पूर्ण, प्रकृति मां की गोद में सिमटे शिशु की भान्ति, यह प्रदेश अपनी सादगी, मस्ती तथा अपने सौन्दर्य की दृष्टि से अनुपम है। श्री नवनीत पारेख का कथन कितना सार्थक है—'Himachal Pradesh is at the foot of this king of mountains—Himavan and it is one of the most beautiful states of India.—With its lush green forests, bubbling streams, emerald meadows, enchanting lakes & eternal snows, Himachal Pradesh is a veritable cornucopia.'[1]

---

1. Himachal Pradesh : The Illustrated weekly of India (Nov. 30, 1975)

हिमाचल देवभूमि है। यहां जन-मानस में प्रतिष्ठित वैदिक-पौराणिक देवताओं की पूजा-अर्चना होती है, तो लोक देवता एवं ग्रामदेवता भी उपास्य हैं। लगभग प्रत्येक ग्राम का अपना देवता है और वहां के निवासियों का यह विश्वास है कि यही ग्राम देवता उनकी हरेक विघ्न-बाधा और उनके शोक-संताप का निवारण करता है। विशेष उत्सवों एवं त्यौहारों में ये सभी देवता अपनी प्रतिष्ठा-मर्यादा अनुसार, अपने चटकीले-भड़कीले वस्त्रों से आवृत्त होकर, अपने श्रद्धालुओं के कन्धों पर सवार होकर, निकलते हैं। ऐसे अनेकानेक आयोजन साहित्य एवं कला, विशेषकर चित्रकला के माध्यम से साकार हुए हैं। हिमाचल में ऐसे अनेक ऐतिहासिक स्थल हैं जिनका सम्बन्ध ऋषियों-मुनियों एवं पौराणिक घटनाओं से जोड़ा जाता है। कुल्लु जिला में द्वापरयुगीन श्रृंगी ऋषि का आठ मंजिला मन्दिर है तो 'स्कीर्नटीला' वह स्थान बताया जाता है, जहां इक्ष्वाकू वंशी राजा दशरथ ने पुत्रेष्टि यज्ञ सम्पन्न किया। श्री लालचन्द प्रार्थी ने अपनी कृति 'कुल्लुत देश की कहानी' में उल्लेख किया है कि आदि भृगु ने यहीं अग्निदेव को साक्षात् रूप में आकाश से धरती पर उतारा था। यह प्रदेश देवी पार्वती की जन्मभूमि के रूप में जाना जाता है, तो दक्ष प्रजापति का यज्ञ भी यहीं सम्पन्न हुआ था। श्री कृष्ण के पौत्र का विवाह शोणितपुर के असुर-सम्राट बाणासुर की पुत्री से सम्पन्न हुआ था। यह शोणितपुर,वर्तमान सराहन, रामपुर के निकट स्थित है। श्री नवनीत पारेख के अनुसार यह क्षेत्र यक्षों, गन्धर्वों, किन्नरों का निवास तो था ही, यहां भगवान् शिव ने देवी पार्वती तथा अपने गणों के संग विहार किया होगा। उल्लेख है—'Himachal Pradesh combines the awesome & the beautiful. It brings to mind all the poetic imagery of kalidasa. Here roamed, once upon a time, siva & Parvati with their entourage of goblins & elves. It was the abode of yakshas, kinnaras, Gandharvas & other demi-gods.'[1]

हिमाचल में मन्दिरों की संख्या कितनी है—यह कह पाना कठिन है। लोगों की श्रद्धा को साकार करते नित्य-प्रति नए मन्दिरों का शिलान्यास एवं निर्माण हो रहा है। सन् 1993 के एक सर्वेक्षण के अनुसार हिमाचल में छोटे-बड़े मन्दिर संख्या में 3259 है। इनमें से 1374 मन्दिर तो केवल कांगड़ा में ही हैं। श्री वी०पी० प्रभाकर ने अपने एक लेख में लगभग सोलह हजार गांवों में, छह विशिष्ट शैलियों में निर्मित, मन्दिरों की संख्या 6000 से अधिक बताई है।[2] एक सर्वे के अनुसार इस

1. Himachal Pradesh : The Illustrated Weekly of India : (30 the Nov., 1975)
2. Temples of Himachal : Sh. V.P. Prabhakar (The Tribunc Sept. 12, 1982)

प्रदेश में देवी (दुर्गा) के भक्तों की संख्या सर्वाधिक है। देवी माता के मन्दिरों की संख्या 448 बताई गई है। शिव भक्त दूसरे स्थान पर हैं और शिव मन्दिरों की संख्या 318 है। लक्ष्मी नारायण, श्री राम और श्री कृष्ण के 390 मन्दिर हैं। प्रदेश में वैष्णव ठाकुरद्वारे 249 हैं तो नाग, सिद्ध, गुग्गा आदि के 1129 पूजा-स्थल हैं। ग्राम देवताओं के श्रद्धालुओं की संख्या अधिक है और इसका प्रमाण है लगभग हर ग्राम में ग्राम देवता का मन्दिर। ये ग्राम देवता मानवेत्तर नहीं, ये अपने भक्तों के मध्य निवास करते हैं, नाचते-गाते हैं, दुःख-सुख के सहभागी हैं। आपदा काल में भक्तों की धन-धान्य से सहायता भी करते हैं।

हिमाचल के मन्दिरों के निर्माण में शैलीगत विविधता एवं विशिष्टता सर्वत्र दर्शनीय है। प्रदेश में शिखर शैली, पैगोडा शैली, बौद्ध वास्तुशिल्प, पर्वतीय शिल्प, मुगल-सिख समन्वित शैली, बंगलानुमा शैली के अनेकानेक देवालय हैं। शिखर शैली के मन्दिरों के अन्तर्गत भूतनाथ मन्दिर (मंडी), त्रिलोकनाथ मन्दिर (मंडी), बैजनाथ मन्दिर, मसरूर मन्दिर (कांगड़ा), विश्वेश्वर महादेव मन्दिर (बजौरा), विष्णु मन्दिर (नूरपुर), लक्षणा देवी मन्दिर (चम्बा जिला) आदि को स्थान दिया जा सकता है। पैगोड़ा शैली के मन्दिर हैं—हिडिंवा देवी मन्दिर (मनाली), त्रिपुर सुन्दरी मन्दिर (कुल्लू) कामाक्षा मन्दिर (करसोग), बौद्ध मन्दिर (रिवालसर) इत्यादि! पर्वतीय शैली का प्रयोग मेगरू महादेव (छतरी, मंडी), वसिष्ठ मन्दिर (कुल्लू), कामरू मन्दिर (सांगला, किन्नौर), बिजली महादेव मन्दिर (कुल्लू) आदि में हुआ है। दत्तात्रेय मन्दिर (दत्त नगर, शिमला), नाग देवी-देवताओं के देहरे बंगलानुमा शैली के प्रतीक हैं। शक्तिपीठ श्यामा काली (मंडी), ज्वालामुखी तथा व्रजेश्वरी मन्दिर (कांगड़ा) आदि का वास्तुशिल्प मुगल-सिख समन्वित शैली का उदाहरण है।

इस प्रदेश के मोटे तौर पर तीन भाग माने जाते हैं—

(1) कांगड़ा तथा उससे जुड़े क्षेत्र

(2) सिरमौर, महासू, किन्नौर, लाहुल, स्पीती

(3) चम्बा, भरमौर, पांगी इत्यादि!

इसी के अनुसार मन्दिरों का परिचय उपलब्ध है।

हिमाचल प्रदेश के छोटे-बड़े, ज्ञात-अज्ञात, प्रख्यात एवं प्रचार से अनछुए मन्दिरों का परिचय देते हुए बौद्ध मन्दिरों तथा प्रमुख शक्तिपीठों को अलग से स्थान दिया गया है। यथासम्भव इन मन्दिरों से जुड़ी अनेकानेक जनश्रुतियों को भी यहां संजोने का प्रयास है।

कांगड़ा के मन्दिर (कांगड़ा एवं उससे जुड़े क्षेत्र)

कांगड़ा क्षेत्र अपने प्राकृतिक सौन्दर्य के कारण तो विश्वविदित है ही, पवित्रता, धार्मिकता तथा आध्यात्मिक चेतना की दृष्टि से भी सिरमौर है। यूनानी इतिहासकारों ने इस क्षेत्र को 'देवभूमि' की संज्ञा दी है। 'ब्रह्मपुराण' में उल्लेख है कि कलियुग के आगमन से त्रस्त देवगण, अपनी पवित्रता एवं रक्षा हेतु जब परमपिता ब्रह्माजी के सेवा में उपस्थित हुए, तो सृष्टिकर्ता ने उन्हें जालन्धर क्षेत्र में निवास की सलाह दी। यही कांगड़ा का प्राचीन नाम था। उल्लेख इस प्रकार है—

एतज्जालन्धरं क्षेत्रं यतः सर्वोत्तमोतमम्।
अत्रागत्यांशतो यूं यूं सन्तिष्ठध्व मिहैवहि।।
नित्य भूत्यजनाच्चेव ब्रजेश्वर्याश्च पूजनात्।
सद्यः कलमषहानिर्वो भविष्यति न संशयः।।

कांगड़ा विषयक एक उल्लेख है—"कांगड़ा की अद्‌भुत धरती शूरवीर डोगरों की जन्मस्थली, राजपूतों की पुण्य भूमि, गद्दियों की चिरभूमि तथा हिन्दुओं, मुसलमानों और बौद्धियों की अर्चनीय-वन्दनीय भूमि है।—कांगड़ा का प्राकृतिक सौन्दर्य देखते ही बनता है। कल-कल, छल-छल की ध्वनि से बहती हुई, सुन्दिरियों के झूमरों का भ्रम देती हुई वारिधाराएं, फेनोज्ज्वल निर्झर, पक्षियों का कलरव—ये सब दर्शक को मन्त्रमुग्ध किए बिना नहीं रहते। प्रकृति की अनुपम छटा, मनोहारी दृश्य, रंग-बिरंगे पुष्प—कवि को लेखनी तथा चित्रकार को तूलिका, पकड़ने के लिए विवश कर देते है।[1]

चट्टान से तराशा मसरूर मन्दिर

कांगड़ा से 40 कि०मी० की दूरी पर, समुद्र-तल से पच्चीस सौ फीट की ऊंचाई पर स्थित, मसरूर गांव का भुरभुरी चट्टानों को तराशकर बनाया गया राम मन्दिर, उत्तरी भारत में अपनी अलग ही पहचान रखता है। शिल्पकला के इस अद्‌भुत नमूने का प्राकृतिक सन्दर्भ भी अनूठा है—मन्दिर के उत्तर में बर्फ से ढकी धौलाधार पर्वत-माला है तो पश्चिम में सुन्दर व्यास घाटी। 45 मीटर लम्बी और 32 मीटर चौड़ी चट्टान को तराशकर, जिस प्रकार मन्दिर का रूप दिया गया है, एक चमत्कार-सा लगता है मन्दिर की कलात्मकता इसके किलानुमा वास्तु-शिल्प में निहित है।

---

1. पंजाब का पर्वतीय साहित्य : मोहन मैत्रेय (कीर्ति प्रकाशन)

मन्दिर की चर्चा, यद्यपि अनेकानेक रूपों में हुई है, तथापि इसका प्रामाणिक-ऐतिहासिक वृत्त उपलब्ध नहीं। एक जनश्रुति के अनुसार पाण्डव अपने तेरह वर्ष के वनवास के दौरान यहां ठहरे थे, उन्होंने ही चट्टान को काटकर यह रूप दिया था। उपलब्ध विवरण के अनुसार इस मन्दिर की खोज जन-अधिकारी एच०एम० बुलवर्थ ने सन् 1913 में की थी और 1915-16 में पुरातत्त्व विभाग ने इसे अपनी सुरक्षा में ले लिया था। किसी समय, अपनी कला एवं शिल्प के कारण, लोगों के आकर्षण का केंद्र रहा यह मन्दिर, आज अपनी भग्नावस्था में अपने अतीत में ही सिमटकर रह गया है।

मन्दिर में राम, लक्ष्मण तथा सीता की भव्य मूर्तियां हैं, जिनके विषय में यह भी कहा जाता है कि इन्हें बाद में स्थापित किया गया। मन्दिर की दीवारों पर ब्रह्मा, विष्णु, महेश के अतिरिक्त अन्य देवताओं की मूर्तियां भी अंकित हैं। मन्दिरों की सज्जा में भित्ति-चित्रों की महती भूमिका रही है। इस मन्दिर के वाम भाग में भी भव्य भित्ति-चित्रों के धुंधले रूप, दृष्टिगोचर होते हैं। मन्दिर के वास्तु-शिल्प, मूर्तियों तथा भित्ति-चित्रों के आधार पर यह कहना संगत प्रतीत होता है कि इस ऐतिहासिक मन्दिर का निर्माण किसी कला-मर्मज्ञ नरेश के हाथों हुआ होगा। शिकारा की शक्ल के इस मन्दिर में 15 गुम्बद हैं, जिन तक पहुँचने के लिए सीढ़ियां निर्मित हैं। दूर के क्षेत्र की गतिविधियों के सूक्ष्म निरीक्षण हेतु ही शायद इन गुम्बदों का निर्माण हुआ होगा। प्राचीन परम्परा के अनुसार, मन्दिर के अग्रभाग में एक तालाब भी विद्यमान है।

दस मील की परिक्रमा वाला शिवधाम : बैजनाथ

कांगड़ा जिला की पालमपुर घाटी में अवस्थित बैजनाथ की सम्पूर्ण भारत में पहचान, इसके शिवधाम के कारण हैं। इस मन्दिर का सम्बन्ध चारों युगों से बताया जाता है। इस पावन धाम में अन्य शिव मन्दिर हैं—मुकुटनाथ, बैजनाथ, पल्लिव केशट तथा महाकाल! मन्दिर की दस मील की परिक्रमा में, चारों दिशाओं में स्थित चार दुर्गा मन्दिर हैं—"आशापुरी, तारिणी माता, चामुंडा देवी, तारा देवी। मंडी—पठानकोट सड़क पर कांगड़ा से 40 मील की दूरी पर स्थित बैजनाथ का प्राचीन नाम कीरग्राम था। बैजनाथ केवल मन्दिर को ही कहा जाता था।

इस शिवधाम का सम्बन्ध चारों युगों से जोड़ा जाता है। सतयुग सम्बन्धी कथा राक्षस जालन्धर तथा उसकी पतिव्रता भार्या वृंदा की है। पत्नी की धार्मिक वृत्ति से ही जालन्धर के बल में अत्यधिक वृद्धि हुई और वह सतत् देवताओं को

आतंकित करता रहता। भगवान् शिव के क्रोध से उत्पन्न, जालन्धर ने, एक बार तो देवी पार्वती के सौन्दर्य पर रीझकर, उसे ही प्राप्त करने का प्रयास किया। पतिव्रता वृन्दा के होते जालन्धर का संहार सम्भव न था। भगवान् विष्णु को एक अनैतिक उपाय करना पड़ा और इसी के अनुसार उन्होंने जालन्धर का रूप धारण कर वृन्दा का शील भंग किया। इससे जालन्धर की शक्ति स्वतः क्षीण हो गई और भगवान् शिव ने उसकी हत्या कर दी। दैत्य जालन्धर को ब्रह्मा जी से वरदान प्राप्त था और इसी कारण उससे मुक्ति का यह मार्ग निकालना पड़ा। वृन्दा सती हो गई, परन्तु उसने नारायण को भी शाप दिया कि तुम शिला के रूप में मेरे चरणों में रहोगे। वृन्दा तुलसी बनी, तो विष्णु शालिग्राम। भगवान् शिव भी शापित हुए और शाप-मुक्ति हेतु उन्हें यहां तपस्या करनी पड़ी। इस स्थान का नामकरण 'जालन्धर पीठ' के रूप में भी हुआ।

त्रेता युग में, एक वृत्त के अनुसार, लंकापति रावण ने भगवान् शिव की कृपा-प्राप्ति हेतु यहां कठोर तप किया। उसने अपना एक-एक शिर काट भगवान् शिव को अर्पित कर दिया। आशुतोष की कृपा लंकापति को प्राप्त हुई। उसने भगवान् शिव को 'वैद्य-नाथ' नाम से पुकार। इसी शब्द का अपभ्रंश हुआ 'बैजनाथ'! द्वापर युग में महाभारत के अति भयानक समर के समय पाण्डवों ने कौरवों के साथी, कांगड़ा (कोट) नरेश सुशर्मा की हत्या कर दी। बाद में भीम को कोट का शासन सौंप दिया गया। शिव भक्त भीम ने यहां भगवान् शिव की आराधना की और मन्दिर भी बनवाया।

वर्तमान के भव्य निर्माण से पूर्व, कहते हैं, कि यहां एक छोटा-सा मन्दिर था और आसपास वन-प्रान्त! एक दिन बैजु नामक शिव भक्त, जब अपनी भूमि में हल चला रहा था, तो हल का फाल एक पत्थर से टकराया। यह देख किसान आश्चर्यचकित हो गया कि पत्थर लहू-लुहान हो गया था। पत्थर को निकालने के असफल प्रयास भी हुए और फिर एक वृद्ध की सलाह पर टूटे भाग को मक्खन के साथ मूल पत्थर से जोड़ दिया गया। रक्त-स्राव बन्द हो गया और एक सप्ताह बाद यह पत्थर (शिवलिंग) एक उत्कृष्ट 'पिंडी' के रूप में दृष्टिगोचर हुआ। इसके मध्य दो भाग थे—शिव, पार्वती रूप (अर्ध-नारीश्वर) 'बैजु' किसान के नाम पर 'बैजनाथ' नामकरण की भी जनश्रुति है। वर्तमान में यहां प्रतिवर्ष लोहड़ी तथा संक्रांति के अवसर पर घी तथा मक्खन से 'पिंडी' निर्माण की प्रथा है। इस पिंडी की सज्जा सूखे मेवों से होती है और यह कार्यक्रम आठ दिन तक चलता है। जन विश्वास है कि पिंडी के घी से पुराने से पुराने फोड़े-फुंसियों का निदान हो जाता

है। कांगड़ा के ब्रजेश्वरी मन्दिर में भी आठ दिन घृत-मंडल चढ़ाने की प्रथा है।

मन्दिर के भीतरी भाग में शारदा लिपि में लिखित दो प्राचीन शिलालेख उपलब्ध हैं। एक का सम्बन्ध सन् 804 से है। शिलालेख के अनुसार कटोच वंशीय नरेश जयचंद (1200-1220) के शासनकाल में आहुक एवं बाहुक नाम दो व्यापारियों ने इस मन्दिर का निर्माण करवाया था। कहा जाता है कि एक साधु की कृपा से लोहे के इन व्यापारियों का कुछ लोहा सोने में परिवर्तित हो गया था। यह राशि मन्दिर निर्माण पर खर्च हुई। राजा संसारचन्द, जो कलाप्रेमी के रूप में विख्यात रहे, उन्होंने भी मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाया था। पुरातत्त्व विभाग के प्रयास से मन्दिर परिसर के विकास की बात कही जाती है। मन्दिर का वास्तु-शिल्प, पत्थर की नक्काशी—पर्यटकों के लिए विशेष आकर्षण है। मन्दिर की सुदृढ़ता का इससे और बड़ा प्रमाण क्या होगा कि सन् 1905 का भूचाल भी मन्दिर को कोई क्षति नहीं पहुँचा पाया। मन्दिर सम्बन्धी एक दन्त कथा प्रसिद्ध है कि एक रियासत के राजा ने यहां के शिवलिंग को उखड़वाने का जब प्रयास किया, तो मन्दिर के बाहर शिव के दोनों नन्दियों के मुख से विषैले कीड़े निकलने शुरू हो गए। त्राहि-त्राहि करते मजदूर वहां से भाग निकले। कहते हैं मन्दिर में चांदी के सर्प से लिपटे शिवलिंग का जब अभिषेक होता है, तो यह जल भीतर से ही क्षीर गंगा में मिल जाता है। मन्दिर के पास ही खण्डित चट्टानों के तटों वाली कन्दुका बिंदु नदी प्रवाहित है। शिखर शैली के इस मन्दिर के स्तम्भों पर संस्कृत के अनेक श्लोक अंकित हैं और मन्दिर के आलों में स्थापित प्राचीन मूर्तियां, मन्दिर की गरिमा की साक्षी हैं।

कपालेश्वरी में अमृत वर्षा

धर्मशाला के चाय-उद्यानों के बीचोबीच धर्मशाला—गग्गल सड़क पर पट्टा नामक स्थान है, जहां कुनाल पत्थरी या कपालेश्वरी मन्दिर है। कांगड़ी में 'कुनाल' मिट्टी के उस बर्तन को कहा जाता है, जिसे आज चिरमची कहा जाता है। मन्दिर में 'पिंडी' विराजित नहीं, अपितु भूरे रंग के पक्के पत्थर से निर्मित खोपड़ीनुमा बर्तन मूर्ति (शिला) है। इस डूँगी शिला को ही 'कुनाल पत्थरी' एवं कपालेश्वरी की संज्ञा प्राप्त है।

इस नवनिर्मित परम्परागत मन्दिर में स्थापित शक्तिशिला का विशेष महत्त्व है। शिला वाले भाग पर कोई छत नहीं, खुला आसमान है। वर्षा का पानी इस शिला पर पड़ता है, तो अमृत बन जाता है। चाहे कितनी देर रखा जाए, यह जल

खराब नहीं होता। घरों में इसका प्रयोग होता है। जिन वृक्षों-पौधों पर फल नहीं लगते, उन पर यह जल छिड़कने पर फल लग जाते हैं। दक्ष पुत्री ने, यज्ञ में अपने पति का अपमान देखकर, यज्ञकुण्ड में ही देहोत्सर्ग कर दिया था। जब शोकग्रस्त भगवान् शिव, उन्माद की स्थिति में, सती के पार्थिव शरीर को लेकर घूमने लगे, तो विस्फोटक परिणाम को विराम देने हेतु, श्री विष्णु ने अपने सुदर्शन चक्र से सती के पार्थिव शरीर के छोटे-छोटे टुकड़े कर दिए। इन्हीं अवयवों पर सिद्ध पीठ स्थापित हुए। 'कुनाल पत्थरी' को भी सती के शरीर का अंग स्वीकार किया जाता है।

प्राचीन सिद्धपीठ अंधजर महादेव

अंधजर सिद्धपीठ धर्मशाला से आठ कि०मी० की दूरी पर स्थित प्राचीन बस्ती 'घन्यारा' में अवस्थित है। इस स्थान से प्राप्त ब्राह्मी तथा खरोष्ठी लिपि के दो शिलालेखों (समय दूसरी शती) से इस क्षेत्र के ऐतिहासिक-सांस्कृतिक महत्त्व का परिचय मिलता है। इस स्थान का सम्बन्ध कपिल मुनि से भी जोड़ा जाता है। अनेक बौद्धकालीन साक्ष्य उपलब्ध हैं, तो ऐसे प्रमाण भी मिलते हैं कि चीनी यात्री ह्यूनसांग ने भी इस क्षेत्र का भ्रमण किया था।

इस सिद्धपीठ के नाम से सम्बन्धित अनेक जनश्रुतियां हैं। मान्यता है कि इस स्थान पर पांडुपुत्र अर्जुन ने भगवान् शिव से पाशुपतास्त्र प्राप्ति के मनोरथ से घोर तप किया था। भगवान् शिव ने कंजर (किरात-भील) के रूप में दर्शन दिए थे। महाभारत का 'किरातार्जुनीय' प्रसंग यहीं घटित हुआ। 'कंजर' ही कालान्तर में 'अंधजर' बन गया।

इस शिवधाम की कीर्ति-पताका चहुंदिश फहराने में सिद्धबाबा गंगा भारती का योगदान अविस्मरणीय है। इनके चमत्कारों की चर्चा सुनकर एक बार महाराजा रणजीत सिंह दर्शन को पधारे। महाराजा विषम उदर रोग से पीड़ित थे, कोई औषध काम नहीं कर रहा था। बाबा ने महाराजा को अपने धूने के समीप प्रवाहमान झरने से 'तीन चुल्लियां' जल पीने को कहा। यह निदान रामबाण सिद्ध हुआ और महाराजा का उदरशूल तत्काल शान्त हो गया। महाराजा ने एक कीमती दुशाला बाबा को भेंट किया। अपरिग्रही बाबा के लिए इसका कोई महत्त्व नहीं था। और उसने इसे धूने की प्रज्वलित अग्नि को भेंट कर दिया। महाराजा खिन्न हुए और हतोत्साहित भी। महाराजा के मनोभाव को पहचानते हुए बाबा ने अपने चमत्कार से आनन-फानन में धूने से उसी प्रकार के पांच सौ एक दुशाले सृजित कर दिए। महाराजा अत्यन्त प्रभावित थे और उन्होंने भूमि का एक बड़ा भाग इस

सिद्धपीठ को अर्पित किया। बाबा का धूना आज तक निरन्तर प्रज्वलित है और इसकी विभूति श्रद्धालु-भक्तों की मनोकामनाओं की पूर्ति करती है। एक जनश्रुति के अनुसार इसी धाम के एक अन्य सिद्ध पुरुष ने चामुंडा नंदीकेश्वर के एक सन्त को धूने की विभूति की एक पोटली भेजी थी। जब सन्त ने इसे खोला तो उसे खाने को गर्म-गर्म हलवा मिला। कालान्तर में बाबा गंगा भारती ने यहां जीवित समाधि ले ली। उसी पर बाद में एक मन्दिर बना दिया गया। जिस मार्ग से बाबा समाधि-स्थिति में गए, उनके आदेशानुसार, वहां बाद में हनुमान जी की प्रतिमा स्थापित कर दी गई। परिसर में अन्य सन्त-महात्माओं की भी समाधियां हैं। श्रद्धालुओं की मान्यता है कि इस सिद्धपीठ में आज भी बाबा गंगा भारती प्रत्यक्ष रूप में विराजमान हैं और भाग्यशाली श्रद्धालु उनके दर्शन भी करते हैं।

मन्दिर के नीचे प्रवाहमान सरिता-तट पर दो शिलाखंडों के मध्य में एक प्राकृतिक गुफा अवस्थित है, जिसमें केवल लेटकर ही प्रवेश हो सकता है। गुफा में शिव पिंडी तथा लघु देवी प्रतिमा विद्यमान है। कहते हैं कि यह गुफा ही बाबा जी का ध्यान स्थल था। मन्दिर परिसर में गुम्बज शैली का भव्य शिव मन्दिर है। भगवान् की चतुर्भुजी संगमरमरी प्रतिमा अत्यन्त मोहक और दर्शनीय है। पानी के विशाल कुंड भी यहां स्थित है। इस सिद्धपीठ के आसपास धवलधार की पर्वतीय शृंखलाओं का दृश्य, विशेषकर जब वे हिमाच्छादित हों, अत्यन्त मनोहारी होता है। बर्फानी सरिता 'मनूनी' की शीतलधारा और इसकी कल-कल ध्वनि रोमांचित कर देती है। ग्रीष्म ऋतु में तो यहां का नजारा ही अद्‌भुत होता है। वैसे तो सारा साल यहां देशी-विदेशियों का आना-जाना लगा रहता है, परन्तु शिवरात्रि महोत्सव पर जुटी श्रद्धालुओं की अथाह भीड़, श्रद्धालुओं की सिद्धपीठ के प्रति श्रद्धा का प्रतीक है। इस सिद्धपीठ परिसर के सतत विकास के प्रयास अभिनन्दनीय हैं।

बाबा कालीनाथ का चमत्कारी मन्दिर

सिद्ध् बाबा कालीनाथ मन्दिर, बड़ोह लगभग आठ सौ साल पुराना है। इस मन्दिर में एक ओर काली की पिंडी है, तो दूसरी ओर शंकर की पिंडी—नामकरण का आधार यही है। इस मन्दिर के संस्थापक बाबा लालपुरी थे, जिन्होंने यहां छोटा-सा मन्दिर निर्मित कर, यहीं समाधि ले ली थी।

मन्दिर में स्थापित पिंडी की भी अद्‌भुत गाथा है। मन्दिर के संस्थापक बाबा लालपुरी पालमपुर के एक कृषिजीवी किसान थे। एक दिन वह अपने खेत में हल चला रहे थे, तो हल का अगला भाग एक पत्थरी से टकराया। हल रोककर देखा,

तो ज्ञात हुआ कि यह एक पिंडी थी, जो हल के अग्रभाग से लहू-लुहान हुई थी। तभी आकाशवाणी हुई कि हल जोतना बन्द करो और हमें तीर्थ-यात्रा करवाओ! श्री लालपुरी ने भगवा वेश धारण किया, तीनों पिंडियां झोली में डालीं और यात्रा पर निकल पड़े। पहला विराम सुजानपुर था। यहां से बाबा चलने लगे, तो एक पिंडी यहीं स्थापित हो गई। इसे उठाने का प्रयास निष्फल रहा। एक ध्वनि सुनाई दी—"मैं बालक रूप हूँ, मुझे मेरा स्थान मिल गया है।" यात्रा शुरू हुई। बाबा मार्ग में एक स्थान पर लकड़ी काटने रुके, तो झोली एक गरने की झाड़ी पर लटका दी। भोजन करके उठे, तो एक और चमत्कार हुआ। दूसरी पिंडी ने भी साथ छोड़ दिया। ध्वनि स्पष्ट थी—मैं बाबा काली नाथ हूँ, अपने स्थान पर आ गया हूँ। तीसरी पिंडी बाबा फतहू नाम से प्रसिद्ध हुई। बाबा ने वह वृक्ष के नीचे आसन जमाया, धूना प्रज्वलित कर सेवा करने लगे।

धीरे-धीरे इस स्थान से लोगों की मनोकामनाएं पूरी होने लगीं। छोटा-सा मन्दिर बन गया—कालीनाथ मन्दिर! दोनों पिंडियों के मध्य एक कुंडी है, जिसकी गहराई एक फीट आठ इंच तथा चौड़ाई आठ इंच है। इसे कालीनाथ का खप्पर कहते हैं। जब वर्षा न हो, तो इस कुंडी का चमत्कार देखने को मिलता है। कुंडी में पानी डाला जाए और यह एकदम भर जाए, तो यह वर्षा-आगमन का संकेत है, अन्यथा सूखे की स्थिति।

बीस द्वारों वाले वर्तमान मन्दिर का निर्माण गुलेर नरेश संसारचन्द के वजीर ध्यानचन्द द्वारा करवाया गया था। राजा संसारचन्द ने अपने मन्त्री से अप्रसन्न होकर उसे जेल में डाल दिया। ध्यानचन्द ने बाबा से मुक्ति की प्रार्थना की और मन्दिर निर्माण की मन्नत मानी। बाबा ने राजा को स्वप्न में दर्शन देकर वजीर को मुक्त करने का आदेश दिया। वजीर ध्यानचन्द की रिहाई हुई और उसने गुलेर से पत्थर मंगवाकर बाबा के मन्दिर का निर्माण करवाया।

कालेश्वर महादेव : देवी उमा की तप-स्थली

देहरा उपमंडल के अन्तर्गत परागपुर के सुरम्य परिवेश में कालेश्वर महादेव का मन्दिर है, जिसका महत्त्व हरिद्वार के समकक्ष स्वीकार किया गया है। यह मन्दिर व्यास नदी के तट पर एक छोटी-सी पहाड़ी पर स्थित है। एक जनश्रुति के अनुसार इस स्थान पर देवी उमा (पार्वती) ने मोक्ष प्राप्ति हेतु भगवान् शिव की उपासना की थी। उनकी कृपा पर उनके यहां निवास का वरदान मांगा था। यह कालेश्वर महादेव शिवालय उसी वरदान का फल स्वीकार किया जाता है। देवी की

इच्छा के अनुरूप यहां राधा-कृष्ण तथा सिंहवाहिनी दुर्गा के मन्दिर भी निर्मित हैं। इस मन्दिर का उल्लेख श्रीमद्भागवत में भी है। ये मन्दिर वैसे तो सामान्य शिल्प के हैं, परन्तु इनका सांस्कृतिक महत्त्व विशेष है।

यहां वैशाखी पर विशेष आयोजन होते हैं। द्वि-दिवसीय आयोजन 'बसोये दा मेला' में विशेष स्नान पर्व प्रभावी रहता है। श्री दुर्गाष्टमी पर्व पर भी यहां स्नान का महत्त्व है। इस अवसर पर यहां कन्याओं के त्यौहार 'रली' का आयोजन होता है। जिस प्रकार आज यह तीर्थ उपेक्षा का शिकार होकर जर्जरता की ओर बढ़ रहा है, कुछ ही वर्षों में केवल इतिहास के पन्नों में ही सिमिटकर रह जाएगा।

वलोटू मन्दिर का परोपकारी रूप

परागपुर विकास खंड का एक छोटा-सा गांव है नलसूहा और यहां के ग्राम देवता है 'बाबा वलोटू'। उनका प्रभावी-परोपकारी रूप सर्वविदित है। बाबा का समय 400-500 पूर्व स्वीकार किया जाता है और उनका मन्दिर पांच सौ फीट ऊँची पहाड़ी पर अवस्थित है। इस स्थल की एक विशेषता कही जाती है कि 500 फीट की ऊंचाई पर भी यहां वर्ष-भर पानी रहता है।

मन्दिर स्थल पर ही बाबा प्रभु चरणों में लीन हुए थे और भक्तों ने इस स्थान पर भव्य मन्दिर का निर्माण करवा दिया। बाबा आज भी भक्तों की मुराद पूरी करते हैं। विद्यार्थी परीक्षा से पूर्व बाबा का आशीर्वाद प्राप्त करते हैं तो भक्तजन बाबा के चरणों में अपनी समस्याओं-चिन्ताओं का निदान पांते हैं। लोगों का विश्वास है कि यदि वर्षा का अभाव जन-जीवन प्रभावित कर रहा हो, तो बाबा की मूर्ति को स्वच्छ जल से स्नान करवाने पर वर्षा हो जाती है। बुधवार तथा शुक्रवार को बाबा के दरबार में भक्तों की भीड़ जुटती है।

चौहार घाटी का पशाकोट मन्दिर

बरोट मंडी जोगेन्द्र नगर उपमण्डल का महत्त्वपूर्ण पर्यटक स्थल है! बरोट के समीप ही चौहार घाटी के देवता पशाकोट का देवस्थल है।

इस देवता के चमत्कारी तथा रसिक स्वभाव के अनेक किस्से प्रचलित हैं। एक वृत्त के अनुसार एक बार एक व्यक्ति गुम्मा नमक की खान से नमक लेकर अपने गांव लौट रहा था। उस पशाकोट में रात हो गई और देवता ने उसे अपना मेहमान बना लिया। दैवी शक्ति से पशाकोट देवता ने नमक को पत्थर में बदल दिया और व्यक्ति को सम्मोहित कर लिया। कई दिन बीत गए और परिवार के

सदस्यों ने समझ लिया कि वृद्ध पानी के बहाव को अर्पित हो गया। तेरहवें दिन कुरड़ी (क्रियाकर्म) का विधान था। देवता को दया आ गई। जीवित व्यक्ति की कुरड़ी क्यों हो? वृद्ध मुक्त हो घर लौटा, पत्थर फिर नमक में बदल गए और घर में उल्लास। इस समाचार से पशाकोट देव की पूजा-अर्चना शुरू हो गई।

एक अन्य वृत्त भी है। देवता का मन एक स्थानीय युवती को पत्नी बनाने का हुआ। युवती पानी भरने स्थानीय तालाब पर जाती तो उसे नित्यप्रति एक पक्षी अद्भुत गीत सुनाता और वह विचलित हो जाती। अपनी मां की सलाह से युवती ने गायक को सम्मुख आने को कहा। इस पर उसके सामने एक फूल गिरा। युवती उठाने लगी तो देवता के वश में हो गई। देवता ने विवाहोपरान्त अपने सिर के बालों में ऐसी तीन गांठें लगाई कि वह लड़की अपने मायके को ही भूल गई। एक बार देवता ने सिर खुजलाया तो युवती को मायका याद आ गया और उसने वहां जाने की हठ की। उस समय वह गर्भवती थी। देवता ने उसे रेत-राख के दो खलडू (बकरे की खाल के थैले) दिए और मार्ग में इन्हें खोलने की मनाही की। घर के पास एक खलडू की शेष राख सोना बन गई तो रेत चांदी। कालान्तर में देवता की सात सन्तानें हुईं, जिन्हें पत्नी ने किसी को दिखाए बिना एक पेडू (ड्रम) में डाल दिया। मां से कहा कि इन्हें मत देखे। एकांत में मां ने झाँककर देखा तो वहां सांप ही सांप थे। इन पर गर्म-गर्म राख डाली गई तो ये पेडू से निकल जंगल की ओर भागे और वहां चौहार घाटी के अलग-अलग स्थानों पर सात देवताओं के रूप में स्थापित हो गए। ऐसी प्रख्याति है कि इनकी आराधना मनोकामनापूरक है। पशाकोट देव, अपने भक्तों की याचना पर, वर्ष में एक बार उनके निवास पर भी पधारता है, और उनकी मनोकामनाएं पूरी करता है।

ये वृत्त सुनने को चाहे विचित्र लगें, परन्तु श्रद्धा-विश्वास का तो अपना अलग संसार है।

कुंजेश्वर महादेव

कांगड़ा की चंगर क्षेत्रीय तहसील जयसिंहपुर मुख्यालय के पश्चिम में सात मील की दूरी पर स्थित कुंजेश्वर महादेव की विशेष महिमा है। व्यास नदी के तट पर स्थित इस धाम की प्रख्याति 51वें द्वार या कुंज द्वार के नाम से है। यहां शिवरात्रि-स्नान का विशेष माहात्म्य स्वीकारा जाता है। ऐसी मान्यता है कि इस पावन स्थल पर अनेकानेक महात्माओं, ऋषि-मुनियों ने तपस्या में लीन होकर सिद्धियां प्राप्त कीं। पहाड़ी शैली में निर्मित यह शिवधाम नदी तट से लगभग चार

सौ मीटर की दूरी पर पहाड़ी पर स्थित है। मन्दिर के प्राचीन शिवलिंग के दर्शन हेतु दूर-दराज से श्रद्धालु आते हैं।

प्रदेश की सिद्ध शक्तिपीठ यद्यपि अलग से चर्चित हैं, तथापि क्षेत्रीय देवी मन्दिर भी श्रद्धालुओं को अधिक प्रिय है। जखनी माता, देवी आशापुरी, मां सन्यारी, अंबिका धाम, विंध्यवासिनी बंदला मन्दिर कतिपय ऐसे ही पावन धाम हैं। स्थापित त्रिलोकनाथ मन्दिर श्रद्धालु भक्तों की आस्था का विशिष्ट केन्द्र है। यहां किसी समय शिव मन्दिरों की शृंखला थी, सात मन्दिरों में से अधुना तीन विद्यमान हैं। त्रिलोकनाथ मन्दिर के मुख्य द्वार पर हनुमान जी की पाषाण प्रतिमा है, जिसमें हनुमान जी का प्रचंड रूप भासित है—मुंह खुला, दांत बाहर निकले हुए और कानों में कुंडल! यह प्रचंड रूप हनुमान जी के लंका प्रवेश और अनेक योद्धाओं के दमन को प्रदर्शित करता है। एक यौद्धा पैरों में कुचला पड़ा है। इस मूर्ति के अतिरिक्त छोटी-छोटी मूर्तियों के लगभग पचास पैनल हैं।

मंडी में उपरोक्त शिव मन्दिरों के अतिरिक्त भी कई मन्दिर हैं—पड्डल मैदान का शिवशम्भु मन्दिर, ख्वासी का महादेव मन्दिर, ठेकेदार का द्वाला, गोसाई का शिवद्वाला, उत्तमू का शिवद्वाला। निर्माणकर्ता के नाम कतिपय देवालयों के साथ जोड़ दिए गए हैं। वास्तुशास्त्र के विधि-विधान अनुसार 12वीं शती में निर्मित, मंडी का मूलाधार-मंडी का विख्यात देवालय भूतनाथ है, जिसे यहां के नरेश अजबार सेन ने, भगवान् शिव की प्रेरणा से शिखर शैली में निर्मित करवाया। मन्दिरों की नगरी मंडी आध्यात्मिकता तथा अपने स्थापत्य के कारण श्रद्धालुओं तथा पर्यटकों के लिए समान रूप से आकर्षण का केन्द्र है।

बच्छरेटू मन्दिर, बिलासपुर

बिलासपुर जिला मुख्यालय से 25 कि०मी० और तलाई से केवल चार कि०मी० की दूरी पर अवस्थित बच्छरेटू शिव मन्दिर का निर्माण छोटे ईंटनुमा पत्थरों तथा चूना द्वारा हुआ है! इसके चारों ओर के बरामदों में आठ-आठ फीट की कड़ियाँ डाली गई हैं। निर्जन स्थान पर निर्मित इस मन्दिर को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि मानों मानव ने नहीं, देवताओं ने ही इसका निर्माण किया हो। श्रद्धालु भाखड़ा (गोविंद सागर) के दूसरे किनारे पर 'वोट' द्वारा पहुँचकर मन्दिर दर्शनार्थ जाते हैं। मन्दिर शिखर पर स्थित है, जहां से गोविंद सागर के नीले जल, भाखड़ा बाँध, नयना देवी धाम तथा देवीधार का मनोरम दृश्य सम्मुख आता है।

एक जनश्रुति के अनुसार सर्दियों के मौसम में जब कुल्लू में बरफ पड़ने लगती

तो प्राचीन काल में वशिष्ठ ऋषि यहां वास करते थे। मन्दिर के पुजारियों से एक वृत्त की जानकारी मिलती है कि यहां के एक महात्मा अपनी योग साधना द्वारा प्रतिदिन गंगा जाकर वहां स्नान किया करते थे। एक दिन साधु ने, अपने वृद्धत्व के दृष्टिगत, गंगा मैया से प्रार्थना कर क्षमायाचना की। साधु के लिए नित्य प्रति जाकर स्नान सम्भव नहीं था। साधु महात्मा को वरदान मिला कि गंगा तुम्हारे निकट स्वयं ही प्रकट हो जाएगी। साधु ने बच्छरेटू लौटने पर देखा कि सूखे चश्मे में पानी का सरोवर लहरा रहा था। महात्मा गंगा में अपना चिमटा, छतरी, तूम्बा छोड़ आया था, ये सभी यहां मौजूद थे। सरोवर का पवित्र स्नान अब भी गंगा स्नान माना जाता है।

मन्दिर की प्राचीरों तथा बरामदें की दीवारों पर उत्कीर्ण चित्रों में आज भी सजीवता झांकती है। इन भित्ति-चित्रों में विभिन्न देवताओं के कार्यकलाप, पशु चराते लोग, प्रेम-करुणा भाव चित्रित है। मन्दिर के द्वार के बाहर बाली, गरुड़, शिव की मूर्तियां स्थापित हैं। मन्दिर के निकट ही दूसरे पर्वत पर बच्छरेटू दुर्ग भग्नावस्था में है। किले के अन्दर देवी मन्दिर है। श्रद्धालुओं की आस्था मन्दिर से जुड़ी है, इसी कारण, असुविधाओं के होते हुए भी, उनका यहां आना-जाना लगा रहता है।

नरसिंह मन्दिर, फतेहपुर : मन्दिर तथा बौद्ध विहार

कांगड़ा जनपद की नूरपुर तहसील का गांव फतेहपुर अपने नरसिंह मन्दिर के कारण ही विख्यात है। यह देवस्थान शताब्दियों पुराना माना जाता है और इसके जीवन में जहां विध्वंस के थपेड़े थे तो निर्माण की हिलोरें भी। यह तथ्य विचित्र-सा प्रतीत होगा कि यह देवस्थान कभी वैष्णव धर्म का प्रचार केन्द्र बन गया तो कभी बौद्धधर्म का। मन्दिर परिसर में स्थापित महन्तों की समाधियां इसकी प्राचीनता का बोध करवाती हैं।

एक जनश्रुति के अनुसार इस मन्दिर के संस्थापक महात्मा, जिन्हें इसके जीर्णोद्धार का श्रेय प्राप्त है, एक सिद्ध पुरुष थे। इन्हें नूरपुर नरेश श्री बसु (राज्यकाल 1580-1613 ई०) का समकालीन माना जाता है। यह क्षेत्र उन दिनों एक बीहड़ मात्र था और महात्मा खुले आकाश के नीचे आसन बिछाकर तपस्यालीन रहते थे। महात्मा की सिद्धियों से प्रभावित होकर नरेश ने यहां मन्दिर का निर्माण करवाया। नूरपुर के अन्य राजा ने अपने राज्यकाल (1770-89 ई०) में अपने नाम फतेहसिंह के आधार पर फतेहपुर बसाया था। 1965-66 के राजस्व रिकार्ड के अनुसार मन्दिर की संपत्ति 400 घुमाओं भूमि थी। इसमें से अधिकांश भाग को

प्रभावी व्यक्तियों ने, भगवान् का प्रसाद मान, अपने अधिकार में कर लिया है।
लाहौर अजायबघर में इस देवालय से सम्बन्धित छटी शती की भगवान विष्णु तथा भगवान बुद्ध की मूर्तियां सुरक्षित बताई जाती हैं। इस समय कलकत्ता के म्यूजियम में संरक्षित भगवान नरसिंह की चित्ताकर्षक अष्टधातु प्रतिमा इसी देवस्थान से ले जाई गयी थी। देवस्थान से प्राप्त बौद्ध भिक्षुओं के पात्र इसकी बौद्ध धर्म से सम्बद्धता सिद्ध करते हैं। मन्दिर में आज भी अनेक दुर्लभ वस्तुएँ सुरक्षित हैं। इनमें गहरे गेरुए रंग का त्रिकोणाकार अरगा है, जिससे सूर्य नारायण को जल-अर्घ्य दिया जाता था। इसकी धातु का किसी को भी निश्चयात्मक ज्ञान नहीं। यहां रखी चित्रांकित पालकी भी दर्शनीय है। इसकी पट्टिकाओं पर कांगड़ा चित्रशैली के बारह दुर्लभ चित्र हैं—गोपी कृष्ण, गणेश, लक्ष्मी-नारायण, शिव-पार्वती आदि! धातु की विशाल देग, गंगासागर, इत्रदानी, गुलदान आदि भी आकर्षण का केन्द्र हैं। खुदाई से प्राप्त ढालें-तलवारें संकेत देती हैं कि शायद यहां किसी समय शस्त्र शिक्षा की भी व्यवस्था हो। मन्दिर की प्राचीरों पर बने भव्य भित्ति-चित्र 1905 ई० के भूकम्प में क्षत-विक्षत हो गए। वचे-खुचे कलात्मक खंभे प्राचीनता की कहानी अवश्य सुनाते हैं। मन्दिर के महन्त के पास प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। यह मन्दिर दुलर्भ वस्तुओं के संग्रह के लिए विख्यात रहेगा।

बधमाना मन्दिर : मनोकामना पूर्ति स्थल

चिन्तपूर्णी से नौ कि०मी० की दूरी पर अवस्थित वधमाणा मन्दिर 500-600 वर्ष पुराना बताया जाता है। इसे सिद्ध बाबा अजीतपाल का नाम भी प्राप्त है। जनश्रुति के अनुसार लगभग 600 वर्ष पूर्व इस क्षेत्र में एक सन्त का आगमन हुआ, जो अज्ञात रहकर भी चमत्कार करते रहे। जंगल में पशु चराने वाले कुछ लोगों ने एक दिन झाड़ी के रूप में तपस्यालीन सन्त अजीतपाल को देख ही लिया। एक प्रत्यक्षदर्शी विजय सिंह बाबा का अनन्य भक्त बन गया और उनकी सेवा में लीन हो गया। विजय सिंह दिन-भर सेवा करने के उपरान्त धर लौटता तो उदास हो जाता। माता-पिता को उदासी का कारण पता चला तो वे गांव वालों के साथ निर्दिष्ट स्थान पर गए, परन्तु उन्हें बाबा के दर्शन नहीं हुए। वहां झाड़ियों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं था। अगले दिन विजय सिंह को बाबा कहीं नजर नहीं आए। बाबा ने विजय सिंह से कह रखा था कि वह उनके विषय में किसी को न बताए। बीते दिन की घटना से बाबा रुष्ट थे और उन्होंने, विजय सिंह का आग्रह टाल स्थान छोड़ने का निश्चय किया। बाबा ने यह भी भविष्यवाणी कर दी कि

जंगल आग की भेंट चढ़ जाएगा, केवल यही स्थान बचेगा।

बाबा का कथन सत्य सिद्ध हुआ। बाबा के परलोक गमन का समय आया तो उन्होंने विजय सिंह के परिवार को वरदान दिया कि आपका परिवार ही मेरी पूजा-अर्चना करेगा। बाबा के स्थान पर बाद में मन्दिर का निर्माण हुआ। लोगों का विश्वास है कि इस स्थान पर पूजा-अर्चना से निस्सन्तान को सन्तान प्राप्ति होती है, अनेक कष्ट एवं रोग दूर हो जाते हैं। यहां पर हिमाचल के अतिरिक्त पंजाब, हरियाणा, राजस्थान तथा उत्तर प्रदेश के श्रद्धालु दर्शनार्थ आते हैं। इस स्थान के चारों ओर भद्रकाली, शीतला देवी, ठाकुर द्वारा, सिद्ध पीर, शिव बाड़ी देव स्थल हैं।

राजा बैन का ऐतिहासिक मन्दिर

ऊना जिला के ग्राम नगंड़ा में एक ऐसा मन्दिर है, जिसमें कोई भी मूर्ति नहीं! एक शिलामात्र है, परन्तु मन्दिर को 'राजा बैन का शिला मन्दिर' सम्बोधन प्राप्त है। यह मन्दिर एक मार्मिक ऐतिहासिक घटना का स्मरण करवाता है।

जनश्रुति के अनुसार किसी समय कांगड़ा रियासत का बैन नामक एक राजा था, जो एक सामान्य नागरिक की भान्ति परिश्रम करके, अपना तथा अपनी पत्नी का निर्वाह करता था। वह अपने लिए राजकोष का उपयोग नहीं करता था। एक दन्तकथा के अनुसार राजा प्रतिदिन सवा मण बाण बाटकर (सन की रस्सिया) निर्वाह का साधन जुटा, भोजन किया करता था। उसकी अति रूपवती रानी मेहतो भी सामान्य महिलाओं की भान्ति जीवन-यापन करती थी। उसे कभी-कभी अपनी सहेलियों के व्यंग्य-बाणों का भी सामना करना पड़ता कि तुम रानी होकर इस प्रकार की सामान्य जिन्दगी क्यों जीती हो, वस्त्राभूषण क्यों नहीं पहनती। आखिर ये व्यंग्य-बाण रंग लाए और रानी ने अपने पति को आभूषण बनवाने की चेतावनी दे डाली। दुःखी मन से राजा ने रात के समय, राजकीय कोश से हीरे-जवाहरात तथा आभूषण लाकर रानी को दे दिए। वह नित्य बार-बार दर्पण के सामने बैठ आभूषण पहनती और पुलकित होती।

एक दिन राजा को तेज बुखार हो गया और वह प्यास से तड़पने लगा। रानी अपने साज-शृंगार में व्यस्त थी। राजा को तड़पते देख, हड़बड़ाती हुई रानी, पानी लेने कुएं पर पहुंची। जो कुआं नित्य-प्रति उसे पानी उपलब्ध करवाता था, उसमें से न तो पानी का डोल भरा और न ही यह वापस लौटा। रानी खिन्न अवस्था में राजा के पास लौटी, परन्तु तब तक वह प्यास से दम तोड़ चुका था। रानी सदमें में पागल हो गई। प्रजावत्सल राजा जन-जन के लिए पूजित हो गया।

भित्ति-चित्रों के लिए प्रख्यात डमटाल वैष्णव धाम

मुकेरियां (होशियारपुर-पंजाब)—पठानकोट सड़क पर पठानकोट से लगभग पांच कि०मी० पहले, सड़क से कुछ दूर हटकर, 1500 फीट की ऊंचाई पर स्थित किलानुमा कांगड़ा का यह प्राचीन वैष्णव स्थल लगभग पांच सौ वर्ष पुराना बताया जाता है। कुछ लोगों का ऐसा भी मानना है कि इसका समय 350-400 वर्ष पहले का है। पंजाब के पर्वतीय क्षेत्रों (जो अब हिमाचल में है) में किसी समय शैव धर्म की प्रधानता रही। डमटाल धाम का मुख्य केंद्र गुरदासपुर जिला स्थित पिंडौरी की वैष्णव (रामानंदी) गद्दी रही है, जिसके संस्थापक भगवान जी माने जाते हैं। भगवान जी को वैष्णव सम्प्रदाय में दीक्षित करने का श्रेय श्री कृष्णदास पयाहारी को जाता है जो अनन्तानन्द जी के शिष्य थे। श्री अनन्तानन्द परम पूज्य वैष्णव सन्त रामानन्द जी के शिष्य थे। श्री कृष्णदास पयाहारी के बारे में अधिक विवरण उपलब्ध नहीं, परन्तु उनका सम्बन्ध वैष्णव गद्दी, गलता (राजस्थान) से जोड़ा जाता है। पर्वतीय क्षेत्रों में वैष्णव सम्प्रदाय के प्रचार-प्रसार हेतु पयाहारी जी को एक सशक्त व्यक्तित्व भगवान जी के रूप में ही मिला। इन गतिविधियों के संचालन के लिए गुरदासपुर का चयन हुआ। वैष्णव सम्प्रदाय का सन्देश कुल्लू रियासत में ले जाने का कार्य श्री पयाहारी ने किया और यह प्रसिद्ध है कि श्री पयाहारी ने ही इस रियासत के राजा जगत सिंह को वैष्णव सम्प्रदाय में दीक्षित किया।

परम्परा के अनुसार नारायण जी भगवान जी के शिष्य थे, परन्तु दोनों एक प्राण थे। पिंडौरी को वैष्णव परम्परा में भगवान नारायण पीठ ही कहा गया है और यह 52 वैष्णव पीठों में से एक है। 'भक्तमाल' में भगवान जी के पुण्यात्मा होने तथा नारायण जी की अलौकिक शक्तियों की चर्चा है। कुछ पहाड़ी शैली के चित्रों में इन्हें एक शरीर के रूप में—दो सिर, चार भुजाएं भगवान जी तथा नारायण जी—दिखाया गया हे। नारायण जी के शिष्य आनन्दधन जी थे, जिनके परलोक गमन के समय उनके परम शिष्य महन्त हरि राम हरिद्वार यात्रा पर थे। अस्थायी रूप में गद्दी का काम-काज एक शिष्य श्यामदास जी को सौंपा गया और श्री हरिराम के लौटने तक उनके मन में स्थायी महन्त बनने की महत्त्वाकांक्षा जाग उठी थी। श्रद्धालु श्री हरिराम के पक्ष में थे। श्री श्यामदास ने रोष व्यक्त करते हुए मुगल दरबार की सहायता मांगी। महन्त हरिराम उदार वृत्ति के व्यक्ति थे। उन्होंने श्री श्यामदास को उमटाल की गद्दी सौंप दी, जो पिंडौरी धाम के अधिकार क्षेत्र में थी। इस प्रकार उमटाल भी वैष्णव (रामानन्दी) धर्म-स्थल है।

इस धर्म-स्थल के स्थान पर किसी समय एक सघन वन था। जनश्रुति के अनुसार बाबा श्यामदास ने इस एकान्त स्थान को साधना हेतु चुना। कहते हैं कि एक बार पशु चराते ग्वालों को बाबा ने दूध के लिए कहा। उन्होंने विनोद में, बाबा के सामने लाकर बछड़ी खड़ी कर दी और कहा कि जितना दूध चाहिए, दोहन कर लो। बाबा ने बछड़ी की पीठ पर थपकी दी और उसने दूध देना शुरू कर दिया। इन लोगों ने क्षमा-याचना की। बाबा के अनेक श्रद्धालु बन गए। कालान्तर में उन्होंने बाबा से जलसंकट का निदान मांगा। बाबा ने भूमि में अपना चिमटा गाड़ा और शीतल धारा प्रवाहित होने लगी। यहां एक तालाब निर्मित हुआ—धर्मताल और वही कालान्तर में हुआ धमताल और फिर डमटाल! बाबा किसी एकान्त स्थान की टोह में थे, परन्तु स्थानीय लोगों ने, अनुनय-विनय कर उन्हें रोक ही लिया।

पिंडौरी तथा डमटाल के ऐतिहासिक-सांस्कृतिक महत्त्व को दर्शाते हुए अनेक वृत्त हैं, दस्तावेजी साक्ष्य हैं, पट्टे-परवाने हैं, तो ऐतिहासिक विवरण भी। गुरदासपुर के गजेटियर में भी विवरण है। एक वृत्त के अनुसार मुगल सम्राट जहांगीर, यहां विद्यमान पूर्व सघन वन में शिकार खेलने प्रायः आया करता था। एक बार इसी सघन वन में वैरागी भगवान तपस्या लीन थे। सम्राट उस पुण्यात्मा से भेंट के चाहवान थे, परन्तु विरक्त महात्मा सांसारिक लोभ-मोह से परे थे। वह चमत्कार द्वारा भूमि के भीतर भ्रमण कर पिंडौरी पहुँच गए। पीछा करने पर फिर डमटाल में उपस्थित हो गए। पिंडौरी तथा काहनूवान में इस घटना के साक्ष्य भूमि में बने छेद बताए जाते हैं। एक बार सम्राट का सामना भगवान जी के शिष्य नारायण जी से हुआ। इस घटना का उल्लेख 'तुज्जके—जहांगीरी' में अपने ढंग से ही है। नारायण जी ने 'मौन' धारण कर रखा था, जिस कारण उन्होंने मुगल सम्राट के प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया। बादशाह ने इस व्यवहार को 'बे-अदबी' माना और वह नारायण जी को लाहौर ले गया। नारायण जी के चमत्कारी व्यक्तित्व के परीक्षण हेतु बादशाह ने उन्हें घातक विष के सात प्याले पिलाए। इस विष की एक बूँद भी एक विशालकाय हाथी के प्राणान्त के लिए काफी थी, परन्तु गुरु-कृपा के कवच से संरक्षित, नारायण जी का कुछ भी नहीं बिगड़ा। इस घटना के बाद श्रद्धावान सम्राट ने पिंडौरी गद्दी को भूमि आदि की भेंट दी। इसी गद्दी से सम्बन्धित महेशदास भी चमत्कारी पुरुष थे। भगवान जी के वरिष्ठ शिष्य होते हुए भी उन्होंने नारायण जी को अपनी इच्छा से यह गद्दी सौंपी थी।

डमटाल में किलानुमा भवन की ड्योढ़ी पार कर विशाल आंगल में पहुंचते हैं

तो उत्तर में परम्परागत मन्दिर के दर्शन होते हैं। मन्दिर में श्रीराम की मूर्ति स्थापना 17वीं शती में बताई जाती है। ऊँचे मंच पर स्थापित मूर्तियां वरदान मुद्रा में है—शैली दक्षिण भारतीय है। बाबा श्यामदास ने पंचमुखी हनुमान प्रतिमा भी यहां स्थापित की थी। जनश्रुति के अनुसार यहां पर दो गुफाएं थीं—एक इस स्थल को मुख्य गद्दी पिंडौरी से जोड़ती थी, तो दूसरी हरिद्वार तक ले जाती थी। इसी के मार्ग से योगी नारायण जी अपने गुरु के लिए हरिद्वार से नित्य गंगाजल लाते थे। यह सुरंग कुछ कि० मीटर तक तो जाती है, आगे पहाड़ से मार्ग अवरुद्ध है। यहां परिसर में गुम्बद शैली में 14 गुरुओं की समाधियाँ विद्यमान हैं। मन्दिर की प्राचीरों पर रामायण तथा महाभारत की कथाएं चित्रित हैं। दीवारों पर दरारें पड़ चुकी थीं और कलात्मक भित्ति-चित्र समय की धारा के शिकार भी हुए थे। सन् 1964-65 में स्वर्गीय महन्त लालदास ने इन चित्रों को यथासम्भव पुरातन रूप प्रदान करने का श्रीगणेश भी किया था। महन्त जी के पास दुर्गा सप्तशती के सूक्ष्म चित्रों का भी अमूल्य भण्डार था। इन चित्रों का निर्माण नूरपुर के श्री नत्थु ने किया था।

गुलेर, चम्बा, कुल्लू, रामनगर, जसवां, मनकोट आदि अनेक रियासतों के शासक वैष्णव सम्प्रदाय में दीक्षित हुए, या वैसे ही, इन संस्थानों के श्रद्धालु थे और इन्होंने धर्मस्थलों के विकास में योगदान दिया। राजाओं द्वारा प्रदत्त भूखण्डों के कुछ भाग पर अनधिकृत कब्जे भी हो गए हैं। भवन जीर्णोद्धार की प्रतीक्षा में हैं, श्रद्धालु कम होते जा रहे हैं, वित्तीय संकट ने विरासत के संरक्षण में सेंध लगा दी है।

मंडी के देवालय

ममलेश्वर महादेव : अद्वितीय काष्ठकला

मंडी जिला की करसोग तहसील के ममेल गांव में अवस्थित ममलेश्वर महादेव का प्राचीन मन्दिर हिमाचल की काष्ठकला का अद्भुत प्रतीक है। करसोग पूर्व सुकेत राज्य की महत्त्वपूर्ण तहसील थी और यह शिमला से 100 कि०मी० तथा सुन्दर नगर से 92 कि०मी० की दूरी पर स्थित है।

इस मन्दिर की अष्टधातु निर्मित शिव प्रतिमा में उनके साथ पार्वती और गशेण भी हैं। विभिन्न देवी-देवताओं की उत्कीर्ण आकृतियां अनुपम हैं। इस प्रतिमा की नाभि हीरा-जटिल है।

एक जनश्रुति के अनुसार किसी समय यहां अत्यन्त रूपवती अप्सरा ममलेशा का निवास था। तपस्यालीन भृगु ऋषि ममलेशा के मोहजाल में फंसकर तपभ्रष्ट हो गए! ममलेशा ने भृगु ऋषि की सन्तान को भी जन्म दिया, जिसका वंश इस

क्षेत्र में 'बेड़े' के नाम से जाना जाता है। प्राचीनकाल में इन्हीं 'बेड़ों' में भूंडा यज्ञ-नरबलि की परम्परा रही है। इसका प्रमाण अवशेष के रूप में मन्दिर में उपलब्ध बड़ा रस्सा है। जनश्रुति यह भी है कि लंका में राम-रावण युद्ध के समय ममेल गांव में भार्गव परशुराम तपस्यालीन थे। रावण युद्ध में धराशायी हुआ, परन्तु उसके प्राण नहीं निकल रहे थे। राक्षस राज को बताया गया कि जब तक वह हिमालय के आंचल में अपने हाथ से शिवमूर्ति की स्थापना नहीं करता उसके प्राण नहीं निकलेंगे। कहते हैं कि तब् लंका नरेश ने अध्यात्म बल के सहारे हाथ के एक झटके के साथ गौरी-शंकर की मूर्ति हिमालय की ओर फेंकी। यह मूर्ति मामेल में तपस्यालीन श्री परशुराम के पास गिरी। इसके बाद तुरन्त ही राक्षसराज के प्राण-पखेरू उड़ गए। श्री परशुराम ने अपने इष्टदेव की मूर्ति की विधिपूर्वक प्रतिष्ठा की। यही ममलेश्वर महादेव का देवालय है। मन्दिर में एक विशाल प्राचीन ढोल है और इसी प्रकार के ढोल निरमण्ड, दत्त नगर, काओ तथा नीरथ के परशुराम मन्दिरों में विद्यमान हैं। इस मन्दिर में प्राचीन काल का अखण्ड धूना भी है, जिसकी अग्नि कभी बुझती नहीं। वैशाख मास में यहां आयोजित होने वाले लौहल मेले की बहुत ख्याति है।

मन्दिर देवता कमरू नाग : देवता का रक्त-स्नान

हिमाचल प्रदेश के सुरम्य प्राकृतिक परिवेश में ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, कलात्मक महत्त्व के अनेकानेक देवालय या मन्दिर हैं। इस प्राकृतिक छटा में झील की रमणीयता भी शामिल हो जाए तो 'सोने पर सोहागा' वाला कथन चरितार्थ हो जाता है। कमरू नाग देवता, जिसकी पहचान वर्ष प्रदाता देव के रूप में की जाती है, उनका मन्दिर प्राकृतिक सुषमा के आगोश में है। कमरू नाग को स्थानीय लोग 'बड़ादेओ' या 'कमरवाह देओ' का सम्बोधन भी देते हैं। यह देवालय समुद्र-तल से लगभग नौ हजार फीट ऊंचाई पर मंडी-करसोग सड़क पर मंडी से लगभग 70 कि०मी० की दूरी पर अवस्थित है। इस स्थल के आसपास देवदार तथा रई के वृक्ष सुन्दर वातावरण को और भी सुहाना बना देते हैं।

वर्षा-नियन्त्रक-देव कमरू देव का मन्दिर विशाल तो नहीं, छोटे-से मन्दिर में शक्तिशाली देवता विराजमान हैं। इस स्थान का महाभारत युगीन पाताल लोक के यक्ष-राज रतनचन्द से सम्बन्ध जोड़ा जाता है। यक्षों का राजा किसी भी पक्ष के निमन्त्रण के बिना ही, महाभारत युद्ध में भाग लेने जा पहुँचा। उसके शौर्य के दृष्टिगत दोनों ही पक्ष—कौरव, पाण्डव चिन्तित थे—न जाने वह किस पक्ष का साथ

दे। श्री कृष्ण, अर्जुन सहित, उसके पास पहुंचे और उसे धनुर्विद्या का परिचय देने को कहा। उस वीर ने धनुष के एक बाण से ही पीपल वृक्ष के सभी पत्ते बींध डाले। श्री कृष्ण ने चालाकी से एक पत्ता अपने पैर के नीचे छिपा रखा था, वह भी विंध गया। श्री कृष्ण ने सहज ही में अनुमान लगा लिया कि यह तो युद्ध की दशा-दिशा को ही बदल देगा, क्योंकि उस वीर ने हारने वाले पक्ष की ओर से लड़ने का संकल्प किया था। श्री कृष्ण, ब्राह्मण वेष में, उसके पास गए और उसका सिर दान में मांग लिया। रतनचन्द की युद्ध देखने की इच्छा थी। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु उसका सिर एक ऊंचे स्थान पर स्थापित कर दिया गया। महाभारत महासंग्राम में विजयी पाण्डव विजय का श्रेय अपने को दे रहे थे। निष्पक्ष निर्णय के लिए जब 'कटे सिर' से प्रश्न किया गया, तो उसने दोनों पक्षों को धर्म-युद्ध के विपरीत आचरण के लिए कोसा। 'यही कथा महाबली भीम के पौत्र तथा घटोत्कच के पुत्र वर्वरीक के सम्बन्ध में कही जाती है। राजस्थान के खाटू श्याम में इस देव की पूजा-अर्चना होती है'।

अपनी अन्तिम इच्छा बताते हुए यक्ष सम्राट ने कहा कि उसे एकान्त-निर्जन स्थान में स्थापित किया जाए। पाण्डव उसके कटे हुए सिर को लेकर हिमालय की ओर बढ़े और इस स्थल पर उसकी स्थापना हुई।

एक अन्य दन्तकथा के अनुसार यह देव पाण्डवों से शापित है। पाण्डव कटे हुए सिर को लेकर बल्ह घाटी पहुंचे तो उन्हें शंखासुर की कर्कश ध्वनि में आगे बढ़ने को चेताया गया। विश्राम हेतु पाण्डव एक झील के तट पर ठहरे। वहां एक सुन्दर युवती भेड़ें चरा रही थी। 'कटे हुए सिर' के रूप में रतनचन्द उस पर मोहित हो गया। जब प्रयास करने पर भी, कटा सिर उठाया नहीं जा सका, तो पाण्डवों ने खीजकर शाप दे दिया—'इस क्षेत्र के देवताओं में भले ही तुम्हारा सर्वश्रेष्ठ स्थान माना जाए! वर्षा का सन्तुलन भले ही तुम्हारे हाथ में रहे, तुम ऐसे लोगों द्वारा पूजित होंगे जो शौच के अनन्तर जल का प्रयोग न करते हों। तुम्हारी पूजा 'पुहले' (रस्सी से बने जूते) पहनकर की जाएगी।' इस शापित देवता का 'गुर' उस सुन्दर युवती की परम्परा से ही होता है।

कमरू नाग देव की पूजा संक्रांति, विशेष रूप से लोहड़ी तथा वैशाखी पर्वों पर होती है। हर तीन वर्ष के बाद एक बड़ा आयोजन होता है—हवन एवं सहभोज! आषाढ़ संक्रांति के 'सरनाहली' नामक मेले में बड़ी संख्या मं बकरे कटते हैं और उनके रक्त में देव-स्नान होता है। लोक विश्वास है कि इस दिन कमरू देवता 'गुर' के रूप में आकर श्रद्धालुओं के मनोरथ सफल करते हैं।

यहां एक और विचित्रता है कि चढ़ावे की सम्पूर्ण राशि पास ही झील में डाल दी जाती है। अथाह सम्पदा के कारण झील को 'लेक ऑफ वेल्थ' की संज्ञा प्राप्त है। यह भी कहा जाता है कि एक बार चोरों ने झील से सोना-चांदी निकालने का प्रयास किया, परन्तु वे अपनी दृष्टि गंवा बैठे। अजब लोक-विश्वासों के घेरे में है यह देव—कमरू नाग!

मंडी : हिमाचल की काशी

काशी शिव का धाम है। विश्वास है कि प्रलय में भी इसका क्षय नहीं होता। मंडी में शिवरात्रि का आयोजन जिस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप धारण कर चुका है तथा भगवान शिव के अनेक रूप यहां मूर्तायित हुए हैं, मंडी को हिमाचल प्रदेश की काशी के रूप में स्मरण करना सर्वथा उचित होगा।

मंडी में भगवान कृष्ण का राज्य रहा है और शिव यहां के देवता—कैसा विचित्र संयोग! मंडी में 1637-64 ई० के मध्य राजा सूर्यसेन का शासन था। जब नरेश के अठारह पुत्रों में से एक भी जीवित नहीं रहा, तो नरेश ने भगवान कृष्ण की एक रजत प्रतिमा का निर्माण करवा 15 फाल्गुन 1705 को अपना राज्य उन्हें समर्पित कर दिया और भगवान के प्रतिनिधि के रूप में राज-काज देखने लगे। भगवान शिव देवाधिदेव हैं, जिनके अपने रूप तथा नाम हैं—भूतनाथ, अर्धनारीश्वर, पंचवक्त्र, त्रिलोकनाथ, महामृत्युंजक, नीलकंठ, कामेश्वर, एकादश रुद्र महादेव, रणेश्वर, कालेश्वर (चलेसर), सिद्ध भैरव इत्यादि। मंडी में शिव शंकर के विभिन्न रूप सहज ही सुलभ हैं।

भूतनाथ मन्दिर में अनगढ़ पत्थर-प्रतिमा है, जिसे स्वयंभू शिवलिंग के रूप में स्वीकारा जाता है। त्रिलोकनाथ में शिव मानवाकार त्रिमुखी प्रस्तर मूर्ति में विराजते हैं। पंचवक्त्र मूर्ति में पांच मुख हैं—ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव तथा सद्यो-जात। अर्धनारीश्वर प्रस्तर प्रतिमा में पुरुष और प्रकृति का समन्वित रूप है। महामृत्युंजय प्रतिमा चतुर्मुखी है तो नीलकंठ महादेव एक मीटर प्रतिमा में दिखते हैं। कामेश्वर महादेव का मन्दिर गुम्बदाकार है और यहां प्रस्तर शिवलिंग है।

हिमाचल की चित्रकला भित्ति-चित्रों के रूप में विशेष रूप से निखरी है। यहां के मन्दिरों की भित्तियां किसी समय भित्तिचित्रों से अलंकृत रही हैं, परन्तु अब वह अलंकरण काल का ग्रास बन गया है। फिर भी स्थापत्य तथा मूर्तिकला की विविधता आज भी दर्शनीय है। व्यास और सुकेती के संगम पर स्थित शिव मन्दिर में प्रतिष्ठत मूर्ति बृहदाकार तथा कलात्मक है, जबकि रणेश्वर महादेव में पंचवक्त्र

मूर्ति अपेक्षाकृत सामान्य है। शमशान भूमि में स्थित महाकाल मन्दिर में एक मीटर ऊंची त्रिमुखी प्रतिमा है। मूलमूर्ति तो अब खण्डित हो चुकी है। गर्भगृह में इसकी प्रतिकृति है। सिद्धसर के भैरव मन्दिर में प्रस्तर शिवलिंग स्थापित हैं। विपाशा तट पर स्थित पंचायतन शैली के एकादश रुद्र महादेव मन्दिर के गर्भगृह में एकादश रुद्रों के अतिरिक्त संगमरमर का शिवलिंग स्थापित है। मन्दिर के चारों कोनों पर लघु देवालय निर्मित हैं। स्थानीय भाषा में रुद्र महादेव मन्दिर को 'साहिबनी का द्वाला' कहा जाता है। इसके समीप ही राजा भवानी सेन के राजगुरु शिवशंकर द्वारा निर्मित शिवालय भी है। व्यास नदी के जिस घाट पर इन मन्दिरों का निर्माण हुआ, वह भी राजा भीमसेन की रानी खैरागढ़ी की देन है। इस घाट पर शिव और बैठे हुए नन्दी की भव्य प्रतिमा है। दूसरी ओर बजरंग बलि भी विराजमान हैं।

कुल्लू तथा आसपास के देव स्थान

कुल्लू शब्द में विशेष आकर्षण है। यह देवताओं की वादी है। 'कुलांत पीठ', जो इसका प्राचीन नाम था, इसके श्रवण मात्र से ही श्रद्धायुक्त भय तथा साहसिक भावों का उदय हो जाता है। हिमाचल प्रदेश के पर्यटन विभाग द्वारा प्रकाशित पुस्तिका में उल्लेख है—"What greater feeling of romance & awe can be at 'Kulanpita'—the end of the habitable world? This is kullu, or 'Kulanpita', as it was earlier called. Beyond it rise the forbidding heights of the Greater Himalayas, and by the banks of the river Beas lies the fabled Silver valley.— The Kullu region is brim full of natural treasures.—Rolling glens & mossy meadows, rushing streams & meandering brooks." इसके दूर-पार हिमालय की बुलंदियां है, ब्यास (विपाशा) के तट पर और आगे फैली सुन्दर वादियां, प्रकृति का समूचा सौन्दर्य जैसे यहां ही घनीभूत हो गया हो। कुल्लू विषयक मोहन मैत्रेय का उल्लेख इस प्रकार है—"कुल्लू का स्मरण आते ही मदमाती ब्यास तथा उसकी सहयोगी नदियां, फलों, विशेषकर सेव और गिलास के सुन्दर बाग। नास्पाती की भान्ति चेहरे वाली सुन्दर, परन्तु भोली-भाली रमणियां आंखों के सामने नाचने लगती हैं। अनेक देवी-देवता, विशालकाय गहन वन, पुष्प-वाटिकाएं, रिसते मनोरम झरने, कल-कल नादिनी नदियां, प्राकृतिक सौन्दर्य को चार चांद लगाने वाली नारी कंठों से मुखरित होने वाली कोकिल सम मधुर ध्वनियां—यह सब कुल्लू का निजी ही है।[1]

---

1. पंजाब का पर्वतीय साहित्य : मोहन मैत्रेय (कीर्ति प्रकाशन)

इस परिवेश में कुल्लू तथा उसके आसपास के देवस्थानों की चर्चा संगत होगी।

ब्रह्मा मन्दिर : पगौडा-पहाड़ी शैली मिश्रण

ब्रह्मा, विष्णु, महेश—सृष्टि के रचयिता, पालक तथा संहारक माने जाते हैं। यहां देश-भर में स्थान-स्थान पर शिवालय हैं, विष्णु के मन्दिर हैं, वहां सृष्टिकर्ता के मन्दिर गिने-चुने ही हैं। शायद सृष्टि रचना के अनन्तर ब्रह्मा अपना अस्तित्व ही खो देते हैं। ब्रह्मा जी का प्रख्यात मन्दिर पुष्कर (राजस्थान) में है। हिमाचल में भी स्थिति देश के अन्य भागों से भिन्न नहीं। यहां अनेक शक्तिपीठ हैं, शिवालय हैं, विष्णुधाम है, परन्तु ब्रह्माजी का एकमात्र मन्दिर कुल्लू जिला के भूंतर से पश्चिम की तलहटी में स्थित खोखण ग्राम में ही है। खोखण के समीप बजौरा में शिखर शैली में निर्मित मध्यकालीन विश्वेश्वर महादेव का मन्दिर है, जिसमें ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के स्वरूप हैं। खोखण का मन्दिर आदि ब्रह्मा का है—ब्रह्माजी को समर्पित।

खोखण का मन्दिर मिश्रित शैली-पैगोड़ा तथा पहाड़ी में निर्मित है। मन्दिर की चार मंजिलें नीचे से ऊपर की ओर क्रमशः छोटी होती जाती है। मन्दिर की सबसे ऊपर वाली मंजिल में स्थानीय रंग है—छत पर मोटा शहतीर (स्थानीय बोली में बदोर) रखा गया है, जिसके ऊपर तीन कलश स्थापित हैं। मन्दिर में काठ्कुणी शैली—प्रत्येक मंजिल के चारों ओर लकड़ी की झूलती लड़ियां (छूनी)—की झांकी हैं। यह छत को सहारा देने का प्रयोग भव्य तो है ही, चमत्कारिक भी। मन्दिर के धरातल पर चारों ओर चार मोटे वर्गाकार खम्बे स्थापित हैं। मन्दिर के प्रवेशद्वार, खम्भों एवं शहतीरों की नक्काशी देखते ही बनती है। मन्दिर की वास्तुकला के मुख्य आयाम हैं—बेल-बूटे, फूल-पत्ते तथा पौराणिक विषयों पर आधारित चित्र।

मन्दिर का निर्माण किस शासक के शासनकाल में हुआ, यह कहना कठिन है। निर्माण 16वीं शती का स्वीकारा जाता है। स्थानीय लोग इसे ब्रह्मा जी की ही रचना मानते हैं। एक जनश्रुति है कि यह मन्दिर पाण्डवों द्वारा निर्मित है। एक जनश्रुति के अनुसार मन्दिर के निर्माण में मकड़ी के जाले की सहायता ली गई। मकड़ी ने अपना जाल बुना होगा और वास्तुशिल्प में इसी कल्पना को साकार कर दिया गया होगा। मन्दिर के गर्भगृह में ब्रह्मा जी की अष्टधातु प्रतिमा स्थापित है। घाटी के अन्य देवताओं की भान्ति ही ब्रह्मा जी को पालकी तथा अन्य सुविधाएं उपलब्ध हैं। पुरातात्विक दृष्टि से भी इस देवस्थान का महत्त्व आंका गया है।

बजौरा में विश्वेसर महादेव : सांस्कृतिक धरोहर

प्राचीन संस्कृति एवं अनुपम कला के प्रतीक, मंडी-कुल्लू राष्ट्रीय राजमार्ग पर, बजौरा गांव में निर्मित विश्वेसर महादेव मन्दिर, का निर्माण काल आठवीं शती स्वीकारा जाता है। बजौरा को किसी समय देव घाटी कुल्लू का प्रवेश द्वार माना जाता था। कुल्लू में सांस्कृतिक महत्त्व के अनेक स्थल हैं, परन्तु बजौरा इस दृष्टि से अलग है कि इसमें भारतीय संस्कृति के अनेक युग मूर्तिमान हुए हैं। पौराणिक युग से बौद्धकाल तथा वहां से सन् 1650 तक बजौरा सांस्कृतिक इतिहास की अनेक कड़ियां जोड़ने में समर्थ दीखता है। गुप्त काल में शायद मन्दिर का जीर्णोद्वार हुआ था।

मन्दिर के स्थापत्य की विशिष्टता यह है कि पत्थर के चौकोर टुकड़ों को जोड़कर मन्दिर का निर्माण हुआ है। पूर्व में मन्दिर के मुख्य द्वार पर विशाल शिवलिंग विराजमान है। यद्यपि यह अब खंडित है, परन्तु इसका शिल्प स्पष्ट झांकता है। अन्य द्वारों के झरोखों में सूर्य, गणपति, दुर्गा तथा विढणा उत्कीर्त है। मन्दिर परिसर में मन्दिर के उपलब्ध माडल से स्थिति स्पष्ट हो जाती है कि उस समय भी स्थापत्य की रूपरेखा 'माडल' के रूप में तैयार की जाती होगी। दीवारों पर अर्धकमल हैं, जिन पर देवगृहों के समूह अंकित हैं। मन्दिर की पिछली दीवारों पर अपने वाहनों पर सुसज्जित गंगा-यमुना हैं।

बजौरा इस दृष्टि से भी विशिष्ट है कि यहां पंच-देव-उपासना का प्रचलन रहा है। यह उपासना पद्धति शंकराचार्य की देन थी, जो समन्वयवादी थे। जन-साधारण के लिए उन्होंने इसी पद्धति को उपयोगी ठहराया था। प्रत्येक व्यक्ति का अपना इष्ट होता है, परन्तु ब्रह्म तो इन सबसे भिन्न एवं विशिष्ट होता है। शंकराचार्य के समय में बौद्ध धर्म में अनेक विकृतियाँ प्रवेश कर चुकी थीं—मंत्रयान, वाम मार्ग का उदय हो चुका था। बौद्धधर्म बजौरा के प्रवेश द्वार से ही 'कुलांतपीठ' (कुल्लू) में प्रविष्ठ हुआ था, यहीं इस पर विश्वेश्वर महादेव मन्दिर निर्माण के माध्यम से 'अद्वैत दर्शन' का प्रहार हुआ। शिमला के संगहालय में इस मन्दिर की अनेकानेक मूर्तियों के भग्नावशेष सुरक्षित है। मन्दिर परिसर के फलों के उद्यान से भी कतिपय खोदकर निकाली गई मूर्तियों की बात कही जाती है। सार्थक प्रयास से सांस्कृतिक महत्त्व की विरासत की खोज आज भी संम्भव दीखंती है, पुरातात्विक दृष्टि तथा परिश्रम दरकार है।

मनु मन्दिर, मनाली

पुराणों में उल्लेख है कि ब्रह्मा जी को सृष्टि रचना में सफलता नहीं मिल रही थी, तो उन्होंने अपने शरीर के दक्षिण भाग से मनु और वाम भाग से शतरूपा का सृजन किया। प्रथम मनु स्वायम्भुव की गायत्री तथा ब्रह्मा से सृष्टि हुई। आदि मनु ने 'मानव धर्म सूत्र' की रचना की। वर्तमान मन्वन्तर के मनु सूर्य पुत्र वैवस्वत हैं। वर्तमान मनुस्मृति इन्हीं की रचना है। इसी में आदर्श शासन प्रणाली के नियम हैं। कम्बोडिया के संसद भवन में मनु की प्रतिमा स्थापित है और उसके नीचे उल्लेख है—The first Law giver to the human kindness–the Manu

जल-प्लावन की ऐतिहासिक घटना किसी-न-किसी रूप में, विश्व के सम्पूर्ण साहित्य में चर्चित है। भारतीय साहित्य-इतिहास भी इससे वंचित नहीं। इसी घटना ने मनु को देवताओं से अधिक विलक्षण सृष्टि रचने का अवसर दिया। शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है कि देवताओं की स्वच्छन्दता एवं घोर विलासिता के कारण प्रकृति ने भयानक रूप धारण कर लिया। चारों ओर प्रलय का दृश्य था। महान कवि जयशंकर प्रसाद ने इसी ऐतिहासिक घटना को काव्यात्मक परिधान दिया है, मनु के माध्यम से मानवीय मनोवेगों का भी सुन्दर चित्रण किया है। प्रलय की भीषणता यों वर्णित हैं—

उधर गरजतीं सिन्धु लहरियां,
कुटिल काल के जालों सी,
चली आ रहीं फेन उगलती,
फन फैलाए ब्यालों सी!

मनु इस प्रलय में से एक नौका के सहारे वच निकलते हैं और वह नौका जहां ठोर पाती है, वह हिमाचल का भूखंड मनाली ही रहा होगा। मनु के कारण ही यह स्थान मनु-आलय भाव मन्वालय कहलाया जो बाद में मनाली बन गया। मनु का, भारत में एकमात्र मन्दिर, मनाली में स्थित है, जहां नित्य-प्रति पूजा भी होती है। वर्तमान मनाली वास्तव में 'दाना बाजार' है, मनाली गांव शहर से तीन कि०मी० दूर है। स्थानीय लोग मन्दिर को 'मानु रिखी' कहते हैं। पच्चीस लाख की लागत से मन्दिर का जीर्णोद्धार भी हो चुका है। यह धार्मिक स्थल ऐतिहासिक-सांस्कृतिक विरासत है।

विशिष्ट मन्दिर की सुन्दर नक्काशी

मनाली से चार कि०मी० पूर्व स्थित है गांव—भांग! गांव से कुछ आगे दाएं

हाथ ब्यास का मार्ग है तो वाएं हाथ ढलान का मार्ग, ढलान पर अवस्थित है विशिष्ट मन्दिर। यह मन्दिर प्रांगण की सतह से ऊंचे चबूतरे पर निर्मित है। बरामदे से मन्दिर की परिक्रमा में प्रवेश होता है। मन्दिर में काले पत्थर से निर्मित चार फीट ऊंची विशिष्ट ऋषि की मूर्ति है। प्रत्यक्षदर्शी का विवरण कितना सजीव है—"नाटा कद! पूजा की मुद्रा में ऋषि की मूर्ति। मोटी सफेद आंखों में एक ज्योति का आभास। मोटा स्थूल और नाटा शरीर, एक हाथ में रुद्राक्ष की माला और दूसरे में लोटा। धोती, अंगोछा और जनेऊधारी ऋषि की मूर्ति कई शताब्दियों से यहां स्थापित बताई जाती है।"[1] मन्दिर के द्वार पर लकड़ी के पैनल में रामायण के दृश्य उकेरे गए हैं। लकड़ी पर ही रामचन्द्र, लक्ष्मण, गणेश, हनुमान आदि के चित्र खुदे हैं। नक्काशी अत्यन्त सुन्दर हैं, बेल-बूटे, फल-पत्तियां भी भव्य हैं। वैशाख में यहां तीन दिन के मेले का आयोजन होता है। विशिष्ट ऋषि को पालकी में गांव की यात्रा करवाई जाती। कभी मेवे-बादाम के प्रसाद की प्रथा भी रही है।

बिजली महादेव मन्दिर

कुल्लू के दक्षिण-पूर्व में यहां से 14 कि०मी० की दूरी और समुद्र-तल से 2460 मीटर की ऊंचाई पर स्थित है चमत्कारी बिजली महादेव! कुल्लू के ढालपुर क्षेत्र के ऊंचे पहाड़ के दाएं कोने में घने देवदारों के मध्य अवस्थित बिजली महादेव का प्राकृतिक परिवेश अत्यन्त मनोरम है तो इसका अध्यात्म भी विलक्षण है। जिस पर्वत के दाएं कोने में देवस्थान है, वह पर्वत भी अनेक रंगों तथा रूपों में दर्शकों को लुभाता है। मार्च-अप्रैल में इस पर दूधिया-गुलबी फूलों की चादर सी बिछ जाती है। जून से अगस्त मास तक पलम, खुमानी, नाशपाती, बादाम, सेब की यहां बहार रहती है। देवदार के वृक्ष तो मुकुट सदृश सदा विराजते हैं। कुल्लू में टापू से ठेला तक बस में यात्रा की जा सकती है, फिर पैदल यात्रा। टापू से पैदल चढ़ाई में 5-6 घंटे दरकार हैं। बिजली महादेव के मनोरम स्थल का कुल क्षेत्रफल पांच कि०मी० के लगभग होगा। बिजली महादेव पहाड़ के शिखर से कुल्लू घाटी का दृश्य अत्यन्त लुभावना है—दक्षिण में ब्यास नदी के साथ मीलों तक फैले हरे-भरे खेत, भुन्तर की आकर्षक हवाई पट्टी, पूर्व में पार्वती घाटी और मणिकर्ण की हिमाच्छादित चोटियां, पश्चिम में कुल्लू नगर और उसके पिछवाड़े विशाल पर्वत शृंखला, उत्तर में रोहतांग बर्फ से ढकी पर्वतमाला।

---

1. ब्यास तीरे : इन्द्रनाथ चावला — प्रवेश प्रकाशन, पटियाला। (पृष्ठ 95)

बिजली महादेव से सम्बन्धित एक प्रसिद्ध दन्तकथा है। इसके अनुसार जब भगवान शिव ने आसमानी बिजली को धरा पर छोड़ा तो ऋषि वशिष्ट ने, इससे उत्पन्न होने वाले संकट के दृष्टिगत, इसे स्वयं ही पीने की भगवान को प्रार्थना की। भगवान शिव ने ऐसा ही किया। किंवदंती के अनुसार लगभग बारह वर्ष की अवधि के पश्चात् इस मन्दिर पर आकाश से बिजली गिरती है और द्वार के मार्ग से शिवलिंग तक पहुंचकर उसके टुकड़े-टुकड़े कर देती है। मन्दिर के प्रांगण में मुख्य द्वार के समीप 60 फीट ऊंचा लकड़ी का खम्भा खड़ा है। बिजली पहले इस पर प्रहार करती है। बिजली गिरती है तो केवल शिवलिंग पर ही, अन्य किसी पर नहीं। दूसरे ही दिन पुजारी शुद्ध मक्खन से शिवलिंग के टुकड़ों को जोड़ देता है और यह पहले सदृश ही हो जाता है।

बिजली महादेव किसानों के देवता हैं और उनकी कृपा से वर्षा होती है तथा किसानों के घर-खलियान सम्पन्नता से भर जाते हैं। फसल के पकने पर मन्दिर में मेले का आयोजन होता है। पूजा-अर्चना होती है। मक्खन-मधु की शिवलिंग को भेंट चढ़ती है। यह मन्दिर पूर्णरूप से लकड़ी निर्मित है। यह देवस्थानं काफी प्राचीन माना जाता है।

रघुनाथ मन्दिर, कुल्लू

हिमाचल प्रदेश तो देवभूमि है। कुल्लू को तो देवताओं की वादी की संज्ञा प्राप्त है। कुल्लू तथा इसके आसपास के क्षेत्र में अनेक ऐतिहासिक देव-स्थल हैं। कुल्लू के रघुनाथ मन्दिर की विशेष गरिमा है। कुल्लू का पुराना नगर सुल्तानपुर कहलाता था। सुल्तानपुर बस स्टैंड से एक कि०मी० ऊपर की ओर ऐतिहासिक रघुनाथ मन्दिर है। श्री रघुनाथ इस क्षेत्र के प्रमुख देव स्वीकार किए जाते हैं।

इस मन्दिर की स्थापना से सम्बद्ध एक वृत्त है। कुल्लू नरेश एक बार ऐसे अस्वस्थ हुए कि अनेक प्रयत्न करने पर भी उनके जीवन की कोई आशा नहीं रही। एक ब्राह्मण ने नरेश को बतांया कि उनकी यह हालत एक शाप के कारण है। अपना महल निर्मित करवाने के लिए उन्होंने एक निर्धन ब्राह्मण की झोंपड़ी को अग्नि की भेंट करवा दिया था। दैवी प्रकोप से त्रण पाने के लिए नरेश ने अपना राज्य रघुनाथ जी को समर्पित कर दिया और उनके सेवक के रूप में राज-काज करने लगे। इस प्रकार नरेश के प्राणों की रक्षा हो सकी। कुल्लू में श्री रघुनाथ (रामचन्द्र जी) के मन्दिर की स्थापना की गई और इन्हें घाटी का मुख्य देवता स्वीकारा गया।

कुल्लू के दशहरा ग्राउंड (ढालपुर) में दस दिन का दशहरा मेला लगता है।

मन्दिर के आकार के लकड़ी के रथ में सवार होकर, ढोल, करनली, शहनाई, तुरही तथा नगाड़ों की मधुर ध्वनियों के स्वागत-मध्य, रघुनाथ जी मैदान में पधारते हैं। यहां वादी के सभी देवता अपने रंग-बिरंगे परिधानों में उनकी अगवानी करते हैं। यह समारोह आज अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप धारण कर गया है। इसके मूल में है घाटी के मुख्य देवता रघुनाथ जी की कृपा-दृष्टि।

जगती पथ : 33 करोड़ देवताओं की पूजास्थली

सन् 1460 तक कुल्लू की राजधानी रहा नग्गर हिमाचल का एक सुरम्य स्थल है, जिसका प्राकृतिक सौन्दर्य इसे अलग ही पहचान देता है—आसपास 'रोहतांग दर्रा' के बर्फीले पहाड़, सीढ़ीनुमा खेत, चीड़-देवदार के ऊंचे-ऊंचे पेड़ और ब्यास नदी के कारण द्विगुणित होता सौन्दर्य—सब कुछ अनुपम है।

दसवीं शती में निर्मित त्रिपुर सुन्दरी मन्दिर कलात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। 'जगती पथ', जो वर्तमान होटल कैसल में स्थित है, एक अनूठा स्थल है। यह होटल पहले एक किला था, जिसे पांच सौ वर्ष पूर्व राजा सिद्धसिंह ने पत्थर और लकड़ी के प्रयोग से भव्य रूप दिया था। लोक विश्वास है कि 'जगती पथ' मन्दिर में जो पत्थर की 'तांत्रिक पीठ' है, उसका निर्माण स्वयं मधुमक्खियों ने किया था। मई मास में इस क्षेत्र के लोग, अपने देवताओं के संग, इस मन्दिर के प्रांगण में एकत्रित हो जाते हैं। पुजारी अनेकानेक मन्त्रों के द्वारा देवताओं की पूजा-अर्चना करके, उनके आशीर्वाद के रूप में, श्रद्धालुओं की विपदाओं के शमन का आश्वासन देता है। 'जगती पथ' को 33 करोड़ देवताओं की पूजा स्थली माना जाता है। इस क्षेत्र के अन्य मन्दिरों में गौरी शंकर मन्दिर, चतुर्भुज मन्दिर, मुरलीधर मन्दिर भी दर्शनीय है।

नग्गर का पुरातत्व की दृष्टि से भी महत्त्व है, परन्तु खेद इस बात का है कि यह महत्त्व ठीक प्रकार से आंका नहीं गया है। नग्गर की सुन्दरता के कारण यहां सैलानियों का आना-जाना शुरू हुआ। आवासीय सुविधा हेतु गेस्ट हाउस निर्माण शुरू हुआ। इस निर्माण के लिए खुदाई हुई तो भूमि के भीतर से छोटी-छोटी मूर्तियां घड़े, कटोरे, खिलौने आदि प्राप्त हुए। विदेशी पर्यटकों को भनक पड़ी तो उन्होंने समय-समय पर स्वयं खुदवाई करवाकर पुरातात्विक महत्त्व की वस्तुओं को खोज निकाला। यह निष्कर्ष भी निकाला गया कि इस धरोहर का सम्बन्ध चौथी तथा छठी शती से है। चीनी यात्री फाह्यान ने भी ऐसी सामग्री का उल्लेख अपनी पुस्तकों में किया है। प्रादेशिक सरकार तथा पुरातत्व विभाग को इस सन्दर्भ में अधिक सक्रिय तथा सम्वेदनशील होना चाहिए। ◻◻◻

सिरमौर, महासू, किन्नौर आदि के मन्दिर

शिलाई का गूगा मन्दिर : भैरव प्रकोप का निदान

सिरमौर के तहसील मुख्यालय शिलाई में बाजार से काफी ऊपर पहाड़ी पर गुगाजी का दो-तीन सदी पुराना प्राचीन शैली का मन्दिर है। यहां से जौनसार बाबर (उत्तर प्रदेश) का हजा (दसऊ) गांव, तो दूसरी ओर सिरमौर जिला का काफी बड़ा भाग स्पष्ट दिखाई देता है। इस मन्दिर के निर्माण से जुड़ी दन्तकथा स्थानीय लोगों के विश्वास की परिचायक है। स्थानीय लोगों के अनुसार हजा गांव में सूखे में भी भू-स्खलन होता रहता था। यहां से निकलने वाला धुआँ शिलाई में भी दीखता था। विश्वास था कि इसी 'खान' से देवता भैरव का प्रकटीकरण हुआ था, जिसका यह प्रकोप शिलाई में भी स्पष्ट था। भयभीत लोगों ने सफेद पशु रखना, जहां तक कि सफेद वस्त्र धारण करना भी बन्द कर दिया था। लोक विश्वास बन गया था कि जो भी ऐसा करेगा, प्रकोप का शिकार हो जाएगा। इस प्रकार लोग भय के साए में जी रहे थे। पण्डित, ज्योतिषी तथा 'खेलने वाले'—सभी एकमत थे कि यह भैरव का प्रकोप है। इसे शान्त करने हेतु इस गूगा मन्दिर का निर्माण हुआ।

वैसे तो इस मन्दिर में श्रद्धालुओं का आना-जाना लगा ही रहता है, परन्तु श्री कृष्ण जन्माष्टमी की रात क्षेत्रीय लोग विशाल संख्या में एकत्रित होकर पूजा-अर्चना तथा रात्रि-जागरण करते हैं। बड़ा धूना लगाया जाता है, जिसे देख हजा निवासी भी धूना लगा देते हैं। वर्षों पुरानी परम्परा आज भी कायम है।

ब्रजेश्वर मन्दिर, सरांहा : अद्‌भुत वास्तुशिल्प

सरांहा छोटा-सा गांव, चूड़चांदनी पर्वत की तलहटी में देवदार के वृक्षों के मध्य अवस्थित है। 'सरांहा' सुरस्थान का अपभ्रंश है। यह गांव ब्रजेश्वर मन्दिर के कारण श्रद्धालु-भक्तों और कला प्रेमियों के आकर्षण का केन्द्र है। हिमाचल में मन्दिरों का वास्तुशिल्प मुख्यतः दो प्रकार का है—नागर शैली, पहाड़ी शैली। एक सर्वेक्षण के अनुसार नागर शैली के अधिकांश मन्दिर आज भग्नावस्था में हैं। सरांहा का यह ब्रजेश्वर मन्दिर पहाड़ी शैली में निर्मित है और अपने वास्तुशिल्प एवं मूर्तिशिल्प के लिए विख्यात है।

ब्रजेश्वर महादेव को स्थानीय लोगों की भाषा में 'बिजट देवता' कहा जाता इस देवस्थान से सम्बन्धित कतिपय किंवदंतियों का प्रचलन है। 'बिजट देवता' देवराज इन्द्र का अवतार माना जाता है। मन्दिर में मुख्य प्रतिमा देवराज इन्द्र है, जिसके साथ-साथ यहां कामधेनु, कल्पवृक्ष, शिव, विष्णु, धर्मराज तथा अन्य -देवताओं की स्वर्ण प्रतिमाएं विराजमान है। एक जनश्रुति के अनुसार जब त्रासुर ने अपनी सेना के साथ चूड़धार पर्वत के शिरगुल मन्दिर पर आक्रमण या तो इस असुर को देव-आक्रोश से उत्पन्न उल्का का शिकार होना पड़ा। इस कापात के साथ ही सरांहा में ब्रजेश्वर की प्रतिमा के गिरने की बात कही जाती इसी प्रतिमा पर कालान्तर में मन्दिर का निर्माण हुआ।

सहस्रों वर्ष बाद भी मन्दिर के स्थापत्य की यथास्थिति का कारण मन्दिर की ऊँची एवं आकर्षक अट्टालिकाएं बताई जाती हैं। एक मन्दिर में देवराज इन्द्र जमान हैं, तो दूसरा मन्दिर खाली पड़ा है। कारणं बताया जाता है कि र्णोद्धार के समय रिक्त पड़े मन्दिर में मूर्ति का स्थानांतरन हो सके! इस देवता साम्राज्य रेणुका, ब्रह्मावर्त गिरि गंगा, चौपाल रोहड़ू, कोट खाई, उत्तर प्रदेश के केदार खण्ड आदि क्षेत्रों तक फैला है, जिसमें बिजट देवता अपने भक्तों को न देने नौ वर्षों में एक बार निकलते हैं। इस प्रवास को 'धुआंकारा' सम्बोधन त है। 'धुआंकारा' यात्रा के लिए मुहूर्त निकलवाया जाता है और एक-डेढ़ वर्ष धि की इस यात्रा में 'बिजट की छड़ी' देवता का स्वरूप बनती है। मन्दिर में मान इस प्रकार की 14 छड़ियां चौदह भुवनों की प्रतीक मानी जाती हैं।

घरों में ब्रजेश्वर महादेव की पूजा-अर्चना सुख-सौभाग्य प्रदाता है और इससे दू-टोना का कुप्रभाव भी दूर हो जाता है। मन्दिर में वैशाख संक्रांति को 'बीशु' का आयोजन होता है, जिसमें सहस्रों की संख्या में श्रद्धालु शामिल होते हैं, रथ पूर्ति पर मन्नौती अर्पित करते हैं। 'ठोडा' इस आयोजन का मुख्य आकर्षण ा है! चूड़ाधार पर्वत पर आशुतोष भगवान शिव का भी मन्दिर है, जिसकी ा के लिए सरांहा प्रथम पड़ाव होता है। श्रद्धालु ब्रजेश्वर मन्दिर में पूजा-अर्चना के इस यात्रा पर निकलते हैं। धार्मिक दृष्टि के साथ पर्यटन के संदर्भ में भी इस स्थान का महत्त्व है।

ठगढ़ का शिवलिंग : स्वतः प्रस्फुटित

काठगढ़ का शिव मन्दिर पठानकोट से पच्चीस तथा इन्दोरा से सात कि०मी० दूरी पर व्यास तथा छौंछ नदी के संगम पर रेतीली टेकरी पर निर्मित है। कुछ

समय पूर्व यहां सघन वन था, परन्तु विकास की चकाचौंध इसे निगल गई। इस मन्दिर की पुरातनता तथा ऐतिहासिकता की ओर संकेत करती अनेक दन्तकथाएं हैं! ऐसी मान्यता है कि त्रेतायुग में यह आदि शिवलिंग धरती के गर्भ से स्वतः प्रस्फुटित हुआ था। अयोध्या सम्राट दशरथ-सुत भरत अपने ननिहाल कैकेय (कश्मीर) को जाते समय यहां पूजा-अर्चना किया करते थे। महात्मा तुलसीदास के एक दोहे में इस स्थान का उल्लेख हुआ है—

कित काशी कित काठगढ़ खुरासान गुजरात।
तुलसी ऐसे जीव को प्रालब्ध ले जात।।

'ब्यास पुत्र की विजय' नामक पौराणिक आख्यान के अनुसार चन्द्रलोक के महात्मा मोरपंखी की कुटिया यहीं थी। इसी महात्मा ने हरिपुर-गुलेर नरेश के जुड़वा पुत्रों को ब्यास नदी से निकाला था। महाराजा रणजीत सिंह का यहां आना-जाना भी बताया जाता है। पहले मन्दिर के निकट एक बाबड़ी थी, जिसका पानी महाराजा पीने के लिए मंगवाया करते थे। ऐसा भी कहा जाता है कि किसी समय यहां काठ्यानी लकड़ी का कोई द्वार रहा होगा, जिसके आधार पर स्थान का नामकरण काठगढ़ हुआ। सिकन्दर के यहां तक आने की बात भी कही जाती है, परन्तु उसे दैवीय प्रकोप के कारण लौटना पड़ा! उसने यूनानी देवता अपोलो का प्रतीक चित्र स्थापित किया।

पहले यह शिवलिंग खुले आकाश के नीचे था। चबूतरे पर स्थित मूल मन्दिर छोटा होता हुए भी भव्य है। इसका निर्माण प्रस्तर खण्डों से गुम्बज़ाकार मुगल शैली में हुआ था। मन्दिर को वर्तमान स्वरूप देने का श्रेय महाराज रणजीत सिंह को प्राप्त है। मन्दिर के गर्भगृह में स्थापित शिवलिंग अन्य स्थानों पर स्थापितं शिवलिंगों से भिन्न है। यह शिवलिंग ऊंचाई में छह फीट है और ऊपर से नीचे तक दो भागों में कटा हुआ है। बड़ा भाग शिव का प्रतिरूप है, तो छोटा भाग पार्वती का प्रतीक! भूरे बिल्लौरी पत्थर के इस शिवलिंग के दोनों भाग गर्मियों में एक-दूसरे से तीन से छह इंच की दूरी पर विराजते हैं, परन्तु शिवरात्रि को दोनों भाग परस्पर मिल जाते हैं। यही शिव-पार्वती का मिलन है। नित्यप्रति यहां दर्शन हेतु प्रदेश तथा उससे बाहर के श्रद्धालुओं की भीड़ जुटती है। शिवरात्रि का आयोजन यहां अत्यन्त भव्य होता है। बैजनाथ में भी यही स्थिति देखी गई है। काठगढ़ के आयोजन में परम्परागत तथा आधुनिक परिवेश—दोनों का संगम रहता है।

नाहन का काली स्थान तथा अन्य मन्दिर

सिरमौर घाटी हिमाचल प्रदेश की देवधरा तो है ही, इसकी ख्याति सौन्दर्य

और सौम्यता की दृष्टि से भी है। इसमें नाहन, रेणुका, पांवटा जैसे दर्शनीय स्थल हैं, जहां यात्री पुण्य-लाभ तो करते ही हैं, उनकी प्रकृति-प्रेम की पिपासा भी बुझती है। जिला सिरमौर का मुख्यालय नाहन समुद्रतल से 932 मीटर की ऊंचाई पर अवस्थित है। नाहन की स्थापना सन् 1621 में राजा कर्ण प्रकाश द्वारा हुई थी। नाहन की ख्याति मन्दिरों, बावड़ियों तथा तालाबों से है। नाहन में श्री जगन्नाथ मन्दिर, शिव मन्दिर, लक्ष्मी नारायण मन्दिर, मियां का मन्दिर, गुग्गा मढ़ी, लखदाता की मजार आदि दो दर्जन से अधिक देवस्थान हैं, परन्तु यहां का कालीस्थान मन्दिर अत्यन्त प्राचीन तथा ऐतिहासिक है। नगर के मध्य में स्थित जगन्नाथ मन्दिर भी प्राचीन तथा दर्शनीय है। यहां का बाबन द्वादशी मेला बहुचर्चित है। इस मेले में 52 देवी-देवताओं की शोभायात्रा मन्दिर तक जाती है। तालाब में स्नान के उपरान्त सभी देवी-देवता अपने धाम को लौटते हैं।

काली स्थान मन्दिर का निर्माण राजा विजय प्रकाश द्वारा हुआ था। इस मन्दिर में स्थापित लगभग डेढ़ फीट ऊंची काली प्रतिमा राजा विजय प्रकाश की महारानी अपने पैतृक स्थान कुमाऊँ से लाई थी। अर्चना-पूजा हेतु वहीं से पण्डित बद्रीदत्त का प्रबन्ध हुआ था। मन्दिर के लगभग ढाई फीट ऊँचे गर्भगृह में काली मां की मूर्ति के साथ काल भैरव तथा शनिदेव भी विराजमान है। पहले मन्दिर छोटा था, नालीदार चादर की छत पर पीतल का कलश स्थापित था। बाद में मन्दिर की परिधि में छह गुणा वृद्धि की गई। मन्दिर के चारों कोनों पर 20 फीट के गुम्बदों का निर्माण हुआ, जबकि बीच के गुम्बद की ऊंचाई 35 फीट है। मुख्य द्वार पर बने छोटे-छोटे गुम्बद मन्दिर को भव्यता प्रदान करते हैं। मन्दिर परिसर में शिव मन्दिर, दुर्गा मन्दिर, हनुमान मन्दिर तथा शिवकर्मा मन्दिर भी निर्मित हैं। ये सभी मन्दिर नगर तथा आसपास के क्षेत्र की धार्मिक आस्था के प्रतीक हैं।

नाहन का धार्मिक सद्भाव तथा सौहार्द इसके मन्दिर गुरुद्वारे तथा पीर के मजार के सह-अस्तित्व में झलकता है। शायद यही एक नगर है जहां दो मुस्लिम वर्ग—शिया एवं सुन्नी, मिलकर मुहरम्म का ताज़िया निकालते हैं। अन्य वर्ग तथा सम्प्रदाय भी इसी उदात्त भावना के पोषक हैं।

पीर लखदाता एक सूफी फकीर कहे जाते हैं। पीर को यह सम्मान इसलिए प्राप्त था कि वह समय-समय पर एक लाख लोगों को अजीविका प्रदान करते थे। पीर चमत्कारी व्यक्तित्व के स्वामी माने जाते थे। वीरवार को इनके मजार पर श्रद्धालुओं की भीड़ जुटती है। नाहनवासियों का पशु प्रेम भी दर्शनीय है। राजा के हाथी बृजराह की दफनगाह पर, परिवार के शिशु की अस्वस्थता पर, प्रार्थना की

जाती है। हाथी बच्चों का सहायक तथा मित्र था।

श्री गुरु गोविन्द सिंह अपनी नाहन यात्रा के समय, जिस स्थान पर ठहरे थे, वहां चौगान में गुरुद्वारा निर्मित है। यह एक छोटा-सा घर था, जिसके एक और बने चबूतरे पर गुरुजी भक्ति करते थे।

नाहन में छह प्राचीन प्रमुख मन्दिर हैं, कतिपय लघु मन्दिर इनके अतिरिक्त हैं। नगर की स्थापना से पूर्व ही यहां काली मन्दिर स्थापित था। शिव मन्दिर रानी ताल, पसीआ तालाब तथा शिवपुरी का निर्माण 16वीं-17वीं शती में माना जाता है। जगन्नाथ मन्दिर का निर्माण राजा माही प्रकाश ने 1708 में करवाया था। रानी ताल तथा जगन्नाथ मन्दिर बहुचर्चित हैं, इसलिए नहीं कि इनमें किसी विशेष वास्तु शिल्प या गुम्बदों के दर्शन होते हैं, अपितु इनकी सादगी में भी आकर्षण है। रानी ताल मन्दिर के पंचमुखी डिजाईन तथा ज्यामितिकल निर्माण ने इसे दर्शनीय बना दिया है। मुख्य गुम्बद के नीचे तथा आसपास पांच सुन्दर गुम्बद हैं—क्या यह पंच-परमेश्वर या 'पंच प्यारों' की कल्पना है?

जगन्नाथ मन्दिर, जिसमें भगवान विष्णु के स्वरूप की स्थापना है, प्रदेश में प्रचलित शैव-शाक्त परम्परा का क्या विराम है? वास्तव में यह त्रिदेवों की मान्यता की स्वीकृति है। कहते हैं कि राजा को स्वप्न में यह आदेश दिया गया था कि सिरमौर ताल के पास भूमि में दबे स्वरूप को निकालकर नाहन में स्थापित किया जाए। मन्दिर निर्मित हुआ और इसकी प्राचीरों को सिरमौर शैली के भित्ति-चित्रों से अलंकृत किया गया! प्रख्यात कला समीक्षक डॉ० बी०एन० गोस्वामी के अनुसार उन्नीसवीं शती के पूर्वाद्ध में विख्यात चित्रकार अंगद के संरक्षण में यह चित्र शैली प्रचलित थी।

नाहन के प्रसिद्ध तालों में रानी ताल की गरिमा इस समय भी किसी सीमा तक है। यह एक प्रकार की झील ही है। जनश्रुति है कि रियासत के समय इस ताल के जल का प्रयोग केवल राजकुमारियां ही करती थीं। महल में विशेष उद्देश्य से निर्मित सुरंग के मार्ग से राज-प्रासाद की दासियां राजकुमारियों के लिए जल ले जाती थीं। इस ताल को लेकर विदेशी पर्यटकों ने भी नाहन की प्रशंसा की है।

ननसेर का नाग मन्दिर

पांवटा साहिब से लगभग 20 कि०मी० की दूरी पर स्थित ननसेर (पुरुवाला के निकट) नाग मन्दिर का निर्माण 12वीं शती में सिरमौर राजघराने ने करवाया था। जनश्रुति के अनुसार सिरमौर नरेश ढाक प्रकाश (बाद में सुवंश के नाम से

प्रसिद्ध) का जन्म इसी स्थान पर हुआ था। नरेश की माता जैसलमेर से यहां आते समय 'ढाक' के नीचे प्रसूता हुई और शिशु की रक्षा हेतु यहां नागदेव आए थे। यहां 'नौना' नाम के वृक्षों की अधिकता रही। इसी कारण मन्दिर का नामकरण हुआ 'नागनौना मन्दिर'। पत्थर से निर्मित यह मन्दिर उस समय के वास्तुशिल्प का प्रतीक है। मन्दिर के प्रवेशद्वार तथा गर्भगृह में पत्थर पर नागदेव की मूर्तियां उत्कीर्त हैं। प्राचीरों पर भी ऐसी ही सर्प मूर्तियाँ हैं। मनुष्य-आकृति मूर्तियां भी हैं। आयताकार मन्दिर का शिखर गुम्बदाकार है। सिरमौर राजघराने से सम्बन्धित लोग आज भी ढाक की पूजा करते हैं। राजपरिवार की बहुएं नागमूर्तियों के सम्मुख घूंघट ओढ़कर जाती हैं।

सत्यनारायण मन्दिर, बुशहर

शिमला से 130 कि०मी० की दूरी पर समुद्र-तल से 1005 मीटर ऊंचा रामपुरबुशहर, मानसरोवर-तिब्बत से प्रवाहमान सतलुज नदी के किनारे अवस्थित एक रमणीक स्थल है। यहां के अनेक धार्मिक स्थल अपने गर्भ में अनेक ऐतिहासिक वृत्त संजोए हैं। ये मन्दिर नागर शैली में बने शिखराकार तथा पहाड़ी शैली के प्रतीक के रूप में वास्तुशिल्प के अनन्य अंग हैं।

सत्यनारायण मन्दिर रामपुर बुशहर भव्य देवस्थल है, जिसका अवलोकन नगर के किसी भी कोने से हो सकता है। मन्दिर की स्थापना सन् 1926 में महाराजा पद्मसिंह ने की। मन्दिर के निर्माण कार्य में अम्बाला के कपूरचन्द सेठ का स्तुत्य योगदान रहा। मन्दिर के भीतर दो भव्य प्रतिमाएं हैं—बाईं ओर राधा-कृष्ण की छह फीट ऊंची संगमरमर प्रतिमाएं तथा मध्य में चतुर्भुजधारी भगवान सत्यानारायण की लगभग साढे छह फीट ऊंची प्रतिमा! सत्यनारायण भगवान के चरणों में रखी चांदी की पालकी में गणेश, गोपालकृष्ण, शिव आदि की मूर्तियां सुसज्जित हैं। बाहरी भाग की प्राचीरों पर वासुदेव, देवकी-बंध-मोचन, जगन्नाथपुरी, मानलीला आदि के रंग-बिरंगे चित्र अंकित हैं। ऊपर की छत की सज्जा कटे शीशे के टुकड़ों से हुई है। यह मन्दिर नागर शैली में निर्मित है। मन्दिर के शिखर पर कलश स्थापित है। मन्दिर के ऊपरी भाग का निर्माण रायपुर रानी के मिस्त्री आत्माराम द्वारा हुआ बताया जाता है।

रोहड़ू का पांडु मन्दिर

रोहड़ू की चांसल, चुहरा तथा रणसार घाटियों के मध्य प्रवाहमान पब्बर नदी

के तट पर मसली गांव अवस्थित है, जो पाण्डव काल (महाभारत काल) का अनूठा उदाहरण है। इसी गांव में है विश्व का एकमात्र पांडु मन्दिर—शिमला की रोहड़ू तहसील से लगभग दस कि०मी० दूर! हिमाचल में अनेक ऐसे स्थान हैं, जिनका सम्बन्ध किसी-न-किसी रूप में पाण्डवों के वनवास से जोड़ा जाता है। निश्चित रूप से अपने वनवास की दीर्घ अवधि में वे केवल एक स्थान तक तो सीमित नहीं रहे होंगे। जिस गांव में पाण्डु मन्दिर स्थापित है, उसका नाता भी इनसे रहा होगा।

भारत में शक्ति-पूजा की परम्परा है। यह पूजा कई रूपों में की जाती है। वैसे विष्णु के साथ लक्ष्मी, शिव के साथ पार्वती की पूजा की परम्परा है, परन्तु यह मन्दिर इस दृष्टि से अनूठा ही कहा जाएगा कि जहां पांच पाण्डवों के साथ पांचाली की पूजा होती है। धर्म के पथ पर आरूढ़ होने के कारण भारतीय जन-मानस पाण्डवों के प्रति सम्वेदनशील रहा है। फिर युधिष्ठिर को तो धर्मराज का सम्मान प्राप्त था।

गांव के मध्य में स्थित यह मन्दिर पत्थर तथा लकड़ी से निर्मित है। मन्दिर में प्रवेश के लिए कुछ सीढ़ियां चढ़नी होती हैं। गर्भगृह 18 फीट लम्बा तथा 13 फीट चौड़ा है। मन्दिर की उत्तरी प्राचीर से सटी, पत्थर से निर्मित, पांचाली सहित पांच पाण्डवों की बड़ी मूर्तियां हैं। पाण्डव मन्दिर के अन्दर निर्मित हवनकुंड तथा उस पर रखी हुई शिला विशिष्ट है। पाण्डु मन्दिर में सुरक्षित शिला को 'पाण्डु शिला' का नाम देना उसी प्रकार उचित होगा, जैसे बद्रीनाथ के प्राकृतिक हवनकुण्ड के निकट सुरक्षित शिलाओं का नामकरण—गरुड़ शिला, नारद शिला, मार्कंडेय शिला, नरसिंह शिला तथा नराही शिला हुआ हे। समय व्यतीत होने के साथ-साथ मन्दिर के बाहरी रूप एवं आकार में तो परिवर्तन हुआ होगा, परन्तु भीतरी स्थापत्य कला अछूती है। स्थापत्य कला की दृष्टि से यह मन्दिर मिश्रित शैली का है। मन्दिर के बाहर एक अन्य शिला भी स्थापित है, जिसके सम्बन्ध में लोक विश्वास यह है कि इसकी पूजा-अर्चना द्वारा दैवीय प्रकोप से त्राण मिल जाता है। ऐतिहासिक पाण्डु मन्दिर धर्मप्रेमियों तथा कला पारखी पर्यटकों को समान रूप से आकर्षित करता है।

लक्ष्मी नारायण मन्दिर, सलोगड़ा

लक्ष्मी नारायण मन्दिर राष्ट्रीय उच्च मार्ग से एक कि०मी० की दूरी पर स्थित है। प्राकृतिक वातावरण में बघाट नरेश दिलीप सिंह ने छोटा-सा मन्दिर बनवाया था, जो बाबा नरसिंह दास का पूजा-स्थल बना। बाबा का संकल्प एक भव्य मन्दिर निर्माण का था और इस प्रयोजन से उन्होंने देश के कई भागों से धन एकत्रित

या। सम्वत् 1885 में भव्य मन्दिर का निर्माण हुआ और उस समय इसके
र्माण पर चौदह हजार रुपये व्यय की बात कही जाती है। बघाट नरेश स्वर्गीय
र्गा सिंह यहां आकर पूजा-अर्चना करते थे। एक जन-श्रुति के अनुसार नई फसल
ा अनाज अनेक श्रद्धालु यहां भेंट करते थे। मन्दिर में राधा-कृष्ण, लक्ष्मी-नारायण
ी मूर्तियां हैं। भित्ति-चित्रों में तपस्यालीन महादेव चित्रित हैं तथा बाहर बजरंग
ली विराजते हैं। चबूतरे पर विजेश्वर विराजमान हैं।

ाचीन शिवधाम, अर्की

हिमाचल प्रदेश के चम्बा तथा मंडी में शिव मन्दिरों का बाहुल्य है, तो किन्नर
लाश शिखर को शिवस्थली ही कहा जाता है। सोलन जिला के अर्की नगर में भी
500 ई० के दो शिव मन्दिर हैं। अर्की का, सोलन से 51 तथा शिमला से 40
क०मी० का फासला है। अर्की नगर के मध्य पहाड़ी पर, समुद्र-तल से 1145
ीटर की ऊंचाई पर लुटरू महादेव का प्रसिद्ध मन्दिर अवस्थित है। यहां पहुंचने
 लिए अर्की से दो कि०मी० की खड़ी चढ़ाई का मार्ग है।

यहां पर्वत पर एक प्राकृतिक गुफा है, जिसमें एक प्राचीन शिव पिंडी विराजती
। इसके ऊपर गाय के स्तनों की आकृति से एक-एक बूंद टपकती है। ऐसा सुना
ाता है कि सौ वर्ष पूर्व यहां दूध की बूंदें टपकती थीं। ऐसा जन-विश्वास है कि
ावण मास में अब भी दूध-सा जल टपकता है। गुफा में गणेश, नाग, हाथी और
ाय के स्तनों की आकृतियां हैं। ऐसा भी कहा जाता है कि किसी समय यहां अगस्त्य
ृषि ने तपस्या की थी और अज्ञातवास की अवधि में पाण्डव भी यहां ठहरे थे।

गुफा के सम्बन्ध में भी एक दन्तकथा प्रचलित है कि गुफा से नित्य एक गाय
िकलकर चरवाहे के पशुओं में शामिल हो जाती। इसके स्वामी का पता न
लता। एक दिन चरवाहे ने गुफा के अन्दर तक गाय का पीछा किया। वहां एक
पलीन तपस्वी दृष्टिगोचर हुए। चरवाहे ने अपना मेहनताना मांगा तो तपस्वी ने
से एक पोटली आदेश सहित दी कि इसे बाहर खोला जाए। चरवाहे ने क्रोध में
से फेंक दिया। घर में उसे कपड़ों के साथ चिमटे हीरे-सोने के दाने मिले। चरवाहे
 उत्सुकतावश जब पोटली को गुफा द्वार पर ही खोला था तो उसे जौ के दाने
ले थे। वह गुफा की ओर दौड़ा, परन्तु अब वहां का द्वार बन्द था। आज भी
िला का यह द्वार बन्द ही है।

ानगढ़ शिव मन्दिर : अद्वितीय वास्तुशिल्प

सिरमौर जिला के नाहन नगर से लगभग 45 कि०मी० की दूरी पर, सुरम्य

पर्वत माला के बीचोंबीच, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व का श्वेत शिवधाम मानगढ़ गांव में अवस्थित है। यह गुप्त कालीन मन्दिर और इसका अनुपम वास्तु शिल्प, शायद दर्जन-भर अन्य हिन्दू मन्दिरों में देखने को मिलेगा। यह शिल्प वास्तव में कला-अध्येताओं की प्रेरणा का स्रोत है।

इस मन्दिर में मंडप के नीचे शिवलिंग स्थापित है। हिमाचल प्रदेश की विभिन्न पूर्व रियासतों के शासकों द्वारा संरक्षित पर्वतीय स्थापत्य के अंग रहे कलशदार निर्माण का मन्दिर में उपयोग नहीं। दीवारे सीधी-सपाट हैं और इनमें रथिकाएं नहीं। इस स्थापत्य विशिष्टता का प्रचलन मध्य युग के शुरू में था। इस मन्दिर में संगतराशी युक्त पाषाण ढांचा अत्यन्त दिलचस्प है। इसमें तीन शाखाएं हैं। सामने की शाखा के ऊपर चार डॉट हैं, जिन पर बेल-बूटों तथा आकृतियों की भव्य नक्काशी है। मध्यवर्ती शाखा के आधार स्थल पर गंगा तथा यमुना अपने पारम्परिक वाहनों पर प्रतिष्ठित हैं। मन्दिर स्थापत्य में इन नदियों का इस प्रकार प्रस्तुतिकरण गुप्तकालीन कला का प्रतीक है। यह शाखा खड़े रूप से दो भागों में विभक्त हैं जिनमें भी गुप्तयुगीन स्थापत्य स्पष्ट झांकता है। इस शाखा के दूसरे भाग का अलंकरण खिले हुए कमलों से हुआ है। मध्यवर्ती शाखा के द्वार के निचले-ऊपरी भाग पर द्वारपाल तथा महिला को उकेरा गया है तो मध्य भाग में रति-क्रीड़ा में लिप्त युगम! इसी शाखा के डॉटों पर वाद्य-वादक गंधर्व शोभायमान है। इन्हीं गंधर्वों द्वारा दैवीय रहस्य जन-जन तक पहुंचा था। बाहरी शाखा के आधार पर एक आकृति है और शेष भाग पर बेल-बूटों का अनुपम चमत्कार है जो डॉट तक विस्तृत है—मध्य में कीर्तिमुख है। इस अलंकृत डॉट के नीचे समानान्तरित चौखटे में, नवग्रहों में से आठ है और मध्य में सूर्य। सूर्य आदित्य तो हैं ही, ग्रह-नक्षत्रों में भी एक। इन नक्षत्रों में केतु अदृश्य हैं। शायद इस नक्षत्र के प्रवेश को मध्य युग के आरम्भ में ही स्वीकृति मिली हो। इस प्रकार मानगढ़ का यह शिवधाम वास्तुशिल्प में बेजोड़ है।

सूर्य मन्दिर, नीरथ

कलात्मक दृष्टि से इस मन्दिर का चाहे इतना महत्त्व न हो, परन्तु किसी समय इसे उत्तर भारत का एकमात्र सूर्य मन्दिर होने का गौरव प्राप्त था। शिमला रामपुर सड़क पर रामपुर बुशहर से लगभग अठारह कि०मी० दूर है नीरथ, जहां सतलुज के बाएं किनारे सड़क के साथ यह सूर्य मन्दिर स्थित है। मन्दिर के गर्भगृह में सूर्य देव की 1.5 मीटर ऊंची मूर्ति है। सभा मंडप बाद में जोड़ा गया प्रतीत होता है,

जिसमें सूर्य देव के साथ विष्णु तथा लक्ष्मी नारायण की मूर्तियां है। मन्दिर के बाहर प्रकोष्ठ में चतुर्मुखी ब्रह्मा तथा अष्टभुजी गणपति की सुन्दर मूर्तियां हैं। ये मूर्तियां शिल्प की दृष्टि से अनुपम हैं। मन्दिर के बाहर भी सूर्य देव की मूर्तियां हैं। सूर्य मन्दिर विषयक सन् 1908 का प्रथम उल्लेख मार्शल का है। डॉ० सलीन ने सूर्य की प्रतीक एक चक्करी का भी उल्लेख किया है, परन्तु इस समय यह उपलब्ध नहीं।

ढ़ोला सेरी का मरीच्छ मन्दिर

इंडो-तिब्बत राष्ट्रीय राजमार्ग पर, शिमला से 88 कि०मी० की दूरी पर, कुमार सैन तहसील का गांव है ढ़ोला सेरी! सड़क के साथ ही दाईं ओर सतलुजनुमा शैली का मन्दिर है, जिसमें मीरच्छ (मलेच्छ) देव स्थित हैं।

एक जनश्रुति के अनुसार कुमार सैन रियासत का राजपाट राणा को शिव-शक्ति की कृपा से ही प्राप्त हुआ था। 12वीं शती तक कोटेश्वर महादेव के नाम पर ही रियासत का कामकाज चलता था। राणा लोग कोटेश्वर महादेव को राजा के रूप में प्रतिष्ठित कर स्वयं उनके छड़ी-दरबारी के रूप में शासन-व्यवस्था सम्भालते थे। मरीच्छ देवता कोटेश्वर महादेव के वजीर थे। एक किंवदन्ती के अनुसार खवेटी (कुमार सैन) के स्थान पर दो नाग महाशक्तियों में भयानक युद्ध हुआ, जिसमें विनाश का महा ताण्डव सम्मुख आया। इसी के फलस्वरूप ग्राम देवता पानी में बह गया। कुछ दूरी पर ग्राम देवता का मोहरा (मूर्ति) एक घराट की चरखी में फंस गया। घराटी ने इसे निकालकर वहीं स्थापित कर दिया। यह स्थापना विधि-विधान से नहीं हुई थी, इसी कारण इस देवात्मा में तामसिक वृत्तियां उभर आईं और इसने प्रति सप्ताह एक कन्या की बलि लेना शुरू कर दिया। कोटेश्वर महादेव इस कुकृत्य से अत्यन्त रुष्ट हुए और उन्होंने भ्रष्ट देव को चेतावनी दे डाली कि यदि मेरी सीमा में रहना है तो देवानुकूल आचरण करना होगा। कोटेश्वर महादेव के आदेश का पालन हुआ। पालनकर्ता यही मरीच्छ देव हैं। बाद में कोटेश्वर महादेव ने इन्हें अपना वजीर बना लिया।

ढ़ोला सेरी में मरीच्छ देव का दो मंजिला मन्दिर है, अपना रथ भी है। मन्दिर की काष्ठ नक्काशी अनुपम है। देवता स्वभाव से कठोर, परन्तु प्रत्यक्ष एवं परोपकारी है। मरीच्छ देव चार वर्ष के उपरान्त कुमार सैन के मेले में आ विराजते हैं। देव तब तक मन्दिर से बाहर नहीं आते, जब तक बैइ गांव के समूह निवासी इकट्ठे नहीं हो जाते। यह मेला सात दिन तक चलता है।

संकट मोचन मन्दिर, शिमला

संकट मोचन मन्दिर, चीड़ के हरे-भरे जंगल के मध्य में समुद्र-तल से लगभग 1700 मीटर की ऊंचाई पर शिमला से लगभग 5 कि०मी० दूर शिमला-कालका राष्ट्रीय उच्च मार्ग से थोड़ा नीचे उतरकर, अवस्थित है। आधुनिक शैली के इस मन्दिर का आंगन बढ़िया लाल पत्थरों से निर्मित है और मन्दिर की सिन्दूरी छत दूर से ही बजरंगबली के विराजने का संकेत देती है।

एक जनश्रुति के अनुसार नैनीताल के सिद्ध महात्मा नीम करौली को एक बार हनुमान जी ने स्वप्न में आदेश दिया कि वह शिमला की किसी पहाड़ी पर उनके मन्दिर का निर्माण करवाएं। उन्होंने सन् 1962 में मन्दिर का निर्माण कार्य शुरू करवाया तथा सन् 1966 में यह मन्दिर पूजा-अर्चना हित संपूर्ण हो गया। मन्दिर में प्रवेश उत्तर दिशा में स्थित द्वार से होता है। मन्दिर के भीतर तीन भागों में शिव शंकर, हनुमान तथा सीता-राम की मूर्तियां स्थापित हैं। संगमरमर से निर्मित इन मूर्तियों के मुख पूर्व में हैं। इस मन्दिर में मंगलवार तथा रविवार को श्रद्धालुओं की अपार भीड़ जुटती है। इस संकटमोचन मन्दिर की गणना हिमाचल के प्रमुख मन्दिरों में होती है।

जाखू का हनुमान मन्दिर : कसौली का मंकी पाइंट

हिमाचल प्रदेश की राजधानी शिमला का रिज मैदान अपने में अनेक ऐतिहासिक वृत्त संजोए हैं। इसी मैदान के समीप हरे-भरे पेड़ों के मध्य, समुद्र-तल से लगभग 2500 मीटर की ऊंचाई पर हनुमान जी का मन्दिर स्थित है।

इस मन्दिर का सम्बन्ध त्रेतायुग में श्रीराम-रावण युद्ध के समय लक्ष्मण-मूर्छा से जोड़ा जाता है। राक्षस वीर मेघनाद के शक्ति प्रहार से जब शेषावतार लक्ष्मण मूर्छित हो गए, तो हनुमान जी को हिमालय पर्वत से संजीवनी बूटी लाने का कार्य सौंपा गया। हनुमान जी अपनी हिमालय यात्रा में शिमला की इस पहाड़ी के ऊपर से जा रहे थे, तो उन्होंने नीचे अपने एक भक्त को तपस्या करते देखा! उन्होंने नीचे उतरकर अपने भक्त को हिमालय का मार्ग पूछा। भक्त ने रास्ता तो बता दिया, प्रार्थना भी कर दी कि वापसी इसी मार्ग से हो। हनुमान जी हिमालय में मृत-संजीवनी की पहचान नहीं कर पाए और सारा पर्वत ही उठा लिए! शीघ्रता से अन्य मार्ग से लौट गए। भक्त को दिए गए वचन का स्मरण हुआ, तो उन्होंने आकाश मार्ग द्वारा युद्ध क्षेत्र से ही अपनी प्रतिमा प्रेषित कर दी और यह भक्त के सम्मुख आ गिरी! इसी प्रतिमा को मन्दिर में स्थापित किया गया और आज भी

यहां इसकी पूजा-अर्चना होती है। कहते हैं कि तपस्यालीन व्यक्ति जाखू ऋषि था, जिसके नाम पर पहाड़ी का यह नामकरण हुआ। हनुमान जी के चरण चिह्नों को भी यहां सुरक्षित रखा गया है।

शुरू में यहां लकड़ी का एक छोटा-सा मन्दिर था, परन्तु अधुना इसका स्वरूप भव्य है। भक्तजन तथा पर्यटक समान भाव से यहां दर्शन के लिए आते हैं। मन्दिर का धार्मिक महत्त्व तो है ही, प्राकृतिक सौन्दर्य भी पर्यटकों को आकर्षित करता है।

मंकी पाइंट पर हनुमान जी का चरण

कसौली की सुन्दर पहाड़ी 'मंकी पाइंट' अनुपम है, तो रहस्यपूर्ण भी। कहा जाता है कि यह वही स्थल है, जहां हनुमान जी ने हिमालय से वापसी यात्रा में अपना चरण रखा था। इसी कारण 'मंकी पाइंट' के ऊपर सपाट मैदान का आकार चरण-सदृश बताया जाता है। आज यहां पर हनुमान मन्दिर भी स्थापित है। पर्यटकों को यह स्थल इतना प्रिय है कि वे घंटों तक यहां बैठ प्रकृति-सौन्दर्य को निहारते हैं।

इस स्थल से कई दन्तकथाएँ भी जुड़ी हैं। कहते हैं कि अंग्रेजों के शासनकाल में जब पर्यटकों का पहला दल यहां आया तो उन्हें यहां का प्राकृतिक परिवेश इतना भाया कि वे यहीं बस गए। इसी 'मंकी पाइंट' के नीचे दो अंग्रेज दम्पति पहाड़ से लुढ़ककर मरे थे। पर्यटकों के दल को इसी स्थल पर एक तपस्यारत साधु भी मिला था। आज यहां बन्दरों की बढ़ती संख्या ने स्थान के नामकरण को सार्थकता प्रदान की है।

धनुदेव मन्दिर

शिमला के नीचे अवस्थित धनुदेव मन्दिर उन देवालयों में से है, जहां केवल पुरुष देव ही पूजित हैं। मन्दिर का निर्माण पहाड़ी शैली में हुआ है, छत पैगोडा शैली की है। मन्दिर में काष्ठ कला का चमत्कार है।

मन्दिरों की वादी जुब्बल : वास्तुशिल्प की कार्यशाला

शिमला के पूर्व में लगभग सौ कि०मी० की दूरी पर स्थित जुब्बल वादी का महत्त्व केवल इसके देवालयों के ही कारण नहीं यहां के अनेकानेक स्थल पुरातत्त्व की दृष्टि से भी बहुचर्चित हैं। समुद्र-तल से 1370 मीटर की ऊंचाई पर स्थित है वादी का हटकोटी गांव, जहां वर्ष-भर कम ही लोग आते है, परन्तु नवरात्रों में

श्रद्धालुओं की अपार भीड़ दुर्गा मन्दिर के यज्ञ तथा कन्या-पूजन में शामिल होती है। लोक विश्वास के अनुसार देवी इस अवसर पर 'चेले' के माध्यम से भक्तों के प्रश्नों का उत्तर देती है। हटकोटी के पांच कि०मी० के क्षेत्र में पुरातत्त्व की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थल बिखरे पड़े हैं, परन्तु मुख्य मन्दिर हटकोटी की सीमा पर ही स्थित है।

विष्कुलटी तथा पब्बर नदी के संगम पर स्थित पराहत में अनेक शिखर शैली के मन्दिर हैं—दो मन्दिर विष्कुलटी नदी के दाएँ तट पर और एक वाएँ तट पर। इन सभी मन्दिरों में बाएँ तट पर स्थित मन्दिर काफी बड़ा तथा बहुविधि अलंकृत है। यद्यपि यह एक शिवालय है, जिसके अंदरूनी अर्द्धभाग में विशाल शिवलिंग स्थापित है, लेकिन इसमें भगवती दुर्गा की भी एक भव्य प्रतिमा है। नदी की ओर खुलते द्वार पर सुन्दर नक्काशी है और इसके ऊपर नटराज की मूर्ति है, जो अब भग्नावस्था में है, दाईं प्राचीर पर गणेश प्रतिमा है तो वार्यी पर वैष्णवी देवी की। बाहरी प्राचीर सुसज्जित है।

नवरात्र आयोजन प्राचीन मन्दिरों में न होकर, दुर्गा मन्दिर में सम्पन्न होता है, जो प्राचीन मन्दिर परिसर के मार्ग के नीचे ही स्थित है। यह मन्दिर भी एक प्रकार से विभिन्न देवी-देवताओं के देवालयों का समूह है। लोक विश्वास के अनुसार यह मन्दिर भी अत्यन्त पुराना है, आदि शंकर द्वारा स्थपापित! शिखर शैली में निर्मित इस मन्दिर की छत को 1885 में जुब्बल नरेश पद्मचंद्र के कार्यकाल में बदला गया। मन्दिर का पुराना आमलक परिसर में विद्यमान है। मन्दिर के भीतर महिषासुर-मर्दिनी के रूप में अष्टभुजा दुर्गा की तीन फीट की प्रतिमा स्थापित है। ब्रह्मी लिपि के यहां उपलब्ध उल्लेख में देवी को 'ब्रजेश्वरी' कहा गया है। कहते हैं कि यह देवी हटकोटी (जुब्बल) में प्रकट हुई थी और इस घटना के उपलक्ष्य में जुब्बल नरेश ने यह मन्दिर बनवाया। इसी मन्दिर में देवी के इसी स्वरूप की पाषाण प्रतिमा भी है। देवी के हाथ में पकड़े वज्र की प्रस्तुति में बौद्ध प्रभाव स्पष्ट है। देवी के होठों और नेत्रों में क्रमशः तांबे और चांदी की कारीगरी है। इस मूर्ति में असामान्य बात यह है कि उसके स्तनों पर चोली उकेरी गई है। अन्य प्रतिमाओं में ऐसा नहीं होता, शरीर पर सिल्क का परिधान रहता है। इस प्रतिमा को भूमि में इस प्रकार स्थापित किया गया है कि 19वीं शती में गोरखा लुटेरों के प्रतिमा को उखाड़ ले जाने के प्रयास निष्फल रहे। वे मूर्ति में जड़े बहुमूल्य रत्न अवश्य ले गए।

मन्दिर के द्वार के बाहर द्वार से जंजीरबद्ध, कांसे का बड़ा घड़ा है। लोक कथन है कि पब्बर नदी से ऐसे दो पात्र मिले थे। एक वर्षा के जल में बह गया,

यहां इसकी पूजा-अर्चना होती है। कहते हैं कि तपस्यालीन व्यक्ति जाखू ऋषि था, जिसके नाम पर पहाड़ी का यह नामकरण हुआ। हनुमान जी के चरण चिह्नों को भी यहां सुरक्षित रखा गया है।

शुरू में यहां लकड़ी का एक छोटा-सा मन्दिर था, परन्तु अधुना इसका स्वरूप भव्य है। भक्तजन तथा पर्यटक समान भाव से यहां दर्शन के लिए आते हैं। मन्दिर का धार्मिक महत्त्व तो है ही, प्राकृतिक सौन्दर्य भी पर्यटकों को आकर्षित करता है।

मंकी पाइंट पर हनुमान जी का चरण

कसौली की सुन्दर पहाड़ी 'मंकी पाइंट' अनुपम है, तो रहस्यपूर्ण भी। कहा जाता है कि यह वही स्थल है, जहां हनुमान जी ने हिमालय से वापसी यात्रा में अपना चरण रखा था। इसी कारण 'मंकी पाइंट' के ऊपर सपाट मैदान का आकार चरण-सदृश बताया जाता है। आज यहां पर हनुमान मन्दिर भी स्थापित है। पर्यटकों को यह स्थल इतना प्रिय है कि वे घंटों तक यहां बैठ प्रकृति-सौन्दर्य को निहारते हैं।

इस स्थल से कई दन्तकथाएँ भी जुड़ी हैं। कहते हैं कि अंग्रेजों के शासनकाल में जब पर्यटकों का पहला दल यहां आया तो उन्हें यहां का प्राकृतिक परिवेश इतना भाया कि वे यहीं बस गए। इसी 'मंकी पाइंट' के नीचे दो अंग्रेज दम्पति पहाड़ से लुढ़ककर मरे थे। पर्यटकों के दल को इसी स्थल पर एक तपस्यारत साधु भी मिला था। आज यहां बन्दरों की बढ़ती संख्या ने स्थान के नामकरण को सार्थकता प्रदान की है।

धनुदेव मन्दिर

शिमला के नीचे अवस्थित धनुदेव मन्दिर उन देवालयों में से है, जहां केवल पुरुष देव ही पूजित हैं। मन्दिर का निर्माण पहाड़ी शैली में हुआ है, छत पैगोडा शैली की है। मन्दिर में काष्ठ कला का चमत्कार है।

मन्दिरों की वादी जुब्बल : वास्तुशिल्प की कार्यशाला

शिमला के पूर्व में लगभग सौ कि०मी० की दूरी पर स्थित जुब्बल वादी का महत्त्व केवल इसके देवालयों के ही कारण नहीं यहां के अनेकानेक स्थल पुरातत्त्व की दृष्टि से भी बहुचर्चित हैं। समुद्र-तल से 1370 मीटर की ऊंचाई पर स्थित है वादी का हटकोटी गांव, जहां वर्ष-भर कम ही लोग आते है, परन्तु नवरात्रों में

श्रद्धालुओं की अपार भीड़ दुर्गा मन्दिर के यज्ञ तथा कन्या-पूजन में शामिल होती है। लोक विश्वास के अनुसार देवी इस अवसर पर 'चेले' के माध्यम से भक्तों के प्रश्नों का उत्तर देती है। हटकोटी के पांच कि०मी० के क्षेत्र में पुरातत्त्व की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थल बिखरे पड़े हैं, परन्तु मुख्य मन्दिर हटकोटी की सीमा पर ही स्थित है।

विष्कुलटी तथा पब्बर नदी के संगम पर स्थित पराहत में अनेक शिखर शैली के मन्दिर हैं—दो मन्दिर विष्कुलटी नदी के दाएँ तट पर और एक वाएँ तट पर। इन सभी मन्दिरों में बाएँ तट पर स्थित मन्दिर काफी बड़ा तथा बहुविधि अलंकृत है। यद्यपि यह एक शिवालय है, जिसके अंदरूनी अर्द्धभाग में विशाल शिवलिंग स्थापित है, लेकिन इसमें भगवती दुर्गा की भी एक भव्य प्रतिमा है। नदी की ओर खुलते द्वार पर सुन्दर नक्काशी है और इसके ऊपर नटराज की मूर्ति है, जो अब भग्नावस्था में है, दाईं प्राचीर पर गणेश प्रतिमा है तो वार्यी पर वैष्णवी देवी की। बाहरी प्राचीर सुसज्जित है।

नवरात्र आयोजन प्राचीन मन्दिरों में न होकर, दुर्गा मन्दिर में सम्पन्न होता है, जो प्राचीन मन्दिर परिसर के मार्ग के नीचे ही स्थित है। यह मन्दिर भी एक प्रकार से विभिन्न देवी-देवताओं के देवालयों का समूह है। लोक विश्वास के अनुसार यह मन्दिर भी अत्यन्त पुराना है, आदि शंकर द्वारा स्थपापित! शिखर शैली में निर्मित इस मन्दिर की छत को 1885 में जुब्बल नरेश पद्मचंद्र के कार्यकाल में बदला गया। मन्दिर का पुराना आमलक परिसर में विद्यमान है। मन्दिर के भीतर महिषासुर-मर्दिनी के रूप में अष्टभुजा दुर्गा की तीन फीट की प्रतिमा स्थापित है। ब्रह्मी लिपि के यहां उपलब्ध उल्लेख में देवी को 'ब्रजेश्वरी' कहा गया है। कहते हैं कि यह देवी हटकोटी (जुब्बल) में प्रकट हुई थी और इस घटना के उपलक्ष्य में जुब्बल नरेश ने यह मन्दिर बनवाया। इसी मन्दिर में देवी के इसी स्वरूप की पाषाण प्रतिमा भी है। देवी के हाथ में पकड़े वज्र की प्रस्तुति में बौद्ध प्रभाव स्पष्ट है। देवी के होठों और नेत्रों में क्रमशः तांबे और चांदी की कारीगरी है। इस मूर्ति में असामान्य बात यह है कि उसके स्तनों पर चोली उकेरी गई है। अन्य प्रतिमाओं में ऐसा नहीं होता, शरीर पर सिल्क का परिधान रहता है। इस प्रतिमा को भूमि में इस प्रकार स्थापित किया गया है कि 19वीं शती में गोरखा लुटेरों के प्रतिमा को उखाड़ ले जाने के प्रयास निष्फल रहे। वे मूर्ति में जड़े बहुमूल्य रत्न अवश्य ले गए।

मन्दिर के द्वार के बाहर द्वार से जंजीरबद्ध, कांसे का बड़ा घड़ा है। लोक कथन है कि पब्बर नदी से ऐसे दो पात्र मिले थे। एक वर्षा के जल में बह गया,

दूसरे को इसी कारण बांधा गया है। वर्षा ऋतु में इस पात्र से सीटी की ध्वनि निकलती है, जैसे यह छुटकारे के लिए आर्तनाद कर रहा हो।

दुर्गा मन्दिर के अतिरिक्त यहां शिखर शैली का शिव मन्दिर भी है। अन्दर विशाल शिवलिंग है। तंगद्वार से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि निर्माण से पूर्व ही शिवलिंग स्थापित किया गया था। छत पर लकड़ी की नक्काशी सुन्दर है। ऊपर देखने पर पता लगता है कि चौखटों में देव-देवताओं के चित्र हैं। ये चौखटे मूलाधार में भली प्रकार सुनियोजित हैं। लक्ष्मी, गणेश, विष्णु, दुर्गा के चित्रों को सुन्दर ढंग से उकेरा गया है। कुछ समय की मार से लुढ़क गए हैं।

जहां तक हटकोटी के प्राचीन मन्दिर का सम्बन्ध है, इसे जुब्बल शिल्प का नाम देना संगत होगा, जिसमें निर्माण पायेदार होता है। कई मन्दिरों पर बौद्ध कला का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।

लोक विश्वास इन मन्दिरों के निर्माण को पाण्डवों से जोड़ता है, परन्तु पुरातत्त्ववेत्ता इनका निर्माण पांचवीं-छठी शती में बताते हैं। दूसरे कला पारखी निर्माण काल छठी से नवमी शती के मध्य मानते हैं, महिषासुर मर्दिनी मन्दिर, हटकोटी से दो सौ वर्ष पूर्व। ये मन्दिर पच्चीस फीट ऊँचे हैं और इनकी 'पंचरथ' कल्पना है। पूजा-स्थल चौकोर है और इसके ऊपरी भाग में नगारा सरीखी वक्रता है। गर्भगृह दो स्तम्भों पर स्थापित है, और ये दोनों ओर है। द्वार मण्डप पर शिव विराजित हैं। शिखर पर दो आमलक हैं—दोनों एक दूसरे पर टिके हुए। नीचे का आमलक भारी है और ऊपरी को इसका सहारा है। इन शिवालयों में दीवारों पर भी शिव उकेरे गए हैं, नक्काशी भव्य है। मन्दिरों में अनुपात का ध्यान रखा गया है और यह विशिष्टता है। शिखरों, कृत्रिम खिड़कियों, मूर्तियों के तराशने की क्रिया में दक्षता का परिचय स्थापत्य के भव्य निरूपण में मिलता है। जुब्बल में स्थापत्य की विभिन्न शैलियों के दृष्टिगत इसे वास्तुशिल्प की कार्यशाला का सम्बोधन देना उचित होगा। इस ऐतिहासिक-सांस्कृतिक विरासत का संरक्षण एक गम्भीर मसला है, जिस पर चिन्तन-मनन आवश्यक है।

□□□

चम्बा, भरमौर, पांगी आदि के देवस्थल

चम्बा का मन्दिर समूह

रावी नदी के किनारे बसी, बर्फ से ढकी पर्वत श्रृंखलाओं से घिरी, हिमाचल प्रदेश की सुन्दर-सलोनी नगरी चम्बा अपनी रमणीयता, ऐतिहासिकता तथा मेलों-उत्सवों के लिए तो विख्यात है ही, इसका मन्दिर समूह भी अनुपम है। यह मन्दिरों की नगरी है, कला नगरी है तथा मनोरम पर्यटन स्थली भी। उच्च विद्वान् डॉ० फोगल ने चम्बा को 'अचम्बा' कहकर विशेष सम्मान दिया था। पर्वतीय चोटी पर स्थित सूही देवी मन्दिर जन-जन की आस्था का प्रतीक है। जनश्रुति के अनुसार चम्बा के संस्थापक राजा साहिल वर्मन् (कार्यकाल 920-940 ई०) की रानी नैना देवी—रानी लंकेश्वरी ने इस स्थान पर अपना बलिदान देकर चम्बा निवासियों की पिपासा-शान्ति हेतु जल-प्रवाह मोड़ा था। साहिल वर्मन् ने अपनी पत्नी की स्मृति को साकार करने के लिए यह मन्दिर बनवाया।

चम्बा का लक्ष्मी नारायण मन्दिर तो इस नगर की पहचान है। मिंजर मेला हो या मणिमहेश छड़ी यात्रा या कोई उत्सव—सब का श्रीगणेश यहीं से होता है। वास्तव में यह मन्दिर उत्तर से दक्षिण की ओर छह प्राचीन मन्दिरों का समूह है। ये मन्दिर राज प्रासाद के समीप एक श्रृंखला में निर्मित हुए। ये मन्दिर हैं—लक्ष्मी नारायण, राधा-कृष्ण, चन्द्रगुप्त महादेव, गौरी शंकर, त्रिमुक्तेश्वर तथा लक्ष्मी-दामोदर! मन्दिर परिसर में चर्पटनाथ मन्दिर हनुमान भूतेश्वर महादेव, राम-सीता, दुर्गा तथा नन्दी के भी छोटे मन्दिर हैं। छह मुख्य मन्दिरों में से तीन विष्णु तथा तीन शिव को समर्पित हैं। यह शैव तथा वैष्णव दोनों सम्प्रदायों के प्रति समान आस्था का प्रतीक है। ये सभी मन्दिर शिखर शैली में निर्मित हैं। इन पर गुप्त वास्तुशिल्प का भी प्रभाव है। मन्दिरों पर छत्तरीनुमा निर्माण वर्षा में भी इनकी रक्षा करता है।

चम्बा में लक्ष्मी नारायण मन्दिर जैसे अन्य 15 मन्दिर भी हैं, परन्तु सबसे विशाल यही है। कला समीक्षकों के अनुसार यह देवालय गुर्ज प्रतिहार शैली का प्रतीक है। इस शैली के अन्तर्गत मन्दिर के पांच मुख्य अंग स्वीकार किए गए हैं—वेदी बंध, संधा, शुक-नासिका, कंठ तथा शिखर! मन्दिर में इस नियम का पालन हुआ है। मन्दिर की सुन्दर नक्काशी में कुम्भ, कलश तथा देवताओं को

बहुत बड़ी संख्या में उकेरा गया है। चारों ओर निर्मित गवाक्षों में देव मूर्तियां स्थापित हैं, जो लघु आकार की है। इस मन्दिर को 'भूमिजा' विशेषण भी प्राप्त है क्योंकि किसी चबूतरे के स्थान पर मन्दिर सीधा धरती पर निर्मित है।

इस मन्दिर का निर्माण राजा साहिल वर्मन ने ही करवाया, परन्तु इसका चैत्य काफी समय बाद राजा प्रतापसिंह के समय (1559-86) निर्मित हुआ। मन्दिर में स्थापित विष्णु प्रतिमा का वृत्त रोचक एवं लोमहर्षक है। इसके अनुसार राजा साहिल वर्मन् ने अपने नौ राजकुमारों को विंध्याचल पर्वतमाला से श्वेत संगमरमर प्रखंड लाने भेजा, ताकि इससे मुख्य प्रतिमा का निर्माण हो सके। राजकुमार परिश्रम कर प्रस्तर खण्ड तो ले आए, परन्तु जब इसे तोड़ा गया तो इसमें से एक मेढक निकला। इन खण्डों से त्रिमुख शिव, गणपति, लक्ष्मी आदि की मूर्तियां बनाकर अन्य मन्दिरों में स्थापित कर दी गई। यह प्रस्तर खंड मुख्य प्रतिमां के लिए उपयुक्त नहीं माना गया और राजकुमारों को पुनः विंध्याचल नव-प्रस्तर खंड के लिए भेजा गया। जब वे कार्य सम्पन्न कर लौट रहे थे, तो डाकुओं ने उनका वध कर दिया। फिर इसी कार्य हेतु बड़े राजकुमार 'युगकर'को भेजा गया। डाकुओं ने उस पर भी आक्रमण किया, परन्तु वह एक सिद्ध साधु की सहायता से डाकुओं को भगाने और प्रस्तर खंड को चम्बा लाने में सफल हो गया। एक ही पत्थर से मुख्य प्रतिमा का निर्माण हुआ। यह प्रतिमा मुख्य मन्दिर में स्थापित की गई। मन्दिर में दो समय आरती का नियम है। दिन के भोग में चम्बा धाम—मदरा, उड़द की दाल, मूंग की दाल, कड़ी, फीके-मीठे चावल—का प्रयोग होता है। पहले से चली आ रही प्रथा का पालन आज भी होता है।

प्राचीनता की दृष्टि से लक्ष्मी नारायण मन्दिर का स्थान दूसरा है। गौरी शंकर मन्दिर तीसरे स्थान पर आता है। गौरी शंकर मन्दिर की धातु प्रतिमा राजकुमार युगकर (नरेश 940-960 ई०) द्वारा स्थापित है। इस मन्दिर समूह के सभी मन्दिरों, त्रिमुक्तेश्वर मन्दिर के अतिरिक्त, गर्भगृह शिल्प अलंकृत हैं। इनमें से प्राचीनतम मन्दिर चन्द्रगुप्त मन्दिर है। ऐसा कहा जाता है कि साहिल वर्मन् ने भरमौर (ब्रह्मपुर) से चलकर अपनी पुत्री चम्पा तथा गुरु चर्पटनाथ की प्रेरणा से, चम्पा के नाम पर चम्बा नगर की स्थापना की थी। यह मन्दिर उस समय भी विद्यमान था।

चम्बा नरेश प्रताप सिंह वर्मन् के राज्यकाल (1559-86) में लक्ष्मी नारायण मन्दिर तथा अन्य मन्दिरों के जीर्णोद्धार की आवश्यकता अनुभव हुई। राजा को इस लक्ष्यसिद्धि हेतु प्रजा पर कर लगाने की मन्त्रणा दी गई, परन्तु नरेश इस प्रस्ताव से सहमत न था। उसे अपने आराध्य देव पर भरोसा था। एक दिन

अचानक राज्य के 'हूल' क्षेत्र से एक व्यक्ति हाथ में तांबे का टुकड़ा लिए दरबार में उपस्थित हुआ। उस गांव में तांबे की खान थी और इसी से प्राप्त धन द्वारा मन्दिरों का जीर्णोद्धार हुआ।

उपरोक्त मन्दिर समूह के अतिरिक्त चम्बा में चौगान के साथ रावी नदी की ओर प्राचीन हरिराम मन्दिर भी दर्शनीय है। शिखर शैली में निर्मित तथा भगवान विष्णु को समर्पित, इस मन्दिर के निर्माण का श्रेय राजा अष्टवर्मन् को प्राप्त है (राज्यकाल ग्यारहवीं शती उत्तरार्द्ध)। मन्दिर का गर्भगृह वर्गाकार है, जिसके ऊपर वक्र रेखा का शिखर शोभायमान है। अन्दर का भाग नक्काशी से सुसज्जित स्तंभों पर स्थित है। गर्भगृह में चतुर्मुखी बैकुण्ठ विष्णु की 1017 मीटर ऊँची कांस्य प्रतिमा विराजती है। यह प्रतिमा मूर्तिकला का अनुपम उदाहरण है। नगर से लगभग तीन कि०मी० की दूरी पर इसी शैली का चामुण्डा देवी मन्दिर है। दसवीं शती के इस मन्दिर में चामुण्डा देवी की ढाई फीट ऊंची भव्य अष्टधातु प्रतिमा है, जो दो शेरों के ऊपर निर्मित पीतल के चबूतरे पर स्थापित की गई है। प्रतिमा के दायीं एवं बायीं ओर क्रमशः महिषासुरमर्दिनी तथा भगवती काली की पाषाण प्रतिमाएं हैं। मन्दिर परिसर का शिव मन्दिर सन् 1905 के भूकम्प में एक ओर झुक गया था और आज भी उसी स्थिति में है। चम्बा से 44 कि०मी० की दूरी पर समुद्र-तल से दो हजार मीटर ऊंचाई पर छतराड़ी का शिव शक्ति मन्दिर अवस्थित है। सातवीं शती के पहाड़ी शैली में निर्मित मन्दिर में शिव-शक्ति की भव्य प्रतिमा है। यह मन्दिर भित्ति-चित्रों, लकड़ी पर विद्यमान नक्काशी एवं धातु कला के कारण दर्शनीय है।

भरमौर के चौरासी मन्दिर

चम्बा से लगभग 65 कि०मी० की दूरी पर स्थित सुरम्य घाटी 'शिव की भूमि', मन्दिरों की घाटी, गद्दियों की स्थली—नामों से विख्यात है। इसका पुरातन नाम ब्रह्मपुर था और इस रियासत की स्थापना सन् 550 में मारू वर्मन् ने की थी। मारू वर्मन् का नाता भगवान राम के सूर्यवंश से जोड़ा जाता है। रियासत की स्थापना के अनन्तर यहां का शासन मारू वर्मन ने अपने पुत्र जयप्रकाश को सौंपा। आठवीं शती के उत्तरार्द्ध तक भरमौर चम्बा की राजधानी भी रही।

भरमौर 'ब्राह्म मौर' का अपभ्रंश कहा जाता है और इसका नाता ब्राह्मणी देवी से भी स्थापित किया जाता है। स्थानीय लोक विश्वास के अनुसार ब्राह्मणी देवी के इस स्थल पर पुरुषों का रात्रि विश्राम वर्जित था। इस स्थल के 'सिद्ध स्थल'

बहुत बड़ी संख्या में उकेरा गया है। चारों ओर निर्मित गवाक्षों में देव मूर्तियां स्थापित हैं, जो लघु आकार की है। इस मन्दिर को 'भूमिजा' विशेषण भी प्राप्त है क्योंकि किसी चबूतरे के स्थान पर मन्दिर सीधा धरती पर निर्मित है।

इस मन्दिर का निर्माण राजा साहिल वर्मन ने ही करवाया, परन्तु इसका चैत्य काफी समय बाद राजा प्रतापसिंह के समय (1559-86) निर्मित हुआ। मन्दिर में स्थापित विष्णु प्रतिमा का वृत्त रोचक एवं लोमहर्षक है। इसके अनुसार राजा साहिल वर्मन् ने अपने नौ राजकुमारों को विंध्याचल पर्वतमाला से श्वेत संगमरमर प्रखंड लाने भेजा, ताकि इससे मुख्य प्रतिमा का निर्माण हो सके। राजकुमार परिश्रम कर प्रस्तर खण्ड तो ले आए, परन्तु जब इसे तोड़ा गया तो इसमें से एक मेढक निकला। इन खण्डों से त्रिमुख शिव, गणपति, लक्ष्मी आदि की मूर्तियां बनाकर अन्य मन्दिरों में स्थापित कर दी गई। यह प्रस्तर खंड मुख्य प्रतिमा के लिए उपयुक्त नहीं माना गया और राजकुमारों को पुनः विंध्याचल नव-प्रस्तर खंड के लिए भेजा गया। जब वे कार्य सम्पन्न कर लौट रहे थे, तो डाकुओं ने उनका वध कर दिया। फिर इसी कार्य हेतु बड़े राजकुमार 'युगकर'को भेजा गया। डाकुओं ने उस पर भी आक्रमण किया, परन्तु वह एक सिद्ध साधु की सहायता से डाकुओं को भगाने और प्रस्तर खंड को चम्बा लाने में सफल हो गया। एक ही पत्थर से मुख्य प्रतिमा का निर्माण हुआ। यह प्रतिमा मुख्य मन्दिर में स्थापित की गई। मन्दिर में दो समय आरती का नियम है। दिन के भोग में चम्बा धाम—मदरा, उड़द की दाल, मूंग की दाल, कड़ी, फीके-मीठे चावल—का प्रयोग होता है। पहले से चली आ रही प्रथा का पालन आज भी होता है।

प्राचीनता की दृष्टि से लक्ष्मी नारायण मन्दिर का स्थान दूसरा है। गौरी शंकर मन्दिर तीसरे स्थान पर आता है। गौरी शंकर मन्दिर की धातु प्रतिमा राजकुमार युगकर (नरेश 940-960 ई०) द्वारा स्थापित है। इस मन्दिर समूह के सभी मन्दिरों, त्रिमुक्तेश्वर मन्दिर के अतिरिक्त, गर्भगृह शिल्प अलंकृत हैं। इनमें से प्राचीनतम मन्दिर चन्द्रगुप्त मन्दिर है। ऐसा कहा जाता है कि साहिल वर्मन् ने भरमौर (ब्रह्मपुर) से चलकर अपनी पुत्री चम्पा तथा गुरु चर्पटनाथ की प्रेरणा से, चम्पा के नाम पर चम्बा नगर की स्थापना की थी। यह मन्दिर उस समय भी विद्यमान था।

चम्बा नरेश प्रताप सिंह वर्मन् के राज्यकाल (1559-86) में लक्ष्मी नारायण मन्दिर तथा अन्य मन्दिरों के जीर्णोद्धार की आवश्यकता अनुभव हुई। राजा को इस लक्ष्यसिद्धि हेतु प्रजा पर कर लगाने की मन्त्रणा दी गई, परन्तु नरेश इस प्रस्ताव से सहमत न था। उसे अपने आराध्य देव पर भरोसा था। एक दिन

अचानक राज्य के 'हूल' क्षेत्र से एक व्यक्ति हाथ में तांबे का टुकड़ा लिए दरबार में उपस्थित हुआ। उस गांव में तांबे की खान थी और इसी से प्राप्त धन द्वारा मन्दिरों का जीर्णोद्धार हुआ।

उपरोक्त मन्दिर समूह के अतिरिक्त चम्बा में चौगान के साथ रावी नदी की ओर प्राचीन हरिराम मन्दिर भी दर्शनीय है। शिखर शैली में निर्मित तथा भगवान विष्णु को समर्पित, इस मन्दिर के निर्माण का श्रेय राजा अष्टवर्मन् को प्राप्त है (राज्यकाल ग्यारहवीं शती उत्तरार्द्ध)। मन्दिर का गर्भगृह वर्गाकार है, जिसके ऊपर वक्र रेखा का शिखर शोभायमान है। अन्दर का भाग नक्काशी से सुसज्जित स्तंभों पर स्थित है। गर्भगृह में चतुर्मुखी बैकुण्ठ विष्णु की 1017 मीटर ऊँची कांस्य प्रतिमा विराजती है। यह प्रतिमा मूर्तिकला का अनुपम उदाहरण है। नगर से लगभग तीन कि०मी० की दूरी पर इसी शैली का चामुण्डा देवी मन्दिर है। दसवीं शती के इस मन्दिर में चामुण्डा देवी की ढाई फीट ऊंची भव्य अष्टधातु प्रतिमा है, जो दो शेरों के ऊपर निर्मित पीतल के चबूतरे पर स्थापित की गई है। प्रतिमा के दायीं एवं बायीं ओर क्रमशः महिषासुरमर्दिनी तथा भगवती काली की पाषाण प्रतिमाएं हैं। मन्दिर परिसर का शिव मन्दिर सन् 1905 के भूकम्प में एक ओर झुक गया था और आज भी उसी स्थिति में है। चम्बा से 44 कि०मी० की दूरी पर समुद्र-तल से दो हजार मीटर ऊंचाई पर छतराड़ी का शिव शक्ति मन्दिर अवस्थित है। सातवीं शती के पहाड़ी शैली में निर्मित मन्दिर में शिव-शक्ति की भव्य प्रतिमा है। यह मन्दिर भित्ति-चित्रों, लकड़ी पर विद्यमान नक्काशी एवं धातु कला के कारण दर्शनीय है।

भरमौर के चौरासी मन्दिर

चम्बा से लगभग 65 कि०मी० की दूरी पर स्थित सुरम्य घाटी 'शिव की भूमि', मन्दिरों की घाटी, गद्दियों की स्थली—नामों से विख्यात है। इसका पुरातन नाम ब्रह्मपुर था और इस रियासत की स्थापना सन् 550 में मारू वर्मन् ने की थी। मारू वर्मन् का नाता भगवान राम के सूर्यवंश से जोड़ा जाता है। रियासत की स्थापना के अनन्तर यहां का शासन मारू वर्मन ने अपने पुत्र जयप्रकाश को सौंपा। आठवीं शती के उत्तरार्द्ध तक भरमौर चम्बा की राजधानी भी रही।

भरमौर 'ब्राह्म मौर' का अपभ्रंश कहा जाता है और इसका नाता ब्राह्मणी देवी से भी स्थापित किया जाता है। स्थानीय लोक विश्वास के अनुसार ब्राह्मणी देवी के इस स्थल पर पुरुषों का रात्रि विश्राम वर्जित था। इस स्थल के 'सिद्ध स्थल'

बनने का भी एक वृत्त है। लोक विश्वास है कि मणिमहेश की यात्रा को निकले चौरासी सिद्ध रात्रि विश्राम हेतु इस सुरम्य स्थान पर ठहर गए। उनके सम्मुख एक रूपवती कन्या ने उपस्थित होकर अनुरोध किया कि वे किसी अन्य स्थान पर चले जाएं क्योंकि इस स्थान पर पुरुषों का रात्रि-विश्राम वर्जित है। कन्या के अनुरोध तथा परम्परा पालन को उद्यत सिद्ध यहां से प्रस्थान करने ही वाले थे कि भगवान शिव प्रकट हो गए। उन्होंने ब्राह्मणी देवी (उक्त कन्या) को आदेश दिया कि वह ही अपना स्थान बदल ले। ब्राह्मणी देवी ने आदेश का पालन किया। प्रातःकाल भरमौर नरेश साहिल वर्मन् ने जब वर्जित स्थल पर सिद्धों को समाधिस्थ देखा, तो वह आश्चर्यचकित हुआ। इन सिद्धों में योगी चर्पटनाथ भी थे, जिनका नरेश कालान्तर में अनुयायी बन गया। इन्हीं के आदेश पर नरेश ने राजधानी को भरमौर से चम्बा स्थानांतरित कर दिया। नरेश ने सिद्धों के विश्राम-स्थल पर मन्दिर-निर्माण का भी आदेश दिया। भरमौर के मन्दिरों में इन्हीं 84 सिद्धों तथा नौ 'नाथों' के मन्दिर हैं। ये मन्दिर आकार में छोटे हैं।

भरमौर में मुख्य मन्दिर दो ही हैं—सूर्य-मुखलिंग मन्दिर भगवान शिव का है, जो मणिमहेश मन्दिर के नाम से भी विख्यात है। दूसरा शिव मन्दिर आकार में छोटा है। ये दोनों मन्दिर शिखर शैली के हैं। लोक विश्वास के अनुसार सूर्य मुखलिंग मन्दिर सातवीं शती में राजा मेरू वर्मन् ने बनवाया था। मन्दिर भवन को देखकर ऐसा प्रतीत नहीं होता कि यह मन्दिर इतना पुराना है। दूसरा मन्दिर चाहे सादा है, परन्तु इसकी नृसिंह भगवान की मूर्ति देखने योग्य है। राजा सहिल वर्मन् के ताम्रलेख से ज्ञात होता है कि इस मन्दिर का निर्माण रानी त्रिभुवन रेखा ने करवाया था। इस दृष्टि से इसका निर्माण काल 10-11वीं शती होना चाहिए। लक्षणादेवी और गणेश जी के भवन भी महत्त्वपूर्ण है। यह कहना उचित होगा कि नृसिंह मन्दिर के अतिरिक्त अन्य सभी मन्दिरों का निर्माण मेरू वर्मन् ने ही करवाया था। यहां यह परम्परा रही है कि जब चम्बा नरेश भरमौर की यात्रा करता था, तो अपने राज-प्रासाद प्रवेश से पूर्व, इन मन्दिरों में माथा टेकता था। मन्दिर परिसर में नौ नाथों तथा चौरासी सिद्धों के लघु मन्दिर स्थापित हुए, जिनमें से आज कुछ की स्थिति ठीक नहीं। बड़े मन्दिर परिसर में नागा बाबा की संगमरमरी प्रतिमा भी स्थापित है। साथ के मन्दिर संचालक के कक्ष में वृहत् शिवलिंग स्थापित है। लोक विश्वास है कि किसी व्यक्ति के देहावसान पर उसकी आत्मा कुछ समय शिव मन्दिर में विश्राम करती है।

कल्पा (किन्नौर) का नारायण मन्दिर

काल्पा में यद्यपि एक बौद्ध गोम्पा भी है, परन्तु नारायण अथवा विष्णु यहां के ग्राम देवता माने जाते हैं। यहां अद्भुत बात देखने को मिली कि मन्दिर के पुजारी दोपहर को मन्दिर के द्वार पर सांकल चढ़ाकर बड़ा-सा ताला लगा देते हैं। जिस क्षेत्र में कभी अपने घरों को भी ताला नहीं लगाते हों, वहां भगवान के घर को ताला क्यों? इसे देवता के प्रति लोगों की आस्था की कमी नहीं माना जा सकता। आज की विकट आर्थिक स्थिति में शायद पूजा-अर्चना कार्य के अतिरिक्त भी जीवन-यापन का साधन खोजना ही पड़ता है। अब राजा-महाराजा तो रहे नहीं, जो इनके पालन-पोषण का दायित्व निभाते थे।

नारायण मन्दिर में लकड़ी पर किया गया नक्काशी का काम अत्यन्त सुन्दर है। मन्दिर के बाहर दीवार पर शेषनाग की शैय्या पर विश्रामलीन विष्णु के नाभि-कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति का दृश्य लकड़ी पर उकेरा गया है। खुले आंगन में लकड़ी की ही यज्ञशाला है। शेर तथा नाग भी लकड़ी पर उकेरे गए हैं। नाग की आकृति जिस प्रकार प्रस्तुत है, उस पर चीनी प्रभाव (चीनी ड्रैगन) स्पष्ट झांकता है। मन्दिर के वायीं ओर प्रयोग में आने वाले कुछ कमरे हैं, तो दायीं ओर एक प्राचीन ध्वस्त मन्दिर! इस दूर-दराज क्षेत्र में भी मन्दिर निर्माण क्षेत्रवासियों की धार्मिक वृत्ति का परिचायक है।

त्रिलोकीनाथ मन्दिर, उदयपुर

केलंग (लाहौल-स्पीति घाटी) के पचास कि०मी० की दूरी पर, चंद्रभागा और मेयर नाले के संगम पर अवस्थित है सुन्दर-सा गांव—उदयपुर। उदयपुर से पांच कि०मी० दूर तुंदे गांव मे है त्रिलोकीनाथ मन्दिर। इस मन्दिर के प्रति आस्था ही कारण है कि गांव का नामकरण भी त्रिलोकीनाथ हो गया है। यह धर्मस्थल हिन्दू तथा बौद्ध धर्म के अनुयायियों की श्रद्धा-आस्था का केन्द्र है। प्रतिवर्ष अगस्त मास में यहां त्रिदिवसीय 'पौरी' उत्सव आयोजित होता है, जिसमें सभी धर्मों-सम्प्रदायों के लोग इकट्ठे पूजा-अर्चना करते हैं। मन्दिर में भगवान शिव की प्राचीन संगमरमर प्रतिमा है। इस अवलोकितेश्वर मूर्ति के ऊपर ध्यानमग्न महात्मा बुद्ध भी विराजमान हैं। एक जनश्रुति के अनुसार 1672 ई० में कुल्लू नरेश विधि सिंह ने त्रिलोकीनाथ पर आक्रमण करके भगवान की मूर्ति को उठवाकर अपने राज्य में ले जाने का प्रयास किया। सैनिकों के भरसक प्रयास पर भी मूर्ति उठ नहीं पाई। इस मूर्ति की दायीं टांग पर तलवार का चिह्न इस घटना की सत्यता का संकेतक है। मन्दिर

सौहार्द का उदाहरण भी प्रस्तुत करता है—मन्दिर का मुख्य पुजारी है लामा तथा इसकी व्यवस्था एक ठाकुर के जिम्मे है। मन्दिर में प्रज्वलित अखंड ज्योति निरन्तरता की द्योतक है।

हिमाचल के डेरे

'डेरा' का अर्थ है—पड़ाव, ठहराव तथा निवास-स्थान। जहां संत-महात्मा स्थायी रूप से रहते हों या अपनी धार्मिक यात्राओं के दौरान कुछ समय रुकते हों, ऐसे स्थान 'डेरा' कहलाए! हिमाचल के प्रसिद्ध डेरे हैं—

डेरा बड़भाग सिंह

माता चिन्तपूर्णी धाम से लगभग चालीस कि०मी० दूर गुरु हरगोविन्द सिंह (छटवें गुरु) के पड़पौत्र बाबा रामसिंह के सुपुत्र बाबा बड़भाग सिंह का डेरा है। मुगलों से संघर्ष के बाद आप अपने जन्म-स्थान करतारपुर से यहां आ गए थे, 18 वर्ष कठोर तपस्या की, तंत्र शक्ति के बल पर स्थानीय जनता को सरदार देव नाहर सिंह के चंगुल से छुड़ाया। फिर सेना संगठित कर जालन्धर में नासिक अली को समाप्त किया।

डेरा बाबा रुद्रू

यह योगी रुद्रानन्द का स्थान चिन्तपूर्णी से 42 कि०मी० दूर है। यहां 130 वर्षों से अखण्ड धूनी प्रज्वलित है, जिसकी भस्म से अनेक रोगों-व्याधियों का उपचार होता है। एक जनश्रुति के अनुसार यहां पांच महात्माओं ने समाधि ली और उसी स्थल पर पांच पीपल वृक्ष उग आए। लोक विश्वास है कि इन वृक्षों की परिक्रमा करने पर सांप का विष उतर जाता है, पागलपन भी दूर हो जाता है। यहां प्रतिवर्ष पंच भीष्म पर्व पर अपार जन-समूह एकत्रित होता है।

डेरा जोगी पंगा

ऊना-होशियारपुर सड़क पर चिन्तपूर्णी से 45 कि०मी० दूर निर्जन वन में स्थित इस डेरे की स्थापना महात्मा आत्मानन्द ने की थी। यह बाबा रुद्रानन्द की तपस्थली है। यहां लोगों की मनोकामना पूर्ण होती है।

□□□

हिमाचल के शक्तिपीठ

शक्ति का स्वरूप

भारतीय संस्कृति में शक्ति की महिमा अपरंपार है। यह शक्ति विभिन्न रूपों में पूजित है—कहीं पार्वती के रूप में तो कहीं दुर्गा के रूप में। शक्ति की आराधना केवल भारत में ही नहीं होती, इसका प्रचलन किसी-न-किसी रूप में समूचे विश्व में है। यूनान में 'अर्तेमिस' तथा डिमेटर मातृ-अर्चना के रूप हैं। ये रूप पालन-विकास के साथ-साथ संरक्षण भी देते हैं। मध्य पूर्व एशिया में 'मौट' नामक देवी की पूजा का विधान है। तिब्बत तथा जापान में क्रमशः शक्ति के प्रतीक रूप हैं 'लो-मो' तथा चनेष्टि' ! मिस्र में देवी के 'आइसिस हेचर' रूप की पूजा-अर्चना का विधान है।

'शक्ति' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की 'शक्' धातु से बताई गई है, जिसका अर्थ है—'बल' ! शक्ति-पूजन का भाव है 'बल का पूजन'। केशवचंद्र सेन ने भी शक्ति के इसी पर्याय को स्वीकार किया है। प्रो० मोनियर विलियम को भी यही अर्थ स्वीकार हे। शक्ति बल तो है ही, साथ ही वह चिद्रूपिणी एवं आनन्दमयी भी है। शैवों एवं शाक्तों में इसी शक्ति के रूप का विवेचन करते हुए अपनी कृति 'शक्ति एण्ड शाक्ताज' में पं० गोपीनाथ कविराज ने लिखा है—"सृष्टि के आदि में अनादि काल से जो अव्यय, पूर्ण, निराकार और शून्य स्वरूप वस्तु विराजमान है वह तत्त्वातीत, प्रपंचातीत तथा व्यवहार के भी अतीत हैं। वही शाक्तों की महाशक्ति है और शैवों के परमशिव हैं।"

भारतीय उपासना पद्धति में शक्ति की उपासना दो रूपों में की जाती है—स्वतन्त्र रूप में तथा सहायिका रूप में—देवी अपने देवता के साथ प्रतिष्ठित की जाती है—शिव-पार्वती, सीता-राम, राधा-कृष्ण इत्यादि। ये शक्तियाँ ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के अनुरूप ही आराध्य मानी जाती हैं। युगपत् आराधना देव-देवी की अविभाज्यता प्रदर्शित करने हेतु ही की जाती होगी। तान्त्रिक साधना में शक्तियों की स्वतन्त्र पूजा को मान्यता प्राप्त है।

शक्ति-पूजन के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए डॉ० श्रुतिकान्त ने लिखा है—"इसके सर्वाधिक महत्त्व का कारण है इसकी क्रियाशीलता। शिव गतिहीन है

और शिवा ही सब कार्य करती है। इसी कारण शिव के श्वेत शरीर में खड़ी हुई काली की पूजा होती है। उसे काला दिखाने का भाव यह है कि यह अन्त में सबको कालिमा में मिला देती है—इस सृष्टि की उत्पत्ति या प्राकट्य शक्ति के द्वारा ही होता है। शिव अपने में तो शवमात्र हैं। वे परम शिव अर्थात् पूर्ण शिव तभी बनते हैं जब शक्ति के साथ उनका संयोग रहता है।[1]" स्मरण रहे कि शक्तिहीन इसलिए कहा जाता है कि उस स्थिति में शक्ति अव्यक्त रहती है।

भारतीय संस्कृति में शक्ति की पूजा अम्बा, अम्बिका, गौरी, अदिति, पार्वती, उमा, काली—अनेक रूपों में की जाती है। शक्ति 'दुर्गा' के दो प्रमुख रूप हैं—रौद्र एवं शान्त! रौद्र रूप के सम्बोधन हैं—महिषासुरमर्दिनी, महादुर्गा, महाकाली, चण्डिका तो शान्त रूप है—उमा, उषा, गौरी, अम्बिका। भारत में स्थान भेद से शक्ति की पूजा-आराधना विभिन्न रूपों में होती है। बंगाल में महिषासुरमर्दिनी रूप प्रधान है तो राजस्थान में गौरी रूप। 'मार्कण्डेय पुराण' में उल्लेख है कि भगवती की वर्ष में चार बार नवरात्र पूजा का विधान है। इनमें देवी के महालक्ष्मी, महादुर्गा, सरस्वती रूपों का पूजन होता है। पुराणों तथा तान्त्रिक ग्रन्थों में अग्नि से उत्पन्न दस महाविद्याओं का उल्लेख है। ऐसी मान्यता है कि अलग-अलग देव युग विशेष में ही अपने उपासकों की मनोकामना पूर्ति करते हैं, परन्तु इन महाविधाओं से चारों युगों में ही फल-प्रतिफल सुलभ है। ऐसा माना जाता है कि मूल प्रवृत्ति—भुवनेश्वरी ही दस रूप धारण कर सृष्टि की उत्पत्ति, संचालन एवं संहार का खेल खेलती है। ये विभिन्न रूप ही महाविद्या के रूप में जाने जाते हैं। इन शक्तियों या महाविद्याओं के नाम इस प्रकार हैं—काली, तारा, षोडषी, भुवनेश्वरी, छिन्नमस्ता, त्रिपुर भैरवी, धूमावती, बगलामुखी, मातंगी तथा कमलात्मिका! देवी भागवत में इनका निवास 'चिन्तामणि गृह' बताया गया है। यह भी उल्लेख है कि भुवनेश्वरी, अपनी शक्तियों सहित, जिस मंच पर विराजमान होती है, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र तथा महाशिव उसके चार स्तम्भ हैं।

'दुर्गा सप्तशती' में देवी की उत्पत्ति की कथा है। इसके अनुसार देवी की उत्पत्ति सभी देवताओं के सम्मिलित तेज से हुई—भगवान शंकर के तेज से देवी का मुख प्रकट हुआ, यमराज के तेज से मस्तक के केश, विष्णु के तेज से भुजाएं, चन्द्रमा के तेज से स्तन, इन्द्र के तेज से कमर, वरुण के तेज से जंघा, पृथ्वी के

---

1. भारतीय देव-भावना और मध्यकालीन हिन्दी साहित्य (पृ० 151) : डॉ० श्रुतिकान्त (वाणी प्रकाशन, दिल्ली)

तेज से नितम्ब, ब्रह्मा के तेज से चरण, सूर्य के तेज से दोनों पैरों की अंगुलियां, वसुओं के तेज से दोनों नेत्र, सन्ध्या के तेज से भौंहें, वायु के तेज से कान और अन्य देवों के तेज से विभिन्न अंग। इन देवताओं ने देवी को अनेकानेक अस्त्र-शस्त्र उपहार में भेंट किए और देवी ने राक्षसों के साथ भीषण संग्राम में चण्ड-मुण्ड, रक्तबीज, निशुम्भ-शुम्भ आदि दानवों का वध किया! 'दुर्गा सप्तशती' के एकादश अध्याय में देवी का देवताओं से कथन है कि विभिन्न युगों में विभिन्न मनोरथों की पूर्ति हेतु जन्म लेने पर उनके अनेक नाम होंगे—रक्तदन्तिका, शताक्षी, शाकम्भरी, दुर्गादेवी, भीमादेवी, भ्रामरी इत्यादि। भिन्न-भिन्न मनोकामनाओं के सिद्धि हेतु भक्तों द्वारा देवी के विभिन्न रूपों की पूजा-अर्चना का विधान है। 'दुर्गा सप्तशती' के देवी-कवच के अन्तर्गत देवी के नौ स्वरूपों का कथन है—शैलपुत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघंटा, कूष्मांडा, स्कन्दमाता, कात्यायनी, कालरात्रि, महागौरी तथा सिद्धिदात्री। नवरात्रों के नौ दिन इन स्वरूपों की पूजा-अर्चना का विधान है।

शक्तिपीठ

शक्तिपीठों की स्थापना विषयक अनेक वृत्त उपलब्ध हैं। ऐसा कहा जाता है कि जब और जहां, अपने भक्तों-साधकों पर अनुकम्पा रूप में, देवी की कला का व्यक्ति या समष्टि रूप में प्रकाट्य हुआ, वहां शक्तिपीठ स्थापित किए गए। देवी भगवत में 108 शक्तिपीठों का उल्लेख है, परन्तु इनमें से सर्वमान्य तो संख्या में कम ही है।

पुराणों में कथा है कि दक्ष प्रजापति की पुत्री उमा ने अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध भगवान शिव को पति रूप में अपनाया। दक्ष ने अपने यज्ञ में सभी देवताओं को आमन्त्रित किया, परन्तु भगवान शिव की अनदेखी की गई। भगवान शिव के रोकने पर भी उमा अपने पिता के यज्ञ में सम्मिलित हुई। वहां दक्ष प्रजापति द्वारा अपने पति की उपेक्षा देवी उमा को असह्य हो गई और उसने यज्ञाग्नि में अपने को होम कर लिया। क्रुद्ध शिवगणों ने यज्ञ विध्वंस कर दिया। भगवान शिव इस दुर्घटना से इतने मर्माहत हुए कि उमा के शव को अपने कंधे पर रख उद्भ्रान्त भाव से विचरने लगे! इससे सर्वत्र प्रलय का सा दृश्य उपस्थित हो गया। देवताओं की प्रार्थना पर, भगवान विष्णु ने सुदर्शन चक्र द्वारा, देवी के मृत शरीर के खण्ड-खण्ड कर दिए। देवी के मृत शरीर के भिन्न-भिन्न अंग जहां भी गिरे, वहीं शक्तिपीठों की स्थापना हो गई।

हिमाचल में चार प्रतिष्ठित शक्तिपीठ हैं—श्री चिन्तपूर्णी धाम, ज्वालाजी

(कांगड़ा), वज्रेश्वरी मन्दिर (कांगड़ा) तथा नयनादेवी मन्दिर (बिलासपुर)। कांगड़ा को जिगर्त का नाम प्राप्त था तो इसे जालन्धर पीठ की संज्ञा भी प्राप्त थी। प्रश्न स्वाभाविक है कि कांगड़ा में इतने देवस्थान एवं शक्तिपीठ क्यों? ब्रह्मांड पुराण का एक प्रसंग है कि कलियुग के प्रारम्भ में सभी देवी-देवता एवं तीर्थ त्रस्त हो भगवान शिव की शरण में गए और उनसे इस विकट स्थिति में अपनी पावनता एवं सुरक्षा की याचना की। तब भगवान शिव ने यह कहा—

एतज्जालन्धरं क्षेत्रं यतः सर्वोत्तमोतमम्।
अत्रागत्यांशतो यूयं सन्तिष्ठध्व मिहैव हि।।
नित्य भूत्य जानच्चेव बज्रेश्वर्याइच पूजनात्।
सद्यः कल्मषहानिर्वो भविष्यति न संशयः।।

भाव है कि जालन्धर क्षेत्र सभी तीर्थों एवं देवस्थानों में श्रेष्ठ है। अपनी रक्षा हेतु यहां अंश रूप में निवास करो। मेरा और मेरी शक्ति बज्रेश्वरी का ध्यान करने से कलियुग तुम्हारा स्पर्श भी नहीं कर पाएगा। इसके अनुसार ही देवताओं ने यहां निवास धारण कर लिया।

श्री चिन्तपूर्णी धाम

हिमाचल का यह प्रमुख शक्तिपीठ जिला ऊना मुख्यालय से 55 कि०मी० तथा भरवाई कस्वे (मुख्य सड़क) से 3 कि०मी० दूर, शिवालिक पर्वतमाला में समुद्र-तल से 940 मीटर की ऊंचाई पर अवस्थित है। प्रजापति यज्ञ आख्यान के सन्दर्भ में ऐसी मान्यता है कि यहां पर सती के चरणों ने विश्राम लिया था। देवी के इस स्थल पर प्रकट होने सम्बन्धी एक जनश्रुति भी प्रचलित है। इसके अनुसार अम्ब तहसील के रपोहमिसरां गांव निवासी भक्त माईदास को ससुराल जाते समय यहां निद्रा ने घेर लिया। स्वप्न में उसे एक दिव्य स्वरूपा कन्या के दर्शन हुए जिसने उसे इस स्थान पर भगवती की पूजा-अर्चना का आदेश दिया। लौटते समय भक्त ने यहां माता का ध्यान लगाया। देवी ने प्रकट दर्शन देकर माईदास को अपना परिचय भगवती छिन्नमस्ता के रूप में दिया। यह भी बताया कि मैं दीर्घकाल से वटवृक्ष के नीचे पत्थर की पिंडी के रूप में अवस्थित हूँ। देवी ने अपने इस भक्त को वहीं स्थायी निवास का आदेश दिया और उसकी सुविधा हेतु वहां पर एक जल स्रोत की भी व्यवस्था कर दी। माईदास ने इसी स्थान पर भगवती के मन्दिर की स्थापना की। भक्तों के मनोरथों की सिद्धि और उनकी चिन्ताओं के त्राण के कारण भगवती चिन्तपूर्णी देवी के रूप में विख्यात हुई। पंजाब नरेश महाराजा

रणजीत सिंह स्वयं देवी के दर्शन को यहां पधारे थे और उनके आदेश पर उनके दीवान दीनानाथ ने यहां एक शिव मन्दिर निर्मित करवाया। साथ में एक बावड़ी तथा तालाब की भी व्यवस्था की गई।

भगवती का मन्दिर 15-16वीं शती का स्वीकार किया जाता है। संगमरमर से निर्मित मन्दिर का गुम्बद स्वर्णमण्डित है। गुम्बद के ऊपर कमल दल एवं कलश तथा उस पर सोने का छत्र विराजमान है। मन्दिर के कपाट रजत-मण्डित हैं और इन पर भव्य नक्काशी विद्यमान है। मन्दिर के भीतर मां पिंडी रूप में विराजती है। ऊपर सोने एवं चांदी के छत्र सुशोभित हैं। मन्दिर परिसर की संगमरमर से सजावट है।

देवी की प्रख्याति चिन्तपूर्णी के साथ-साथ छिन्नमस्ता के रूप में भी है। दस महाविद्याओं में छिन्नमस्ता भी एक है। नील वस्त्रधारिणी, खुले केशों वाली यह देवी हृदय पर कमल की माला पहनती है—कटा सिर, कृपाण और खप्पर लिए यह दिगम्बरादेवी शोणितधारा का पान करती है। जो भुवनेश्वरी षोड्शी के रूप में संसार का पालन करती है, वही छिन्नमस्ता के रूप में संहार भी करती है। माता भुवनेश्वरी का प्राकट्य अधिक विकास का पर्याय है तो निर्गम अधिक और आगम न्यून छिन्नमस्ता का प्राधान्य दर्शाता है। शत्रु-विजय, राज्य-प्राप्ति, दुर्लभ मोक्ष प्राप्ति हेतु छिन्नमस्ता की साधना का कथन है। यह साधना अर्धरात्रि के समय की जाती है। पुराणों में छिन्नमस्ता की कथा में बताया गया है किस प्रकार देवी ने रणभूमि में चण्डी की विजय के बाद अपना ही सिर काटकर जया तथा विजया योगिनियों की रक्त-पिपासा शान्त की। शरीर से मस्तक के कट जाने पर ही देवी का नाम छिन्नमस्ता पड़ा।

भगवती के मन्दिर में प्रतिदिन नियमित रूप से तीन बार आरती होती है। प्रथम आरती मंगल आरती कही जाती है, जिसमें देवी को चने का भोग लगता है। दूसरी आरती में विभिन्न पकवानों का भोग लगता है। संध्या आरती में दूध तथा चने के भोग का विधान है। चैत्र, आश्विन तथा श्रावण मास के नवरात्रों में यहां पूजन को विशेष महत्त्व प्राप्त है। इन दिनों देश-विदेश से लाखों की संख्या में श्रद्धालु यहां पहुंचते हैं। स्थानीय पुरोहितों द्वारा अपने यजमानों के निवास की व्यवस्था की जाती है। दूसरी ओर अनेकानेक धार्मिक एवं सामाजिक संगठनों एवं संस्थाओं ने इस उद्देश्य से धर्मशालाओं का निर्माण करवाया है। हिमाचल सरकार के पर्यटन विभाग ने भी भरवाई में यात्री निवास की व्यवस्था कर रखी है। मन्दिर की व्यवस्था, वर्तमान में, एक न्यास के अधीन है जिसका अध्यक्ष जिला उपायुक्त

होता है।

श्री ज्वालामुखी मन्दिर

भगवती ज्वालामुखी का ऐतिहासिक मन्दिर कांगड़ा जिला में शिवालिक पर्वतमाला की कालीधार उपत्यका के साथ की व्यास घाटी में समुद्र-तल से 610 मीटर की ऊंचाई पर अवस्थित है। इस स्थान की दूरी शिमला से 205 कि०मी० तथा जिला मुख्यालय धर्मशाला से 55 कि०मी० है। पंजाव से यहां होशियारपुर तथा पठानकोट के मार्ग से पहुँचा जा सकता है जिनकी यहां से दूरी क्रमशः 85 तथा 120 कि०मी० है।

यह शक्तिपीठ अत्यन्त प्राचीन है। एक ओर मन्दिर से जुड़ी अनेक पुराकथाएं सम्मुख आती हैं, तो दूसरी ओर अनेकानेक ऐतिहासिक उल्लेख भी उपलब्ध हैं।

दक्ष यज्ञ और हवनकुण्ड में भस्म हुए सती के शरीर के सन्दर्भ में यह लोकमत है कि इस स्थान पर विष्णु के सुदर्शन चक्र से कटकर सती की जीभ गिरी थी। एक प्रचलित मत यह भी है कि इस स्थान पर सती के अंगार बरसाते नेत्र गिरे थे। इसी कारण इस स्थान को ज्वालामुखी नाम प्राप्त है। सती के शरीर के 51 भाग नीचे गिरे थे, इसी कारण शक्तिपीठों की संख्या 51 कही जाती है। एक जनश्रुति के अनुसार लगभग 800 वर्ष पूर्व, भगवती के आदेश पर इस स्थान की खोज एक दक्षिणवासी ब्राह्मण ने की थी। देवी का उसे आदेश था कि वह कांगड़ा के पर्वतीय प्रदेश में जाकर उस स्थान की खोज करे, जहां जीभ की भान्ति लपलपाती आग की लपटें हों। ब्राह्मण ने स्थान खोजा और वहां मन्दिर निर्मित किया। मन्दिर में प्रज्वलित ज्वाला को भगवती का अग्निमुख भी कहा जाता है।

कांगड़ा को जालन्धर पीठ की संज्ञा भी प्राप्त थी। एक जनश्रुति के अनुसार भगवान् शिव ने नृशंस असुर जालन्धर को एक भारी पर्वत लुढ़काकर उसके नीचे कुचल दिया था। ज्वालामुखी को दैत्य का मुख माना जाता है, दोआबा का ऊपरी क्षेत्र उसकी पीठ का भाग था और दैत्य के पांवों का प्रसार मुलतान (पाकिस्तान) तक था।

एक जनश्रुति यह भी है कि कांगड़ा के प्रथम नरेश भूमिचन्द की गऊएं वर्तमान मन्दिर के आसपास वन-प्रान्त में चरने आया करती थीं। एक विशेष गाय का प्रातःकाल कोई दूध जंगल में दुह लेता और शाम को राजा के सेवक निराश हो जाते, उन्हें डाँट-फटकार भी झेलनी पड़ती। रहस्य पर से पर्दा तब उठा जब ज्ञात हुआ कि जंगल में एक अतयन्त सुन्दर कन्या गऊ का नित्य दोहन् कर लेती

है। लड़की का पीछा किया गया तो वह एक ज्योतिपुंज में समा गई। राज भूमिचन्द को समग्र वृत्त विदित हुआ, तो उसने यहां एक मन्दिर निर्मित करवा दिया!

मन्दिर सम्बन्धी अनेक ऐतिहासिक उल्लेख उपलब्ध है। 'शम्श-ए-सिराज' के अनुसार अपने कांगड़ा अभियान के दौरान फिरोजशाह तुगलक ज्वालामुखी मन्दिर में प्रज्वलित ज्योतियों के विषय में अपनी जिज्ञासा शान्त करने यहां आया था। अबुल फज़ल द्वारा भी श्रद्धालुओं की मन्दिर यात्रा और उपहार-भेंट सम्बन्धी तहरीर है। मुगल सम्राट का प्रसंग बहुत गहरे मन्दिर से जुड़ा है। कांगड़ा का एक प्रसिद्ध लोकगीत है—

है कांगड़ा धौली धार मैया,
ते बैकुंठ बणाया
— — — — — — —
नंगी नंगी पैरी मैया अकबर आया,
सोने दा छत्तर चढ़ाया मैया।

कहा जाता है कि सम्राट अकबर को भगवती की शक्ति पर विश्वास नहीं था। उसने मन्दिर के ऊपर से एक नहर का निर्माण करवाया और उसके पानी से भगवती की ज्योतियों को बुझाने का असफल प्रयास किया। इस असफलता के बाद इन ज्योतियों को लोहे के बड़े-वड़े तवों से ढकने का प्रयास हुआ, परन्तु निराशा ही हाथ लगी। भगवती के चमत्कार के सम्मुख सम्राट नतमस्तक हुआ और उसने श्रद्धाभाव से देवी को एक स्वर्ण-छत्र अर्पित किया। वास्तव में यह श्रद्धा भी अहंकार संयुक्त थी और छत्र का स्वर्ण मिश्रित धातु में बदल गया। 1809 में राजा संसारचन्द के सहयोग से गोरखों और 1815 में अफगानों को पराजित कर महाराजा रणजीत सिंह ने भगवती के मन्दिर के कलश को स्वर्ण-मण्डित करवाया। महाराजा के सुपुत्र खड़गसिंह ने देवीधाम में चाँदी के कपाट अर्पित किए। कपाटों पर हुई भव्य चित्रकारी लार्ड हेस्टिंग को इतनी मोहक लगी कि उसने इसका मॉडल बनवाया।

मुगल सम्राट जहांगीर के भी यहां आने का उल्लेख उपलब्ध है। मन्दिर के संदर्भ में मुगल सम्राट औरंगजेब की भी चर्चा मिलती है। इससे पूर्व का एक उल्लेख है कि जब बज्रेश्वरी देवी के मन्दिर को लूटकर इसी इच्छा से महमूद गजनबी यहां आया तो उसे स्वप्न में अग्नि दिखाई दी और गजनबी ने लूट का दुस्साहस नहीं किया।

होता है।

श्री ज्वालामुखी मन्दिर

भगवती ज्वालामुखी का ऐतिहासिक मन्दिर कांगड़ा जिला में शिवालिक पर्वतमाला की कालीधार उपत्यका के साथ की व्यास घाटी में समुद्र-तल से 610 मीटर की ऊंचाई पर अवस्थित है। इस स्थान की दूरी शिमला से 205 कि०मी० तथा जिला मुख्यालय धर्मशाला से 55 कि०मी० है। पंजाब से यहां होशियारपुर तथा पठानकोट के मार्ग से पहुँचा जा सकता है जिनकी यहां से दूरी क्रमशः 85 तथा 120 कि०मी० है।

यह शक्तिपीठ अत्यन्त प्राचीन है। एक ओर मन्दिर से जुड़ी अनेक पुराकथाएं सम्मुख आती हैं, तो दूसरी ओर अनेकानेक ऐतिहासिक उल्लेख भी उपलब्ध हैं।

दक्ष यज्ञ और हवनकुण्ड में भस्म हुए सती के शरीर के सन्दर्भ में यह लोकमत है कि इस स्थान पर विष्णु के सुदर्शन चक्र से कटकर सती की जीभ गिरी थी। एक प्रचलित मत यह भी है कि इस स्थान पर सती के अंगार बरसाते नेत्र गिरे थे। इसी कारण इस स्थान को ज्वालामुखी नाम प्राप्त है। सती के शरीर के 51 भाग नीचे गिरे थे, इसी कारण शक्तिपीठों की संख्या 51 कही जाती है। एक जनश्रुति के अनुसार लगभग 800 वर्ष पूर्व, भगवती के आदेश पर इस स्थान की खोज एक दक्षिणवासी ब्राह्मण ने की थी। देवी का उसे आदेश था कि वह कांगड़ा के पर्वतीय प्रदेश में जाकर उस स्थान की खोज करे, जहां जीभ की भान्ति लपलपाती आग की लपटें हों। ब्राह्मण ने स्थान खोजा और वहां मन्दिर निर्मित किया। मन्दिर में प्रज्वलित ज्वाला को भगवती का अग्निमुख भी कहा जाता है।

कांगड़ा को जालन्धर पीठ की संज्ञा भी प्राप्त थी। एक जनश्रुति के अनुसार भगवान् शिव ने नृशंस असुर जालन्धर को एक भारी पर्वत लुढ़काकर उसके नीचे कुचल दिया था। ज्वालामुखी को दैत्य का मुख माना जाता है, दोआबा का ऊपरी क्षेत्र उसकी पीठ का भाग था और दैत्य के पांवों का प्रसार मुलतान (पाकिस्तान) तक था।

एक जनश्रुति यह भी है कि कांगड़ा के प्रथम नरेश भूमिचन्द की गऊएं वर्तमान मन्दिर के आसपास वन-प्रान्त में चरने आया करती थीं। एक विशेष गाय का प्रातःकाल कोई दूध जंगल में दुह लेता और शाम को राजा के सेवक निराश हो जाते, उन्हें डाँट-फटकार भी झेलनी पड़ती। रहस्य पर से पर्दा तब उठा जब ज्ञात हुआ कि जंगल में एक अतयन्त सुन्दर कन्या गऊ का नित्य दोहन् कर लेती

है। लड़की का पीछा किया गया तो वह एक ज्योतिपुंज में समा गई। राज भूमिचन्द को समग्र वृत्त विदित हुआ, तो उसने यहां एक मन्दिर निर्मित करवा दिया!

मन्दिर सम्बन्धी अनेक ऐतिहासिक उल्लेख उपलब्ध है। 'शम्श-ए-सिराज' के अनुसार अपने कांगड़ा अभियान के दौरान फिरोजशाह तुगलक ज्वालामुखी मन्दिर में प्रज्वलित ज्योतियों के विषय में अपनी जिज्ञासा शान्त करने यहां आया था। अबुल फज़ल द्वारा भी श्रद्धालुओं की मन्दिर यात्रा और उपहार-भेंट सम्बन्धी तहरीर है। मुगल सम्राट का प्रसंग बहुत गहरे मन्दिर से जुड़ा है। कांगड़ा का एक प्रसिद्ध लोकगीत है—

है कांगड़ा धौली धार मैया,
ते बैकुंठ बणाया
— — — — — — — —
नंगी नंगी पैरी मैया अकबर आया,
सोने दा छत्तर चढ़ाया मैया।

कहा जाता है कि सम्राट अकबर को भगवती की शक्ति पर विश्वास नहीं था। उसने मन्दिर के ऊपर से एक नहर का निर्माण करवाया और उसके पानी से भगवती की ज्योतियों को बुझाने का असफल प्रयास किया। इस असफलता के बाद इन ज्योतियों को लोहे के बड़े-वड़े तवों से ढकने का प्रयास हुआ, परन्तु निराशा ही हाथ लगी। भगवती के चमत्कार के सम्मुख सम्राट नतमस्तक हुआ और उसने श्रद्धाभाव से देवी को एक स्वर्ण-छत्र अर्पित किया। वास्तव में यह श्रद्धा भी अहंकार संयुक्त थी और छत्र का स्वर्ण मिश्रित धातु में बदल गया। 1809 में राजा संसारचन्द के सहयोग से गोरखों और 1815 में अफगानों को पराजित कर महाराजा रणजीत सिंह ने भगवती के मन्दिर के कलश को स्वर्ण-मण्ड़ित करवाया। महाराजा के सुपुत्र खड़गसिंह ने देवीधाम में चाँदी के कपाट अर्पित किए। कपाटों पर हुई भव्य चित्रकारी लार्ड हेस्टिंग को इतनी मोहक लगी कि उसने इसका मॉडल बनवाया।

मुगल सम्राट जहांगीर के भी यहां आने का उल्लेख उपलब्ध है। मन्दिर के संदर्भ में मुगल सम्राट औरंगजेब की भी चर्चा मिलती है। इससे पूर्व का एक उल्लेख है कि जब बज्रेश्वरी देवी के मन्दिर को लूटकर इसी इच्छा से महमूद गजनबी यहां आया तो उसे स्वप्न में अग्नि दिखाई दी और गजनबी ने लूट का दुस्साहस नहीं किया।

बाजार के अन्तिम छोर से मन्दिर में प्रवेश हेतु संगमरमर की सीढ़ियां हैं। खुले प्रांगण के मध्य में भगवती का मन्दिर है और प्रांगण के छोरों पर भव्य कक्ष निर्मित हैं जिनमें देवी की प्रतिमाएं विराजती हैं। गर्भगृह के सामने प्रांगण के दूसरी ओर 'सेजा भवन' नामक विशाल कक्ष है, जिसमें शयन आरती के अनन्तर माता का शायन होता है। मन्दिर के गर्भगृह में एक मीटर गहरा कुंड है और इसके ऊपर चारों ओर परिक्रमा पथ है। कुण्ड के मध्य स्थित चट्टान की दरार में नित्य ज्योतियां प्रज्वलित रहती है। मुख्य ज्योति देवी का साक्षात् स्वरूप है। ज्योतियों की संख्या घटती-बढ़ती रहती है, परन्तु विश्वास यह है कि भगवती नौ ज्योतियों के रूप में प्रकट रहती है। मुख्य ज्योति महाकाली है और अन्य ज्योतियां, अन्नपूर्णा, चण्डी, हिंगलाज, विंध्यवासिनी, महालक्ष्मी, महासरस्वती, अम्बिका और अंजना रूप में विभूषित है। मन्दिर के मूल स्वरूप में कई बार परिवर्तन हुआ है। वर्तमान वास्तुशिल्प में हिन्दू, मुगल तथा सिख वास्तुशिल्प का सामंजस्य है। मन्दिर की वाहरी भित्तियों, गुम्बदों पर मुगल शैली प्रभावी दीखती है। भीतर की छत विभिन्न प्रकार से अलंकृत है। गुंबद के ऊपर पद्म कोश, कमल तथा छत्र उकेरे गए हैं।

वैसे तो प्रतिदिन ही यहां सैकड़ों श्रद्धालु दर्शन को आते हैं, परन्तु नवरात्रों की छटा अद्भुत होती है, जब श्रद्धालुओं की संख्या लाखों हो जाती है। भगवती की पूजा में धूप, अगरबत्ती, कुमकुम, सिंदूर, पान-पत्ता, लौंग तथा इलायची का प्रयोग होता है। प्रतिदिन पांच बार आरती का विधान है। प्रातः की आरती—'मंगल आरती' में भगवती को मिस्री, खोया आदि का भोग लगता है। दूसरी आरती में भोग पीले चावल तथा दही का होता है। तीसरी तथा चौथी आरती में भोग क्रमशः चावल, मिठाई, छह मिश्रित दालों तथा पूरी-चना हलवा का होता है। पांचवीं आरती गर्भगृह तथा 'सेजा भवन' में सम्पन्न होती है और इस समय शंकराचार्य रचित 'सौन्दर्य लहरी' का पाठ किया जाता है। मन्दिर की व्यवस्था एक न्यास के हाथ में है जिसके अध्यक्ष कांगड़ा जिला के आयुक्त होते हैं। न्यास की ओर से यात्रियों के निवास की व्यवस्था 'मातृछाया' यात्री निवास में रहती है। निजी क्षेत्र के 'गेस्ट हाउस' तो है, सामाजिक-धार्मिक संस्थाओं द्वारा निर्मित धर्मशालाओं में भी आवासीय व्यवस्था रहती है। इस शक्तिपीठ के निकट दर्शनीय धार्मिक स्थल हैं—गोरख डिब्बी, सिद्ध नागुर्जन, अंबिकेश्वर मन्दिर, गायत्री मन्दिर, नागनी माता मन्दिर इत्यादि हैं।

बज्रेश्वरी देवी

पौराणिक क़ाल में पूर्व से उत्तर-पश्चिम की ओर समस्त पर्वतीय प्रदेश में जिन पीठों की स्थापना हुई उनमें जालन्धर पीठ बहुचर्चित रही। कांगड़ा को जालन्धर पीठ की संज्ञा भी प्राप्त थी। भगवती वज्रेश्वरी धाम इस पीठ का केन्द्र बिन्दु है। ज्वालामुखी से 40 कि०मी० और धर्मशाला से 18 कि०मी० की दूरी पर अवस्थित इस मन्दिर का ऐतिहासिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक दृष्टि से तो महत्त्व है ही, यह मन्त्र-तन्त्र का भी पारम्परिक केन्द्र रहा है। इस आध्यात्मिक केन्द्र ने अपने जीवन-काल में काल की अनेक धाराओं का झटका खाया है, इतिहास की अनेक धड़कनें सुनी हैं और विनाश-निर्माण के अनेक सोपान तय किए हैं।

मन्दिर से अनेकानेक दन्तकथाएं तथा जनश्रुतियां जुड़ी हुई हैं। आस्था के इस केन्द्र के विषय में श्री अबुल फजल ने लिखा था—"हैरानी की वात है कि देवी के भक्त यहां अपनी जिह्वाएं काट लेते हैं, जो दो-तीन दिनों के बाद फिर बढ़ जाती है और कई बार तो कुछ घंटों में ही पहले की तरह हो जाती हैं।" ऐसी मान्यता है कि विभिन्न शक्तिपीठों की स्थापना सती के शरीर के कटे हुए अंगों पर हुई थी। इस स्थल पर, ऐसा विश्वास है, कि सती का बायां स्तन गिरा था। सती का यह वक्षस्थल यहां पर गिरने के पश्चात् वज्र के समान हो गया। इसी से बज्रेश्वरी देवी का प्राकट्य हुआ। कुछ लोगों का यह भी विश्वास है कि सती ने जिस योगाग्नि में अपने को भस्म किया था, उसी से सती के तेज से शक्ति प्रकट हुई, जो बज्रेश्वरी कहलाई। यह जनश्रुति है कि एक समय त्रिगर्त (कांगड़ा) में व्यास नदी के आसपास भयंकर सूखे की परिस्थिति पैदा हो गई और सैकड़ों लोग काल का ग्रास बने। भक्तजनों ने माता दुर्गा की आराधना की। माता प्रसन्न हुई और भक्तों को इस स्थल पर मन्दिर निर्माण का आदेश दिया। लोकमत है कि मन्दिर के निर्माण के समय आयोजित यज्ञ में देवी की 360 सहायिकाएं भी सम्मिलित हुईं। कांगड़ा की संरक्षिका इस देवी का वाणी की देवी—वागेश्वरी के रूप में भी स्मरण होता है।

एक जनश्रुति के अनुसार सृष्टिकर्ता ब्रह्मा जी ने देवी बज्रेश्वरी की उपासना की थी। जब अन्य देवताओं ने भी इसी क्रम का पालन किया तो वे सफल नहीं हुए। ब्रह्मा जी ने देवगण की प्रार्थना पर यहां मन्दिर की स्थापना कर, देवी विग्रह की प्रतिष्ठा की। यह भी कहा जाता है कि जालन्धर दैत्य का जब वध हुआ, तो उसका पृष्ठ भाग यहां गिरकर वज्र के समान हो गया। भगवती बज्रेश्वरी ने उसे

अपने पांवों की मार से यहीं अचल कर दिया। वज्र के समान कठोर शिला पर स्थित भगवती बज्रेश्वरी नाम से प्रख्यात हुई।

'कल्याण' के शक्ति अंक में इस स्थल का नामकरण 'स्तनपीठ' भी दर्शाया गया है, क्योंकि यहां पर देवी का बायां स्तन गिरा था। जन-विश्वास है कि इस शक्तिपीठ में समस्त देवताओं एवं तीर्थों का अंश रूप में निवास है। यहां पर ही व्यास, वशिष्ठ, मनु, जमदग्नि, परशुराम आदि ने शक्ति की उपासना की थी। ऐसी मान्यता है कि जालन्धर के वध से लगने वाले पाप से मुक्त होने हेतु महादेव ने यहीं शरण ली थी। तारादेवी की उपासना से वह पाप मुक्त हुए। पीठ की तीन अधिष्ठात्री देवियां हैं—काली, तारा तथा त्रिपुरा परन्तु प्राधान्य बज्रेश्वरी देवी का ही स्वीकारा जाता है। इन्हें 'विद्या राज्ञी' का भी सम्बोधन प्राप्त है। शक्तिपीठ में विद्या राज्ञी के चक्र तथा भगवती तारा की पिंडी विराजमान है। इस शक्तिपीठ की साधना सद्गति प्रदान करती है।

निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि मूल मन्दिर की स्थापना कब हुई। जनश्रुति है कि द्वापर में दुर्योधन के बहनोई राजा शिशरमचन्द ने इस मन्दिर का निर्माण करवाया था। यह तथ्य सर्वविदित है कि ग्यारहवीं शती के आरम्भ में इस शक्तिपीठ की प्रख्याति चरम सीमा पर थी। भगवती के चरणों में श्रद्धालु, दूर-दूर से आकर, अपार धन-सम्पदा अर्पित करते रहे हैं। इस सम्पदा के लोभ के कारण ही विदेशी आक्रमणकारियों ने अनेक बार मन्दिर को लूटा तथा इसका विध्वंस भी किया। विध्वंस का कारण तो धार्मिक कट्टरता एवं असहिष्णुता ही माना जाएगा। सर्वप्रथम महमूद गजनबी ने इस धर्मस्थल को लूटा। ऐसा भी कहा जाता है कि उसने मन्दिर के एक भाग में मस्जिद का भी निर्माण करवाया था। 1337 में मुहम्मद तुगलक द्वारा मन्दिर को लूटे जाने का वृत्त भी मिलता है। महाराजा संसारचन्द ने 1440 ई० इस मन्दिर का जीर्णोद्धार किया। मन्दिर परिसर से प्राप्त एक संस्कृत अभिलेख के अनुसार इस शक्तिपीठ का निर्माण 15वीं शती में कटोचवंशीय राजा संसारचन्द प्रथम ने करवाया था। यह पुनरुद्धार ही कहा जाएगा, परन्तु 1540 में मन्दिर पर शेरशाह सूरी के सेनानायक खुमस खान की कुदृष्टि पड़ी। लूट-पाट हुई, मन्दिर भी नष्ट-भ्रष्ट हुआ। ऐसा प्रसिद्ध है कि पंजाब में सिख शासन के दौरान सरदार देसासिंह ने मन्दिर का भव्य रूप में नव-निर्माण करवाया। मन्दिर के बड़े मीनार पर रानी चांदकौर ने स्वर्ण-कलश चढ़ाया। महाराजा रणजीत सिंह भी दो बार मन्दिर दर्शन को पधारे। महाराजा द्वारा अर्पित स्वर्ण मूर्ति आज भी यहां सुरक्षित है। सन् 1905 में कांगड़ा को भीषण भूकम्प का

सामना करना पड़ा और इस मन्दिर की भी काफी क्षति हुई। भूकम्प के अनन्तर 'कांगड़ा टैम्पल रेस्टोरेशन एंड एडमिनिस्ट्रेशन कमेटी' ने मन्दिर के नव-निर्माण कार्य को सम्भाला और मेयो आर्ट कॉलेज, लाहौर के प्रमुख सरदार भाई रामसिंह से मन्दिर का डिजाइन तैयार करवाया। वर्तमान मन्दिर का निर्माण सन् 1920 में हुआ। ऐसा कहा जाता है कि 24 अक्तूबर, 1927 को भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड इरविन ने सपत्नीक यहां सोने का छत्र चढ़ाया था। 1916 तथा 1923 में पंजाब के गवर्नर क्रमशः माइकल ओ डायर तथा ई०डी० मैक्लेग्न यहां सपरिवार पधारे और अंशदान भेंट किया।

कांगड़ा के एक टेढ़े-मेढ़े बाजार में लगभग सौ मीटर चलकर भक्तजन इस शक्तिपीठ के दर्शन कर पाते हैं। भूकम्प से पूर्व यह देवस्थान बालकनियों से सुसज्जित अट्टालिकाओं की आकृति का था, जिसके ऊपर एक धारीदार गुम्बद था। इसकी सज्जा सुनहरी पानी से राजा शेरसिंह की महारानी चांद कौर ने करवाई थी। शिखर शैली के वर्तमान निर्माण का स्थापत्य मध्यकालीन है, जिसमें अनेक वास्तु शैलियों का मिश्रण है। गर्भगृह पर निर्मित कलश-मंडित शिखिर में परम्परागत हिन्दू शिखर शैली के दर्शन होते हैं। सभामण्डप अनेक खण्भों से शोभायमान है और इसका ऊपरी भाग मुगल वास्तु शैली से प्रभावित राजपूती वास्तु शिल्प में निर्मित है। प्रवेश द्वार के पास वाले भाग में भी इसी शिल्प के दर्शन होते हैं। इस प्रकार यह नव-निर्माण मिश्रित वास्तु शिल्प का भव्य नमूना है। मन्दिर के स्तम्भ-घटों में पल्लव शैली झलकती है। प्रवेश द्वार का शृंगार चांदी के जिन पतरों से हुआ है, उन पर अनेक देवी-देवता चित्रित हैं। यहां गंगा-यमुना की सातवीं शती की प्राचीन मूर्तियां भी हैं। परिसर में उमा, भैरव, महेश तथा अन्य देवी-देवताओं की लगभग चालीस मूर्तियां हैं, जिनका सम्बन्ध सातवीं से लेकर बारहवीं शती तक का बताया जाता है। मन्दिर के एक कक्ष में भगवती की एक प्राचीन मूर्ति है जिसमें देवी के पैरों तले जालन्धर दैत्य है। मण्डप के अग्रभाग में सुन्दर नक्काशी से अलंकृत दो प्रस्तर स्तम्भ है, जिनकी पहचान प्राचीन मन्दिर के अवशेष के रूप में की जाती है। स्तम्भों पर निर्मित इस मन्दिर के सिंहद्वार की प्राचीरों पर अंकित भगवती दुर्गा के चित्रों के कर्ता प्रसिद्ध कलाकार गुलाबूराम बताए जाते हैं। मन्दिर के प्रांगण में एक चबूतरा है, जिसका संगमरमर का एक पत्थर 'शपथ शिला' के रूप में जाना जाता है। इसी शिला पर आसीन होकर भक्तजन सौगन्ध लेते हैं और मन्नते मानते हैं। मुख्य मन्दिर के चारों ओर अनेक प्राचीन मन्दिर भी स्थित है। मन्दिर के प्रांगण में तारा देवी का एक छोटा-सा मन्दिर है, भूकम्प भी जिसका कुछ

न बिगाड़ पाया। मन्दिर के पृष्ठ भाग में कपालेश्वर महादेव का मन्दिर है, जिसके दर्शन के बिना भगवती की यात्रा अधूरी स्वीकार की जाती है।

लगभग ग्यारह सौ वर्ष पूर्व इस स्थान की प्रतिष्ठा तन्त्र विद्या केन्द्र तथा तन्त्र साधना के कारण थी। केन्द्र के पीठाधीश आचार्य शम्भूनाथ से आचार्य अभिनव गुप्त ने भारतीय दर्शन के सिद्धान्तों और उनके प्रयोग की शिक्षा ली। इस शक्तिपीठ के आसपास अनेक उप-पीठ हैं—पूर्व में तारादेवी (बैजनाथ), दक्षिण में ज्वालामुखी, कोटला में भगवती बगुलादेवी, वनखण्डी के निकट भगवती पीताम्बरा-बगुलामुखी, उत्तर में चामुण्डा पीठ। प्राचीन काल में भगवती की पूजन-विधि तन्त्र-साधना पर आधारित थी। मन्दिर में पूजा शुरू करने से पूर्व पुजारी को द्वार पर एक हजार जाप करना होता था। यह प्रवेश के लिए आवश्यक होता। दस विद्याओं में बज्रेश्वरी त्रिपुरा सुन्दरी है, जिसकी पूजा का निजी विधान है। पूजा के उपकरण चांदी तथा तांबे से निर्मित विशिष्ट प्रकार के होते हैं, जिनका कहीं अन्य प्रयोग वर्जित है। मुख्य मन्दिर में विराजमान तीन पिण्डियों—भद्रकाली, एकादशी तथा बज्रेश्वरी में से प्रधान पूजा अन्तिम पिण्डी की ही होती है। सर्वप्रथम पूजा के स्थान पर रखे श्रीयन्त्र की पूजा का विधान हे। माता की पिण्डी के निकट अष्टधातु से निर्मित एक प्राचीन त्रिशूल भी विद्यमान है। इस पर दस महाविद्याओं के दस यन्त्र अंकित हैं और निचले भाग पर दुर्गा सप्तशती के कवच का भी अंकन है। इस त्रिशूल की भी अनन्त महिमा है। जन विश्वास है कि त्रिशूल पर चढ़े जल को पिलाने पर आसन्नप्रसू महिला को प्रसव तुरन्त हो जाता है और मरणासन्न व्यक्ति को शीघ्र सद्गति प्राप्त हो जाती है। माता की पांच आरतियों का यहां नियम है। मंगल आरती (प्रातःकालीन) के बाद मां को पंच मेवे का भोग लगता है। दोपहर 12 बजे की आरती में चावल तथा दाल तथा सायंकालीन आरती में भगवती को चने-पूड़ी का भोग लगता है। शयन से पूर्व दूध, चने और मिठाई के भोग का नियम है। जालन्धर पीठ माहात्म्य में उल्लेख है कि भगवती बज्रेश्वरी की पूजा-अर्चना से जीवन के चारों पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की सिद्धि होती है।

भगवती के दर्शनार्थ, यों तो वर्ष-भर, भक्तों की भीड़ जुटती है, परन्तु नवरात्रों में भीड़ का कोई आर-पार नहीं दीखता। श्रावण अष्टमी के मेले को स्थानीय श्रद्धालु 'मां की चौकी' कहते हैं। चैत्र नवरात्रों में मां के दरबार में पीत-वस्त्रधारी व्रजवासी विशेष रूप से अपनी उपस्थिति दर्ज करवाते हैं। वे अपने को ध्यानु भक्त का वंशज मान, बज्रदेवी को अपनी कुलदेवी का सम्मान देते हैं। मकर संक्रांति के

सातों दिन यहां पर 'घृतमण्डल' का आयोजन दर्शनीय होता है। जनश्रुति के अनुसार जालन्धर दैत्य के संहार के समय मां भी चोटल हो गई थी। देवताओं ने मां का उपचार घृत के लेप से किया था। उसी परम्परा का पालन करने हेतु 101 किलो देसी घी को 101 बार शीतल जल में धोकर, उसके मक्खन से पिण्डी का अर्घ्य होता है। सात दिन तक अर्पित होने वाले इस मक्खन का बाद में प्रसाद के रूप में वितरण होता है। लोक विश्वास है कि इसके प्रयोग से घाव आदि का उपचार हो जाता है। श्रावण मास के प्रथम मंगलवार से शुरू होकर एक सप्ताह तक यहां मिंजर मेले का भव्य आयोजन होता है। इस अवसर पर पकवान का वितरण होता है।

अन्य शक्तिपीठों की ही तरह इसका प्रबन्ध भी एक न्यासाधीन है। अन्य व्यवस्थाओं के साथ-साथ मन्दिर परिसर में लंगर-भवन भी स्थापित है। मन्दिर न्यास ने यात्रियों के निवासार्थ एक सराय की व्यवस्था की है। गुप्तगंगा के निकट इसी उद्देश्य से यात्री सदन भी निर्मित है। होटल एवं धर्मशालाएं भी यहां प्रचुर संख्या में उपलब्ध हैं। श्रद्धालु इन व्यवस्थाओं का लाभ उठाते हुए भगवती के दर्शन से उपकृत हो सकते हैं।

श्री नयनादेवी मन्दिर

श्री नयनादेवी की प्रख्यात पीठ जिला मुख्यालय बिलासपुर से 57 कि०मी० समुद्र-तल से 1177 मीटर की ऊंचाई पर स्थित है। आनन्दपुर साहिब (पंजाब) से इस मन्दिर की दूरी केवल 9 कि०मी० हे। जनश्रुति के अनुसार दक्ष यज्ञ की योगाग्नि में प्राण त्यागने के बाद सती के शरीर के कटे अंगों में से यहां उसकी आंखें गिरी थीं।

एक जनश्रुति के अनुसार महाभारत काल में पाण्डवों ने इस मन्दिर की स्थापना की और समय की धारा के साथ यह स्थान निर्जन हो गया। कहलूर रियासत के प्रथम शासक राजा वीरचन्द ने इस देवी को अपनी कुलदेवी के रूप में स्वीकार करके भग्न मन्दिर का जीर्णोद्धार किया। भगवती ज्वाला जी के आशीर्वाद से नरेश ने चन्दबड़ी नामक गांव में एक कोट स्थापित किया और धीरे-धीरे आसपास के क्षेत्र भी उसके अधीन हो गए। इसी क्षेत्र में भगवती का निर्जन स्थान था, जिसका जीर्णोद्धार हुआ।

'तारीखे रियासत हंडूर' के उल्लेख के अनुसार नयना नाम गुज्जर सघन वन में अपने पशु चराया करता था। उसके समूह की एक गाय समूह से अलग होकर

जंगल के छोटे-से मैदान की एक चट्टान पर नित्य अपने थनों से दूध चढ़ाती। यह क्रम कई दिन चला। जब नयना को समस्त वृत्त का ज्ञान हुआ तो उसने राजा वीरसिंह को स्थिति से अवगत करवाया। इस स्थान पर देवी की मूर्ति मिली। स्थान को चरवाहे का नाम मिला और देवी के धाम का निर्माण हुआ।

जब दशम गुरु श्री गुरु गोविन्द सिंह ने मुगलों से लोहा लेने के लिए आनन्दपुर साहिब को अपना मुख्यालय बनाया, तो विश्वसनीय सूत्रों के अनुसार, गुरुजी ने कुछ दिन यहां तपस्या की थी। खालसा पंथ की स्थापना से पूर्व गुरुजी ने बनारस के एक विशिष्ट विद्वान् को आमन्त्रित कर यहां हवन करवाया। जनश्रुति है कि यज्ञ के पूर्ण होने पर भगवती ने गुरुजी की तलवार का स्पर्श किया और अदृश्य हो गई। एक कथन यह भी है कि यज्ञकुण्ड से प्रकट होकर देवी ने ही गुरुजी को तलवार भेंट की। यह शुभ संकेत माना गया। गुरुजी द्वारा स्थापित यह हवनकुण्ड आज भी विद्यमान है। इसमें नित्य यज्ञ होता है, परन्तु कुण्ड की भस्म कभी भी निकाली नहीं गई। यज्ञ की सफलता का साक्षी तीर की नोक से ताम्रपात पर लिखा गया गुरुजी का वह फरमान है, जो मन्दिर के पुजारी के पास सुरक्षित है।

ऐसी भी मान्यता है कि नयना देवी ही महिषासुरमर्दिनी दुर्गा थी। 'महिषालय पीठ माहात्म्य' तथा दुर्गा सप्तशती में महिषासुर वध का वृत्त है। रम्भ राक्षस और महिष समुदाय की उसकी भार्या से उत्पन्न बालक महिषासुर बना। घोर तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्मा जी ने महिषासुर को देव, मानव या दानव से न मारे जाने का वरदान दिया। महिषासुर के उपद्रव से मुक्ति दिलाने हेतु ही तेज पुंज के रूप में दुर्गा भवानी का प्राकट्य हुआ। देवी ने महिषासुर को शिला पर पटका और उसके दोनों नेत्र निकाल फैंके। देवताओं ने 'जय नयने-जय नयने' का उद्घोष किया और इस प्रकार महिषासुरमर्दिनी नयनादेवी के नाम से विख्यात हुई। देवी ने असुर का कपाल ब्राह्मा जी को भेंट किया। ब्रह्मकपाली कुण्ड वह स्थल है, जहां इस कपाल की स्थापना हुई। जिस स्थान पर असुर के दो नेत्र गिरे वहां दो बाउड़ियों की स्थिति कही जाती है। महिषासुर के सेनानायक चिक्षुर का भी देवी ने वध किया। जिस स्थल पर उसका कंपाल गिरा वह स्थल 'चिक्षुकुण्ड' है। इसका नाम 'काला जौहड़' भी है। इससे यह लोक विश्वास जुड़ा है कि निस्सन्तान महिलाएं यहां स्नान से सन्तानवती हो जाती हैं।

भगवती नयनादेवी का मन्दिर नैनाधार की त्रिभुजाकार चोटी पर अवस्थित है। इस पहाड़ी के एक ओर बछरेटु तथा बाबा बालकनाथ के पावन धाम हैं तो

दूसरी ओर कीरतपुर और आनन्दपुर साहिब गुरुद्वारे! देवी का मूल मन्दिर शिखर शैली में निर्मित है, जिसके आगे गुम्बदीय मण्डप है। मन्दिर में भगवती की दो प्रतिमाएं हैं—एक प्रतिमा पाण्डव काल की बताई जाती है। दूसरी में मां के दो सुन्दर नेत्र शोभायमान हैं। मन्दिर की सज्जा संगमरमर से हुई है। मुख्य प्रतिमा के साथ गणपति भी विराजमान हैं, तो मन्दिर के मुख्य द्वार के साथ भैरव, गणपति तथा हनुमान जी की विशालकाय मूर्तियां हैं। मन्दिर परिसर में दो छोटे मन्दिर श्री रामचन्द्र तथा श्वेत बटुक के हैं।

चार स्तम्भों पर गुम्बद शैली में निर्मित वह यज्ञशाला भी मन्दिर परिसर का आकर्षण है, जिसमें में गुरु गोविन्द सिंह का यज्ञ सम्पन्न हुआ था। गर्भगृह के द्वार पर चांदी के पत्तरे हैं जिन पर सूर्य आदि देवों के चित्र अंकित हैं। मन्दिर के प्रवेश द्वार का भी यही स्वरूप है। मन्दिर के पीछे के भाग की दीवार पर भगवती काली विराजमान है। परिसर के यम द्वार पर यम-यमी की प्राचीन प्रतिमाएं हैं। ऐसी जनश्रुति है कि पहले इस द्वार पर भैंसे की बलि दी जाती थी। अब यह प्रथा समाप्त कर दी गई है। मन्दिर परिसर में शिखर शैली में निर्मित भगवान लक्ष्मी नारायण का मन्दिर भी है। धर्मशिला पर चरणपादुका है और मण्डप के नीचे देवी का विशालकाय वाहन सिंह स्थित है।

मन्दिर परिसर में एक विशालकाय पीपल वृक्ष है, जिसके मूल में तीन तने हैं—लोक आस्था के अनुसार ये ब्रह्मा, विष्णु और महेश के प्रतिरूप हैं। मन्दिर की तलहटी मे प्रवाहित जल माता का चरण-उदक माना जाता है। यह चरण गंगा आनन्दपुर साहिब के स्थान पर सतलुज में सम्मिलित हो जाती है। मन्दिर सम्बन्धी एक चमत्कार बहुचर्चित है। आंधी-तूफान के साथ कभी-कभी यहां ज्वालाजी का आगमन होता है और मन्दिर ज्वाला-ज्योतियों से जगमगा उठता है। यह ज्योति सर्वप्रथम मन्दिर में स्थित ऊंचे त्रिशूल में प्रकट होती है और फिर कलशपताकाओं, पीपल और जहां तक कि परिसर में उपस्थित भक्तजनों के नाखुनों तक में ज्योतित होती हैं। इस अवधि में, विश्वासानुसार, ज्वाला जी में धुति कम रहती है। आगत ज्योतियों का फिर सहसा तिरोभाव भी हो जाता है। मन्दिर परिसर के लगभग 250 मीटर पर उतार-चढ़ाव वाली 50 मीटर लम्बी गुफा है—तपस्वियों का तपस्थल! शायद भगवती भी यहां तप-लीन रही होंगी।

मन्दिर की पूजा व्यवस्था वंशानुगत भोजकी वंश के पास है। बारीदार प्रथा लागू है, जिसके अनुसार एक पुजारी का कार्यकाल मास की संक्रांति को एक मास पर्यन्त शुरू होता है। मन्दिर में पांच आरतियों का नियम है। ब्रह्म मुहूर्त की आरती

मंगला आरती है, जिसमें भगवती को काजू, बादाम, मिश्री, गरी, खुमानी, किशमिश आदि का मोहनभोग अर्पित किया जाता है। शृंगार आरती में झीड़ा बाउड़ी के जल का उपयोग होता है। माता को हलवा और बरफी का भोग लगता है। इस आरती के वाद यज्ञशाला में नित्य यज्ञ होता है। मध्याह्न आरती में चावल-दाल, मदरा, खीर आदि का भोग लगाया जाता है। सायंकाल भगवती के स्नान-शृंगार के पश्चात् आरती होती है। श्याम भोग में चना-पूरी, ताम्बूल शामिल रहता है। इस आरती में 'सौन्दर्य लहरी' के श्लोकों से भगवती की स्तुति की जाती है। पहली आरतियों में 'दुर्गा सप्तशती' ही प्रमुख रहती है। 'सौन्दर्य लहरी' पाठ से शयन आरती का सम्पादन होता है। इस समय के भोग का नाम है 'दुग्ध भोग'।

नित्य ही यहां श्रद्धालु भारी संख्या में आते हैं, परन्तु चैत्र, आश्विन तथा श्रावण के नवरात्रों में यह संख्या लाखों तक पहुंच जाती है। श्रावण अष्टमी का मेला 'चाला' नाम से भी प्रख्यात है। नवरात्रों के प्रारम्भ में मन्दिर में ध्वजारोहण का नियम है। मन्दिर में जाने के लिए पहले तो परिश्रमजन्य सीढ़ियों का मार्ग था, अब 'रज्जु मार्ग' का भी विकल्प है। सरकारी विश्रामगृह, पर्यटन विभाग की सराय, मन्दिर न्यास के 'मातृ आँचल' तथा अनेकानेक धर्मशालाओं में सुविधाजनक आवासीय व्यवस्था है।

'ब्रह्मांड पुराण' में उल्लेख है कि सभी शक्तिपीठ समान रूप से पूज्य है, भेद नाममात्र का है—

अतो जालन्धरे पीठे चण्डिकार्चनमादरात्।
प्रकर्तव्यं विधानेन सद्यः सिद्धि-प्रदायकम्।।
बज्रेश्वरी जयन्ती चामुण्डा ज्वालामुखी तथा।
एतासां नैव भेदोऽस्ति एव समाः स्मृताः।।

हिमाचल में शक्तिपीठों के रूप में देवी के चार धामों की मान्यता है, परन्तु भगवती के कतिपय अन्य स्थान भी हैं, जिनका महत्त्व किसी रूप में भी कम आंका नहीं जा सकता। हिमाचल में अनेक रियासतें रही हैं और प्रत्येक की कुलदेवियां थीं। इनकी स्थापना इस रूप में हुई कि सुदीर्घ परम्परा एवं गौरवपूर्ण इतिहास के कारण कालान्तर में इनको भी शक्तिपीठों जैसी ख्याति प्राप्त हो गई है। धामों का संक्षिप्त विवरण भी आवश्यक है।

अष्टभुजा मन्दिर

भगवती ज्वालामुखी शक्तिपीठ के लगभग डेढ कि०मी० की दूरी पर, समुद्र-तल

से 1500 फीट की ऊंचाई पर स्थित अष्टभुजा मन्दिर किसी समय तान्त्रिक साधना का केन्द्र रहा है। जालन्धर पीठ में यही ऐसा स्थान है, जहां शिव तथा शक्ति का संयुक्त निवास है। पौराणिक मान्यता है कि यहां भगवान शिव एवं शक्ति के साक्षात् दर्शन होते हैं। कुमारानन्दनाथ के शिष्य श्री प्रह्लादानन्द की सम्वत् 1921 में लिखित पाण्डुलिपि से इस मन्दिर की भौगोलिक स्थिति तथा महत्त्व का ज्ञान होता है। एक उल्लेख है—'आनन्द-कानने तत्र शमशाने मणिकर्णिका तीर्थमस्ति महात्पुण्य स्नानाद सर्वावाधानाशम'। आनन्द कानन में चर्चित मणिकर्ण पवित्र तीर्थ में स्नान से पापों के क्षय की बात कही गई है। इसी पाण्डुलिपि में उल्लेख है कि देवी के मन्दिर के चारों ओर दस शिवलिंग स्थापित है, देवी के पश्चिम छोर में 'बुधेश महादेव' विराजमान हैं, जो अत्यन्त पूजनीय हैं। तालाब की सरस्वती कुण्ड के नाम से चर्चा है। मन्दिर में पूजा की अपेक्षित व्यवस्था की ओर भी पाण्डुलिपि में संकेत है—शक्ति पूजा का अधिकारी ब्राह्मण है व शिव पूजा का अधिकारी साधु बुधेश। शायद मन्दिर की परम्परा में ऐसी ही व्यवस्था निर्देशित रही हो।

इस मन्दिर में स्थापित मूर्तियां नवीं शती की स्वीकार की जाती हैं, परन्तु मन्दिर का वास्तुशिल्प आधुनिक है। स्थान की प्राचीनता के दृष्टिगत यह अनुमान सहज है कि प्राचीन मन्दिर के ध्वंस के उपरान्त नव-निर्माण हुआ। मन्दिर के गर्भगृह में अष्टभुजी महालक्ष्मी-महाकाली तथा सूर्यदेव की मूर्तियाँ हैं। मन्दिर के सामने के सरस्वती कुण्ड में स्नान से चर्मरोग से मुक्ति मिलती है, ऐसी धारणा है। एक जनश्रुति के अनुसार महाभारत काल में पाण्डवों ने भी यहां कुछ समय निवास किया। मन्दिर में प्रातः एवं सायं आरती का विधान है। इस देवी के दर्शन हेतु साल-भर भक्त यहां आते रहते हैं। 'जालन्धर पुराण' में ब्रह्मा जी द्वारा भगवती की स्तुति का उल्लेख है। "इस जालन्धर पीठ में आराधना करने से जैसे मेरे मनोरथ पूर्ण हुए हैं, उसी प्रकार यहां पूजा करने वाले अन्य यात्रियों के मनोरथ भी आपकी कृपा से पूरे हों।"

बाला सुन्दरी मन्दिर

हिमाचल प्रदेश में जिला मुख्यालय नाहन से 25 कि॰मी॰ की दूरी पर स्थित त्रिलोकपुर गांव के महामाया बाला सुन्दरी मन्दिर में भगवती के मनमोहक बाल रूप की पूजा-अर्चना होती है। नाहन-चण्डीगढ़ मार्ग पर हरियाणा प्रदेश की सीमा से सटे हिमाचल के अंतिम गांव काला अम्ब से इस स्थान की दूरी आठ कि॰मी॰ है। भगवती के इस रूप के पूजन की निजी विलक्षणता है। देवी को चौरासी घंटियों

वाली देवी भी कहते हैं।

भगवती के इस धाम से अनेक जनश्रुतियां जुड़ी हुई हैं। भगवती का उत्तर प्रदेश के सहारनपुर से त्रिलोकपुर गांव में आगमन चार सौ वर्ष पूर्व बताया जाता है। ऐसा वृत्त है कि त्रिलोकपुर का एक वणिक रामदास सहारनपुर से नमक लाकर इस क्षेत्र में बेचा करता था। यह एक चमत्कार ही था कि महामाया बालासुन्दरी की मूल पिण्डी नमक के साथ बोरी में त्रिलोकपुर पहुंच गई। संयोगवश इस बार बेचने पर भी नमक समाप्त नहीं हो रहा था। रामदास ने इसे भगवान की कृपा ही माना। रामदास वणिक नित्यप्रति पीपल के वृक्ष के पास धूप-दीप कर पूजन किया करता था। एक दिन बाला सुन्दरी ने उसे स्वप्न में दर्शन देकर कहा कि मैं पीपल में विराजमान हूँ और तुम्हारी पूजा-अर्चना से प्रसन्न हूँ, तुम्हारी रक्षा करूंगी। एक दिन आंधी-तूफान से वृक्ष गिर गया और वृक्ष की जड़ से महामाया की पिण्डी मिली। पिण्डी को यहां प्रतिष्ठित तो कर दिया गया, परन्तु देवी की इच्छानुसार इस स्थल पर मन्दिर निर्माण, वणिक के लिए सहज नहीं था। देवी ने स्वप्न में सिरमौर नरेश दीप प्रकाश को मन्दिर निर्माण का आदेश दिया। नरेश ने अपने मन्त्री को त्रिलोकपुर भेज मन्दिर का निर्माण करवाया। सिरमौर नरेश का राज्यकाल 1570-1585 स्वीकार किया जाता है। मन्दिर निर्माण 1573 में पूर्ण हुआ और नरेश ने स्वयं पहुंचकर मन्दिर में देवी को चौरासी घंटियाँ भेंट की। सिरमौर राज्य की इस मन्दिर के प्रति निरंतर आस्था बनी रही। 1804-1815 के मध्य, जब यहां पर गोरखों का शासन था, तो गोरखा सरदार रणजोर सिंह भी यहां दर्शन को आया था।

इस मन्दिर से जुड़ी एक अन्य चमत्कारिक घटना है। स्थानीय निवासी श्री द्वारका प्रसाद की आठ वर्षीय कन्या मनोहरी देवी नित्यप्रति शाम को आरती के समय मन्दिर आया करती थी। एक दिन वह आरती से पूर्व ही मन्दिर में आई और वहां निद्रालीन हो गई। किसी का भी इस ओर ध्यान न गया। आरती के पश्चात् मन्दिर के कपाट बन्द कर दिए गए और सभी भक्त घर लौट गए। मनोहरी देवी जब घर न लौटी तो उसकी खोज की गई। वह कहीं नहीं मिली। रात को लगभग एक बजे उसे घर में ही बिस्तर पर लेटा पाया गया। उसे जगाकर पूछा गया तो लड़की ने बताया कि मैं अपनी ही आयु की एक कन्या बाला सुन्दरी के साथ मन्दिर में खेलती रही और उसी ने मुझे यहां पहुंचाया। इस घटना से लोगों के मन में भगवती के प्रति आस्था अधिक दृढ़ हो गई। मनोहरी देवी निरन्तर मन्दिर में जाती। विवाह योग्य हुई, तो देवी ने उसे दर्शन देकर सलाह दी कि वह विवाह न करे। माता-पिता ने बेटी की बलात् शादी कर दी, परन्तु दुर्भाग्य से विवाह के

तीसरे दिन ही मनोहरी विधवा हो गई। फिर उसने जीवन-पर्यन्त भगवती की भक्ति में समय व्यतीत किया। मन्दिर में प्रातः एवं सायं पूजा का दायित्व वैश्य वंश निभाता है।

गुम्बद शैली में निर्मित भगवती के इस मन्दिर के गर्भगृह में देवी की मूल पिण्डी के साथ संगमरमर की दो अन्य मूर्तियां भी स्थापित हैं, एक अष्टभुजा दुर्गा है तो दूसरी चतुर्भुजा। परिसर में देवी का वाहन भी पाषाण रूप में उपस्थित है। मन्दिर की प्राचीरों पर भगवती काली, भैरव, हनुमान की भव्य पत्थर की मूर्तियां हैं। मन्दिर का श्रृंगार संगमरमर से हुआ है। नवरात्रों में यहां श्रद्धालुओं की काफी भीड़ रहती है। शारदीय नवरात्रों में भीड़ अपेक्षाकृत कम होती है और स्थानीय अभिमत में इसे छोटा मेला कहा जाता है। बड़ा मेला वासन्ती नवरात्रों में लगता है। अब इन मेलों का, धार्मिक के साथ-साथ सांस्कृतिक एवं विकासात्मक महत्त्व भी, माना जाता है। मन्दिर की व्यवस्था न्यास के अधीन है।

इस मन्दिर की 20-25 कि०मी० की परिधि में धार्मिक गतिविधियाँ चर्चित हैं। यहां से छह कि०मी० की दूरी पर ललिता देवी मन्दिर है। इस मन्दिर के साथ भी कई चमत्कार जुड़े हैं।

टौणी देवी मन्दिर

हमीरपुर नगर से 18 कि०मी० की दूरी पर पहाड़ी पर स्थित टोणी देवी मन्दिर के साथ ऐतिहासिक एवं पौराणिक आख्यान जुड़े हैं तो मन्दिर सम्बन्धी किंवदंतियां भी कम नहीं। पहाड़ी बोली में टौणी का अर्थ है 'बहरी'। आज भी श्रद्धालु मन्दिर प्रवेश के समय भूमि पर पत्थर की ध्वनि करते हैं, ताकि टौणी (बहरी) देवी तक उनकी प्रार्थना पहुँच सके।

लगभग 600 वर्ष पूर्व जब दिल्ली में मुगल शासन स्थापित हो चुका था और हिन्दुओं पर अमानवीय अत्याचार कम नहीं हुए थे, तो पृथ्वी राज चौहान के वंश के बारह भाई अपनी सुरक्षा और राज्य स्थापित करने की कामना से पलायन कर बारीं में निवास करने लगे। उनकी अति सुन्दर बहन, जिसे सुनाई नहीं देता था, सरस्वती और गायत्री की उपासिका थी। एक बार सबसे बड़े भाई के पुत्र के जन्मदिवस पर, जब उसके मामा को भी आमन्त्रित किया गया, तो मामा हवन के लिए लकड़ियां इकट्ठा करने जंगल में चला गया। पैर फिसलने से उसकी मृत्यु हो गई। इसी दिन चम्वा चौकी के निकट, सत्ता प्राप्ति हेतु स्तम्भ स्थापित करने के कार्य को शुरू करने हेतु ठनकरे ब्राह्मण को बुलाया गया। जब वह नहीं आया तो

काशी से शिक्षा प्राप्त कर लौटे ब्राह्मण युवक से यह कार्य करवाया गया। स्तम्भ स्थापित होने पर वहां से दूध की धारा निकली। ठनकरे ब्राह्मण ने ईर्ष्यावश प्रचारित किया कि यह ठीक मुहूर्त न होने के कारण हुआ है। पुनः मुहूर्त निकलवाकर स्तम्भ की स्थापना हुई तो रक्त की धारा बहने लगी। इसका स्पष्टीकरण तो दिया गया, परन्तु यह सच्चाई सामने आ गई कि भाइयों को ठनकरे ब्राह्मण ने भ्रमित किया था। इस वंश के वहिष्कार का निर्णय लिया गया। चौहान परिवार में अशान्ति रहने लगी। मामा की मृत्यु का दोष टौणी बहन पर उसकी भाभियां नित्यप्रति लगाती रहती। दुःखी होकर एक दिन 'टौणी' ने पहाड़ से कूदकर आत्महत्या कर ली। भाई बहुत दुःखी थे। उन्होंने प्रायश्चित हेतु, बहन को कुलजा (कुलदेवी) के रूप में पूजने का निर्णय लिया।

इस प्रकार 'टौणी देवी' की मूर्ति स्थापित हो गई। सन् 1905 में एक सन्यासी ने यहां मन्दिर निर्माण का संकल्प लिया। निर्माण कार्य शुरू हुआ। सन्यासी टौणी देवी की शिला के प्रतिरूप में भगवती दुर्गा की मूर्ति लेने जयपुर गया, परन्तु वापस नहीं लौटा। 1905 के भूकम्प से मन्दिर का अर्ध-निर्मित भाग भी नष्ट हो गया। 1906-07 में टपरी गांव के एक सूबेदार ने जोहडू के निरंग मिस्त्री के सहयोग से सामार्थ्यानुसार मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाया। 1989 में मन्दिर के गर्भगृह में जयपुर से आयात अष्टभुजा भगवती दुर्गा की प्रतिमा स्थापित हुई, जिसकी 'टौणी देवी' के पर्याय रूप में पूजा-अर्चना होने लगी।

इस स्थान का सम्बन्ध पाण्डवों से भी बताया जाता है। कहते हैं कि जब पाण्डव अज्ञातवास में थे तो उन्होंने इस क्षेत्र में जल उपलब्ध कराने तथा घराट (पनचक्की) स्थापित करने का संकल्प लिया। यह कार्य भीम को सौंपा गया। जब यह कार्य पूर्ण होने ही वाला था तो गांव की एक वृद्धा द्वारा धान कूटने की घटना घटी। यह अपशकुन माना गया और योजना अधूरी रह गई। पाण्डव परिवार गसोता चला गया, जहां उस समय निर्मित बाबड़ी आज भी है। पनचक्की हेतु एकत्रित सामग्री आज भी उसी स्थान पर विद्यमान कही जाती है। यह सामग्री इस स्थान पर उपलब्ध पत्थरों से अलग ही प्रकार की है। कटोचवंशी नरेश संसारचंद ने इस मन्दिर के समीप महल मोरियां में एक दुर्ग का निर्माण करवाया। वह भगवती की बन्दना करने यहां आया करता था।

कचेड़ी माई मन्दिर

शिमला से 78 कि०मी० दूर इंडो-तिब्बत राष्ट्रीय मार्ग पर स्थित है 'ओड़ी'।

ओड़ी से लगभग आधा फर्लांग पर एक प्राकृतिक शक्तिपीठ है जिसे कचेड़ी वाली माई या 'माहमाई' के नाम से जाना जाता है। यहां काली माता का मन्दिर है तो भगवान् शिव की पिंडी भी स्थापित है। मन्दिर के निकट श्मशान होने के कारण मां को 'श्मशानवासिनी' के नाम से भी पुकारा जाता है।

अन्य देवस्थलों की भान्ति इस मन्दिर के साथ भी अनेक दन्तकथाएं जुड़ी हुई हैं। ऐसा कहा जाता है कि एक बार कोटेश्वर महादेव को ओवड़ु-शोवड़ नामक विद्वान सतलुज नदी में फैंकने के लिए बन्दी बनाकर ला रहे थे। अपने भाई महादेव को तीन बहनों ने, जिनमें कचेड़ी माई भी सम्मिलित थी, उस स्थान पर इन तान्त्रिकों के चंगुल से मुक्त किया, जहां आज कचेड़ी मन्दिर स्थित है। इस घटना के बाद तीनों देवियाँ अन्तर्धान हो गईं।

इस मन्दिर में प्रत्येक चार वर्ष के अनन्तर 'रत्न-पूजा' नामक विशेष आयोजन होता है, जिसमें स्थानीय देवता भी सम्मिलित होते हैं। इन देवताओं में कुमारसेन के कोटेश्वर महादेव, खेखसू की कसुम्बा भवानी तथा ढोलासेरी के मरीछ देव उल्लेखनीय हैं। यह पूजा कुमारसेन में चार वर्षीय मेले के बाद होती हैं। इस पूजा में काली मां से सुख-समृद्धि तथा अनिष्ठ निवारण की प्रार्थना की जाती है।

मन्दिर की सम्पत्ति में 120 बीघे का बीहड़ तथा 30 बीघे का सेब उद्यान है। व्यवस्था स्थानीय कमेटी के हाथ है। बीहड़ से लकड़ी का काटना अपशकुन माना जाता है। पर्यावरण सन्तुलन तथा प्राकृतिक शान्त वातावरण के कारण उस देवस्थान का निजी महत्त्व है।

कामाक्षा महामाया मन्दिर

करसोग मार्ग में सुन्दर नगर से 16 कि०मी० तथा मंडी से 41 कि०मी० की दूरी पर जैदेवी का कामाक्षा महामाया मन्दिर अवस्थित है। इस ऐतिहासिक मन्दिर में कलकत्ता की मां काली का स्वरूप ही विराजमान है, जिसकी पूजा श्रद्धालु कुलजा भगवती के नाम से करते हैं। श्रद्धालुओं का विश्वास है कि भगवती के दर्शन से सभी पापों का क्षय हो जाता है और मनोकामनाएं पूर्ण हो जाती हैं। मां के दर्शन हेतु स्थानीय ही नहीं, दूर-दराज क्षेत्रों से भी भक्त पधारते हैं।

ऐसा कथन है कि लगभग दो सौ वर्ष पूर्व महाराजा बाहूसेन एवं साहूसेन के कार्यकाल में इस मन्दिर की स्थापना हुई थी। कामाक्षा महामाया सुकेत के शासक की कुलदेवी थी। एक वृत्त के अनुसार पांगणा (सुकेत रियासत की राजधानी) से माता का दरबार एक धार्मिक आयोजन हेतु सुन्दर नगर लाया जा रहा था, रात्रि

पड़ाव जैदेवी ग्राम था। रात्रि जागरण के दौरान भगवती ने, अलौकिक ध्वनि कर, भक्तों को निर्देश दिया कि इसी स्थल पर मेरे मन्दिर की स्थापना हो। इसी के अनुसार यहां मन्दिर स्थापित हुआ। सुन्दर नगर के पूर्व नरेश लक्ष्मण सेन के समय मन्दिर की प्रतिष्ठा चरम पर थी। मन्दिर का दो बार 1964 तथा 1970 में जीर्णोद्धार किया गया। शतचण्डी महायज्ञ सहित चार महायज्ञों का यहां आयोजन ऐतिहासिक माना जाता है। इस मन्दिर के नैसर्गिक सौन्दर्य के दृष्टिगत, आवास आदि की समुचित व्यवस्था द्वारा इस धार्मिक स्थल का विकास पर्यटन केन्द्र के रूप में भी हो सकता है।

मां श्यामला धाम

हिमाचल की राजधानी शिमला का पूर्व नाम 'श्यामला' था। इस नाम से नगर तो 1815 ई० के अनन्तर अस्तित्व में आया। प्रचलित मत है कि यहां काली मां की 'श्यामला' के रूप में पूजा-अर्चना की जाती थी। देवी के प्राचीन मन्दिर का अस्तित्व कहीं भी नहीं है, तथापित देवी की ऐतिहासिक पाषाण प्रतिमा नगर के प्रख्यात 'काली बाड़ी' मन्दिर में विद्यमान है। शिमला के विश्वविदित रिज मैदान के पश्चिम की ओर 'श्यामला' गांव की स्थिति बताई जाती है। यहां कभी एक पहाड़ी थी। इस पहाड़ी पर एक महात्मा धूनी जलाकर 'श्यामला' नाम से काली मां की नित्यप्रति पूजा-अर्चना करते थे। एक अंग्रेज अधिकारी को भवन निर्माण हित यह स्थान अत्यन्त रुचिकर लगा। साधु स्थान छोड़ने को तत्पर न था, उसे कारावास में डलवा दिया गया। अधिकारी ने देवी की मूर्ति को नाले में फिंकवाने की दृष्टता की। उसी रात अधिकारी को भयंकर स्वप्न आया और परिणामस्वरूप देवी प्रतिमा की खोज शुरू हुई। जिस कर्मचारी ने मूर्ति को फेंका था, उसका शव नाले में मिला। यहीं पर मूर्ति भी विराजमान थी और उसकी पुनः विधिवत प्राणप्रतिष्ठा हुई।

पहले यह मन्दिर काष्ठ कला का अद्भुत नमूना था। सन् 1900 में शिमला निवासी बंगालियों ने जयपुर से भगवती काली की विशाल प्रतिमा लाकर यहां स्थापित कर दी। मन्दिर का नामकरण भी 'काली बाड़ी' (काली मां का निवास) हो गया। आज यह भव्य मन्दिर परिसर धार्मिक स्थल के साथ-साथ सामाजिक स्थल भी बन गया है। यद्यपि प्रतिदिन ही यहां श्रद्धालुओं का जमघट होता है, परन्तु मंगलवार और रविवार को भक्तजन बहुत बड़ी संख्या में मां भगवती के दर्शन को आते हैं। मन्दिर के प्रांगण की यह विशिष्टता है कि यहां से सारे नगर

की झलक मिल जाती है।

माता भंगायणी मन्दिर

सिरमौर जिला के अन्तर्गत हरिपुरधार से दो कि०मी० की दूरी पर अवस्थित माता भंगायणी मन्दिर क्षेत्र के लोगों का प्रसिद्ध धार्मिक स्थल तो है ही, अन्य भागों के लोगों का भी आकर्षण केन्द्र है। नवरात्रों में तो, अन्य देवी के स्थानों की भान्ति, यहां अपार भीड़ जुटती ही है, वैशाखी का मेला भी विशेष होता है।

इस मन्दिर की स्थापना को लेकर भी एक दिलचस्प वृत्त सम्मुख आता है। वृत्त के अनुसार हरिपुरधार क्षेत्र के एक देव पुरुष शिरागुल महाराज क्षेत्र से बाहर जा रहे थे तो उन्होंने एक स्थानीय वणिक को चेताया कि वह उनकी अनुपस्थिति में भोले-भाले देहातियों से ईमानदारीपूर्वक व्यापार करे। पीछे से दुकानदार के मन में लोभ जाग उठा और उसने सभी को कम तोलकर सामान दिया। लौटने पर यह समाचार पाकर शिरागुल महाराज क्रुद्ध हुए और उन्होंने बनिये को पाठ पढ़ाने हेतु कुछ सामान की मांग की। उसने सारा सामान तराजू के एक पलड़े में रखा, तो भी बाट वाला पलड़ा भारी था। वणिक ने मुगल बादशाह से शिकायत कर दी कि पहाड़ में कोई चमत्कारी व्यक्ति आया है जो उसके व्यवसाय को नष्ट करना चाहता है। बादशाह के आदेश से जब सैनिक यहां आए तो उन्हें भी शिरागुल महाराज के चमत्कारों से परेशानी हुई। उन्होंने किसी व्यक्ति के सुझाव पर महाराज पर गाय के खून के छींटे मार दिए, जिससे महाराज की शक्ति का क्षय हो गया। महाराज को कारागार में डाल दिया गया! किसी एक को भी उनसे भेंट की मनाही थी।

कारागार में एक दिन उड़ता हुआ एक कौआ पहुंचा, जिसके हाथ शिरागुल महाराज ने बागड़ के गूगा महाराज को एक पत्र प्रेषित किया। इसमें अपनी व्यथा लिखी थी। गूगा जी दिल्ली पहुंचे। शिरागुल महाराज की कोठरी का ज्ञान न था। गूगा जी ने कारागाह में झाडू लगा रही एक महिला को धर्म बहन कहकर उससे सहायता मांगी। बादशाह का डर था तो भी उसने कोठड़ी की ओर संकेत कर दिया। शिरागुल जी को मुक्ति मिली और मुगल सैनिक गूगा जी से परास्त हुए। गूगा जी ने शिरागुल को सलाह दी कि वह 68 तीर्थों में स्नान करें, जिससे उन्हें खोई हुई शक्ति पुनः प्राप्त होगी।

गूगा जी, शिरागुल महाराज तथा गूगा जी की धर्म बहन चूड़धार क्षेत्र में आ गए। शिरागुल महाराज वहीं स्थापित हुए और साथ आई युवती को हरिपुरधार के

सामने चोटी पर भेज दिया। वहीं वह पिण्डी रूप में स्थापित हो गई और उसी पर मन्दिर निर्मित हुआ। क्षेत्र में लोगों की माता भंगायणी में अपार श्रद्धा है और वे हर छोटे-बड़े कार्य में देवी की सहायता की याचना करते हैं। उनकी श्रद्धा का प्रतिफल है मन्दिर का जीर्णोद्धार।

हाटेश्वरी देवी मन्दिर

शिमला रोहड़ू सड़क मार्ग पर शिमला से लगभग एक सौ कि०मी० दूरी पर खड़ा पत्थर दर्रे के पार स्थित है गांव, जिसका प्राचीन नाम है हाट! ग्रामीण अंचल का यह स्थल भी अनुपम है—सेब से लहलहाते उद्यान हैं, तो आसपास पर्वतीय शैली के मकान—पब्बर उपत्यका एक-एक छोर! हाट गांव में एक ओर मन्दिर समूह है—हाटकोटी माता, हाटेश्वरी या हाट कोटेश्वरी—भक्तजनों को जो भी नाम प्रिय लगे—हाट गांव से सम्बन्धित हैं ये नाम।

यह मन्दिर समूह वास्तुकला की दृष्टि से अद्भुत है। एक विशिष्टता यह भी है कि हाट गांव, जहां मन्दिर समूह अवस्थित है, समतल है, जबकि शिमला जनपद का क्षेत्र ढलानदार है। विद्वान् कलापारखी एकमत नहीं है कि मन्दिर निर्माण कब हुआ। यह मन्दिर पहाड़ी शैली के मन्दिरों से भिन्न है। शिखर नागरी शैली के इस निर्माण के दृष्टिगत निर्माण काल सातवीं-आठवीं शती गुप्त काल माना जाता है। चौदह सौ मीटर की ऊंचाई पर स्थित यह मन्दिर काष्ठकला के कारण समूचे विश्व में प्रसिद्ध है।

मन्दिर समूह का मुख्य मन्दिर महिषासुरमर्दिनी का है। महिषासुरमर्दिनी ही काली या सिंहवाहिनी दुर्गा है। मन्दिर की धातुप्रतिमा में अश्वारोही देवी को महिषासुर वध करते दिखाया गया है। मन्दिर को नवस्वरूप जुब्बल नरेश पद्मचन्द ने 1885 में दिया। मन्दिर की छत नीचे से ऊपर की ओर छोटी होती गई है। चौकोर स्लेटों से आवृत्त छत के ऊपर कलश स्थापित है। मन्दिर विशाल पत्थर को काटकर बनाया गया है और इस पर विद्यमान नक्काशी अपना उपमान आप है। मुख्य मन्दिर के दक्षिण में अर्द्धनारीश्वर विराजमान हैं, भीतर एक विशाल शिवलिंग स्थापित है। शिवलिंग के दोनों ओर गणेश और लक्ष्मी की प्रतिमाएं हैं। दोनों मन्दिरों के मध्य में दो छोटे मन्दिर हैं जिनमें भग्न प्रतिमाएं दिखती हैं—शायद किसी आक्रमण से यह दशा हुई हो! अर्द्धनारीश्वर मन्दिर के पीछे इसी शैली के चार लघु देवालय हैं। मन्दिर को भव्यता प्रदान करने हेतु चारों ओर प्राचीर निर्मित है, तो मन्दिर में स्लेटों की परत बिछी है। मन्दिर समूह भक्तजनों की श्रद्धा का

केन्द्र है ही, पर्यटक भी इसकी भव्यता के दर्शन की ललक रखते हैं। मन्दिर के सम्बन्ध में ब्राह्मण कन्याओं, गोरखों आदि के वृत्त प्रचलित हैं।

मां शिकारी देवी का छतविहीन मन्दिर

शिकारी, जिसे संस्कृतनिष्ठ भाषा में शिकावरी कहा जाता है, मंडी जिला की चच्चोट तहसील के जंजैहली क्षेत्र में समुद्र-तल से ग्यारह हजार फीट की ऊंचाई पर स्थित है। यह पावन धार्मिक स्थल घने वनों तथा देवदार एवं अन्य सदाबहार वृक्षों के मध्य स्थित है। एकान्त तथा स्वतन्त्र वातावरण के कारण यहां तान्त्रिक साधना पद्धति को अधिक प्रश्रय मिला है। इस स्थान तक पहुंचने के लिए चच्चोट करसोग तथा थुनाग तहसीलों से अनेक मार्ग हैं। निकटतम मार्ग जंजैहली घाटी से है। मार्ग कोई भी क्यों न अपनाया जाए, पैदल तो चलना ही पड़ता है। जंजैहली में कटारू से बूढ़ा केदार होकर 15 कि०मी० की सीधी चढ़ाई है। एक अविस्मरणीय प्राकृतिक सुषमायुक्त मार्ग है, जो कमरूनाग होकर जाता है। प्रकृति का अपार वैभव देख व्यक्ति रोमांचित हो जाता है, परन्तु प्रथम बार इस क्षेत्र की यात्रा करने वाले को अपने संग कोई जानकार व्यक्ति रखना आवश्यक है।

शिकारी देवी मन्दिर के मुख्य द्वार पर देवी का नाम अंकित है—'शिकारी जोगनी माता'। इस नामकरण में प्रथम संकेत शिकारी पर्वतमाला का है। यही देवी का निवास-स्थान है। दूसरा संकेत यह है कि देवी 'जोगनी' है और देवी का स्थान 64 योगिनियों में विशिष्ट है। तीसरा इंगत महत्त्वपूर्ण है कि यहां 'मातृसत्तात्मक पारिवारिक व्यवस्था' विद्यमान थी। अन्य देवस्थानों की भान्ति इस मन्दिर से भी अनेक जनश्रुतियां जुड़ी हुई हैं। इन सबमें से एक सर्वसम्मति अवश्य उभरकर सामने आती है कि मन्दिर की प्रतिष्ठा पाण्डवों ने की थी।

वृत्त इस प्रकार है कि पाण्डव जब अपने वनवास काल में इस स्थान पर पहुँचे तो उन्हें एक दिन एक अत्यन्त सुन्दर हिरण दिखाई दिया। धनुर्धर अर्जुन ने अपने धनुष पर बाण संधान करके हिरण का पीछा किया, परन्तु हिरण हाथ न लगा और वह एक पर्वत शिखर पर जाकर लुप्त हो गया। वापस लौटकर अर्जुन ने भाइयों को सारी घटना सुनाई तो युधिष्ठिर ने कहा कि यह हिरण अवश्य ही कोई दैवी-रूप होगा। अगली रात को आकाशवाणी हुई, जिसमें पुरानी घटना का स्मरण करवाया गया कि किस प्रकार द्यूत-क्रीड़ा से पूर्व एक महिला के माध्यम से उन्हें चेताया गया था, परन्तु पाण्डवों ने उसे अनसुना कर दिया। युधिष्ठिर ने अपनी भूल के लिए क्षमा-याचना करते हुए भविष्य के लिए मार्गदर्शन मांगा। देवी ने कहा

कि जिस स्थान पर आप विश्रामरत हैं, उसके नीचे मैं नवदुर्गा रूप में विद्यमान हूँ। तुम मेरी यहां प्रतिष्ठा करो। खुदाई करने पर पाण्डवों को नव दुर्गा की एक भव्य मूर्ति मिली, जिसे यहां प्रतिष्ठित कर दिया गया। शिकार गाथा से सम्बन्धित होने के कारण 'शिकारी देवी' नाम का औचित्य सिद्ध किया जाता है। इस तर्क में शंका अवश्य होती है कि पहले 'मृगया' शब्द का प्रयोग होता था, शिकार शब्द तो बहुत बाद में आया। इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि यह देवी इस क्षेत्र में सर्वाधिक पूजित है।

यह मन्दिर क्या है, देवताओं की एक बस्ती है। भारत वर्ष में यह एकमात्र ऐसा मन्दिर है, जिसके ऊपर कोई छत नहीं। छत है तो विस्तृत नीला आकाश! सबसे ऊंची पहाड़ी चोटी पर अवस्थित होने के कारण शायद भगवती को छत पसन्द न हो! मन्दिर पर छत डालने के प्रयास हुए। मन्दिर के नव-निर्माण के समय भी ऐसी योजना बनी थी, परन्तु मां ने इसके विरुद्ध चेतावनी दी थी। निश्चित ऊंचाई के बाद चिनाई का प्रयास होता तो वह गिर जाती। मां के निर्देश की अवज्ञा क्यों और कैसे? नव-निर्माण होने पर भी प्राचीन लघु मन्दिर के स्वरूप को पूर्ववत् रखा गया है। मन्दिर का प्रांगण स्लेट के पत्थरों से सुसज्जित है और मन्दिर के चारों ओर पत्थरों की दीवार है। मन्दिर के गर्भगृह में शिकारी जोगनी मां विराजती है। इस मुख्य प्रतिमा की बायीं ओर परशुराम, शिव तथा नवदुर्गाओं की प्रस्तर प्रतिमाएं हैं तो दायीं ओर भद्रकाली की प्रस्तर मूर्ति। मन्दिर के प्रांगण में चालीस देवी-देवताओं की कलात्मक मूर्तियां हैं, जिनमें शिवलिंग, शेषनाग, काल भैरव, शिव के कुछ गण, देवचनेला, हनुमान, कमरूनाग आदि उल्लेखनीय हैं। ये सब भगवती के सभासद प्रतीत होते हैं। यह स्थल आने वाले लोगों को आध्यात्मिक संतोष-शान्ति ही नहीं देता, प्रकृति के दुर्लभ सौन्दर्य के साक्षात्कार का अवसर भी प्रदान करता है। मन्दिर के मार्ग और आसपास की पर्वत शृंखलाओं में उपलब्ध बहुमूल्य दुर्लभ जड़ी-बूटियां चिकित्सा के भी नए आयाम स्थापित कर सकती हैं। प्रदेश सरकार इस स्थल को पर्यटन की दृष्टि से भी विकसित कर रही है।

हिडिंबा देवी मन्दिर

भारतीय पुरातत्व एवं सर्वेक्षण विभाग द्वारा समूचे देश में पुरातात्विक महत्त्व के अनेक ऐतिहासिक भवनों स्मारकों एवं धर्मस्थलों को अपने अधिकार क्षेत्र में रखा गया, ताकि सांस्कृतिक विरासत की सम्भाल हो और इन भवनों का मूलरूप एवं सौन्दर्य क्षतिग्रस्त न हो। जिला कुल्लू में इसी सन्दर्भ में जिन पांच मन्दिरों का

चयन हुआ है उनमें हिडिंबा देवी का ऐतिहासिक मन्दिर भी है।

इस मन्दिर का सम्बन्ध महाभारत काल से स्थापित किया जाता है। लाक्षागृह की घटना के उपरान्त पाण्डव कुछ समय अदृश्य रहे और पांचाली–स्वयंवर के उपरान्त उन्हें खाण्डव वन को इन्द्रप्रस्थ का रूप देने का सुअवसर मिला। शकुनि के साथ द्यूतक्रीड़ा में वे अपना राज-पाट गंवा बैठे और उन्हें वनवास भोगना पड़ा। इस दौरान वे उस क्षेत्र में पहुंचे, जहां नरभक्षी हिडिंब राक्षस का आतंक था। उसके साथ उसकी बहन हिडिंबा भी रहती थी। दैवयोग से वह पाण्डव पुत्र भीम के शौर्य पर मोहित हो गई और उससे विवाह रचा लिया। विरोध में हिडिंब राक्षस मारा गया। इसी हिडिंवा का पुत्र घटोत्कच था जिसने महाभारत युद्ध में कौरव सेना का बुरी तरह से विध्वंस किया और कर्ण को, अर्जुन पर प्रहार के लिए सुरक्षित, शक्ति का प्रयोग घटोत्कच पर करना पड़ा। भीम ने हिडिंबा से वचन लिया कि वह उसकी पत्नी के रूप में एक देवी बनकर रहेगी। हिडिंबा ने भीम की बात स्वीकार कर देवी अनुरूप आचरण अपना लिया। इसी रूप में हिडिंवा की पूजा होने लगी। वह कुल्लू के शासकों की कुलदेवी बनी। ऐसा स्वीकार किया जाता है विहिंगमणिपाल को इसी देवी की कृपा से कुल्लू का शासन मिला।

हिडिंबा देवी का मन्दिर मनाली बाजार से लगभग तीन कि०मी० ऊपर एक छोटी-सी पहाड़ी पर स्थित है। इसके चारों ओर देवदार के वृक्षों ने सुन्दर दृश्य प्रस्तुत किया है। पैगोडा शैली के इस मन्दिर का रूप छतरीनुमा है। मन्दिर की शैली को रेखांकित करते हुए श्री एस०आर० हरनोट ने लिखा है–"मन्दिर चार छतरीनुमा आकार में निर्मित है। शिखर तक पहुंचते लकड़ी से निर्मित यह गोलाकार छतरियां नुकीली हो जाती हैं अर्थात् ढलवां छत जो मन्दिर को छतरी की तरह बनाती हैं, इसका सौन्दर्य देखते ही बनता है। मन्दिर के पहले खण्ड की ढलवां छत काफी बड़ी है, जिसके नीचे गर्भगृह निर्मित है और उसकी प्रदक्षिणा की जा सकती है। दूसरी ढलवां छत मन्दिर का दूसरा खण्ड बनाती है, जिसके चारों ओर बालकनी है। तीसरे खण्ड का ढांचा भी इसी प्रकार का है। चौथा खण्ड लघु हो गया है जिस पर व्रास का कलश और त्रिशूल भी शोभायमान है।" मन्दिर का मुख्य द्वार पूर्व दिशा में है और इसके तोरण काष्ठकला के सुन्दरतम उदाहरण हैं, तो लकड़ी पर की गई नक्काशी भी अपना उपमान आप है। प्रवेश द्वार पर विशिष्ट भाव-भंगिमा लिए हुए नवग्रह उत्कीर्त है। स्थापत्य की दृष्टि से भी इस मन्दिर की निजी भूमिका है। आधुनिकीकरण तथा श्रद्धालुओं को सुविधाएं उपलब्ध करवाने के नाम पर मन्दिर में जो नव-निर्माण हुए हैं, वे निश्चित रूप से

ऐतिहासिक विरासत को विकृत करने के प्रयास माने जाएंगे।

मन्दिर के प्रवेश द्वार के तोरण पर विद्यमान टांकरी लिपि के अभिलेख में मन्दिर का निर्माण काल 1553 ई० अंकित है। मन्दिर के निर्माता श्रीसिद्ध सिंह के सुपुत्र राजा बहादुर सिंह स्वीकार किए जाते हैं, जिनका शासनकाल 1546-1569 ई० था। माता हिडिंबा के मोहरे पर भी यही अंकित है और यह मोहरा राजा उद्धरणपाल के शासनकाल—सन् 1418 का है। कुल्लू-मनाली का पर्यटन की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। यदि पर्यटकों की रुचि के दृष्टिगत इस स्थल का विकास हो तो राजस्व में वृद्धि तो होगी ही, आध्यात्मिकता को भी नए आयाम मिलेंगे।

भाटिणी देवी मन्दिर

भाटिणी देवी का प्राचीन ऐतिहासिक मन्दिर जिला सिरमौर के ग्राम बन्नों में स्थित है। स्थानीय लोग इस देवी को अपनी कुलदेवी के रूप में पूजते हैं। प्रत्येक मास की संक्रान्ति को भक्तजन शुद्ध घी का हलवा देवी को अर्पित करते हैं। बाद में यह प्रसाद के रूप में सारे गांव में वितरित किया जाता है। दशहरा एवं दीवाली को इस मन्दिर में पूजा की विशेष व्यवस्था रहती है। स्थानीय लोगों ने ही मन्दिर का जीर्णोद्धार किया था। अब मन्दिर परिसर छोटा पड़ रहा है और यहां विस्तार अपेक्षित है।

पहाड़ी शैली का भीमाकाली मन्दिर

हिमाचल प्रदेश के अधिकांश मन्दिरों में अपनायी गई पैगोड़ा तथा सतलुज शैली (ढालवां छत) का जीवंत उदाहरण है सराहन का भीमकाली मन्दिर। यह प्रसिद्ध मन्दिर शिमला से 229 कि०मी० तथा रामपुर बुशहर से 42 कि०मी० दूर सराहन घाटी में समुद्र-तल से 2154 मीटर की ऊंचाई पर स्थित है। सराहन घाटी नागर शैली एवं पहाड़ी शैली में निर्मित मन्दिरों, लोकसंगीत तथा लोक-नृत्यों के कारण भी समूचे प्रदेश में अपूर्व मानी जाती है। काष्ठकला, मूर्तिकला एवं स्थापत्य कला की दृष्टि से यह घाटी न केवल श्रद्धालु भक्तों को ही आकर्षित करती है, कलाप्रेमी, इतिहास-संस्कृति के शोधकर्ता तथा पर्यटक भी यहां खिंचे चले आते हैं। प्रकृति ने भी तो दिल खोलकर अपना खजाना यहां लुटाया है। प्रकृति प्रेमियों का तो मानो यह स्वर्ग ही हो।

सराहन के भीमकाली मन्दिर से सम्बन्धित अनेक जन-श्रुतियां प्रचलित हैं। मार्कण्डेय पुराण तथा दुर्गा सप्तशती में वर्णन है कि महिषासुर, चण्ड-मुण्ड,

रक्तवीज, शुम्भ-निशुम्भ आदि राक्षसों के आतंक से त्रस्त होकर देवगण भगवान् विष्णु की शरण में पहुँचे। समस्त वृत्त को सुनकर श्रीहरि अत्यन्त आहत और क्रुद्ध हुए। उनके मुख से निकला तेज बाहर टकराया तो आग की ऊंची-ऊंची लपटें निकलीं। इन्हीं लपटों से आदि-शक्ति रुपिणी 12-13 वर्षीय कन्या प्रकट हुई। सभी देवताओं ने देवी को अनेक उपहार भेंट किए। हिमाचल के नरेश हेमकुंट द्वारा भेंट किए गए सफेद रंग के शेर की भी चर्चा की जाती है। राक्षसों के नाश हेतु देवी को विशाल रूप धारण करना पड़ा और वह 'भीमकाली' कहलाई। दुर्गा सप्तशती में भी भगवती का कथन है—

पुनश्चाहं यदा भीमं रूपं कृत्वा हिमाचले।
रक्षांसि भक्षयिष्यामि मुनीनां त्राणकारणात्।।
तदा मां मुनयः सर्वे स्तोष्यन्त्यानम्रमूर्तयः।
भीमा देवीति विख्यातं तन्मे नाम भविष्यति।।

एक अन्य जनश्रुति के अनुसार सदियों पहले यहां शिव तथा कुट नामक दो दानव निवास करते थे। इन शिवभक्त दानवों ने भगवान् शिव की इतनी कठोर तपस्या की कि उन्हें प्रकट होकर वरदान देना पड़ा। दानवों ने वरदान मांगा था कि उनकी मृत्यु उस स्थान पर हो, जहां जल उपलब्ध न हो, आसपास तो पानी ही पानी था। वरदान प्राप्त कर, अपनी अमरता से आश्वस्त, इन दानवों ने लोगों को पीड़ित करना शुरू कर दिया। इन दानवों के त्रास को समाप्त करने हेतु स्थानीय देवता जाख ने शिव उपासना की और भगवान ने जाख की प्रार्थना पर शिव तथा कुट का अपने घुटनों पर रखकर अन्त कर दिया। जाख को एक ऐसी कन्या के जन्म का वरदान भी मिला, जो लोगों की आपदाओं-विपदाओं में रक्षा करेगी। वर के फलस्वरूप जाख को पुत्री रत्न की प्राप्ति हुई, जिसका नामकरण हुआ भीमा! कालान्तर में भीमा में मां काली के गुणों का अवतरण हुआ और उसे भीमा काली के रूप में मान्यता मिली। स्थानीय लोग भीमा काली को मां काली का रूप ही मानते हैं।

देवी के आर्विभाव को यदि सती दाह प्रसंग से जोड़ा जाए, तो मान्यता यह है कि सती का कान शोणितपुर (वर्तमान सराहन) में गिरा था, जिससे भीमकाली का प्राकाट्य हुआ। यहां देवी ने 'भीम' रूप धारण कर राक्षसों का संहार किया था।

बुशहर रियासत से सम्बन्धित एक दस्तावेज में उल्लेख है कि इस स्थान पर

द्वापर युग में भीमगिरि नामक ब्राह्मण ने काफी समय तक तपस्या की थी। वह अपने पास हर समय एक लाठी रखता था, जिससे उसने अपनी आराध्या भीमकाली की स्थापना की। तपस्या उपरान्त जब वह चलने को उद्यत हुआ, तो उसने लाठी को उठाया। वह इतनी भारी हो गई थी कि उठ नहीं पाई। तपस्वी को भान हो गया कि मां यहीं स्थायी निवास चाहती हैं। स्थानीय नरेश को इस सम्बन्ध में प्रार्थना की गई तो माता भीमाकाली की यहां विधि-विधान से प्रतिष्ठा की गई। भगवती भीमाकाली ही बुशहर राजवंश की कुलदेवी बनी। तपस्वी ब्राह्मण की गुफ़ा मन्दिर से आधा कि०मी० पर 'डुआर' में बताई जाती है।

प्राचीन काल में सराहन का 'नाम' शोणितपुर था और यह सहस्र भुजाधारी पराक्रमी वाणासुर की राजधानी थी। देवी पार्वती की कृपा से वाणासुर की सुपुत्री उषा ने स्वप्न में श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध को देखा। अनिरुद्ध को सोते हुए मायाजाल से उषा की सहेली चित्रलेखा शोणितपुर ले आई। श्रीकृष्ण के साथ युद्ध में वाणासुर की चार को छोड़ सभी भुजाएं कट गईं। भगवान शिव का यही वरदान था। परस्पर सहमति से यहां अनिरुद्ध राजा बने। बुशहर में इसी वंश की राज्य परम्परा चलती रही। बाद में 'कामरू' से शासन चलता रहा। राजा छत्रसिंह के समय राजधानी कामरू से सराहन स्थानांतरित हुई। बाद में यह सम्मान रामपुर को मिला।

मन्दिर परिसर में भीमाकाली के दो मन्दिर हैं—प्राचीन मन्दिर कुछ टेढ़ा हो गया था, शायद इसी कारण नया मन्दिर उसी पहाड़ी शैली में निर्मित हुआ। मां भीमाकाली की वर्तमान में पूजित अष्टधातु मूर्ति 150-200 वर्ष पहले स्थापित मानी जाती हैं। एक कथन यह भी है कि स्थानीय शिल्पकारों ने 'गमसोट' गुफा में इस मूर्ति का निर्माण किया। लगभग एक मीटर ऊंची अष्टभुजा मूर्ति मन्दिर की सबसे ऊपर वाली मंजिल में स्थापित है। इस भव्य मूर्ति के आसपास अनेक छोटी-बड़ी प्रतिमाएं हैं, जिनमें चामुण्डा, अन्नपूर्णा, ब्रजेश्वरी, गणेश, शिव-पार्वती तथा महात्मा बुद्ध के स्वरूप प्रमुख हैं! देवी के आसन की सज्जा अनुपम है। तीसरी मंजिल पर विराजमान भगवती महाकाली के कपाट केवल पूजा के समय ही खोले जाते हैं और पूजा के तत्काल बाद बन्द कर दिए जाते हैं। शायद इसका कारण बहुमूल्य मूर्तियों की सुरक्षा हो। मन्दिर के द्वारों पर चांदी का अनुपम शिल्प है। यह हिमाचल की कला का प्रतीक है।

मन्दिर की नक्काशी बेमिसाल है। मन्दिर परिसर के पूर्वी छोर पर एक संग्रहालय स्थापित है, जिसमें सहस्रों वर्ष पुरानी वस्तुएं, पुरातन वाद्ययन्त्र, पूजा

पात्र, घंटे, युद्ध सामग्री—कवच, ढाले, तलवारें रखी गई हैं। पुरानी काष्ठकला को दर्शाती कृतियां भी यहां हैं। मन्दिर प्रांगण में 'शिरा-खण्ड' नामक सेवों का उद्यान भी है।

यह क्षेत्र पर्यटन की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है—नारकंडा तथा रामपुर प्रमुख आकर्षण है। मन्दिर के समीप ही दर्शनीय हिन्दू मन्दिर तथा बौद्ध मठ है। रामपुर 'लवी मेला' के कारण विख्यात हे। रामपुर से 25 कि०मी० की दूरी पर स्थित ज्योरी पुरातन हिन्दुस्तान-तिब्बत व्यापार मार्ग का मुख्य द्वार है। पर्यटन की अभिवृद्धि एक सुखद प्रयास है, परन्तु मन्दिर परिसर में 'आवासीय व्यवस्था' के निर्माण हेतु सांस्कृतिक विरासत से छेड़छाड़ उचित नहीं कही जा सकती। भौतिकवादी आवश्यकताओं की पूर्ति आध्यात्मिकता को चोट पहुँचाकर करना समझदारी का कार्य नहीं होगा।

क्षेत्र का महत्त्व इस दृष्टि से ही है कि प्राचीन शोणितपुर (वर्तमान सराहन) की भीमकाली शक्ति का प्रत्यक्ष स्वरूप है। यह प्राचीन राज्य बुशहर की कुलदेवी थी और इस क्षेत्र के सभी देवी-देवता इस देवी के अधिकार क्षेत्र में थे। आज रियासतें नहीं हैं, तथापि यह आध्यात्मिक साम्राज्य कायम रखने के प्रयास अवश्य ही अपेक्षित हैं।

शराई देवी मन्दिर

शराईकोटी की ऊंची चोटी पर दुर्गा माता का मन्दिर समुद्र-तल से तीन हजार मीटर की ऊंचाई पर अवस्थित है। यह स्थल हिन्दुस्तान-तिब्बत राष्ट्रीय राजमार्ग पर नोगली नामक स्थान से लगभग 45 कि०मी० की दूरी पर है। यहां की दुर्गा माता स्थानीय लोगों के अनुसार शराई देवी है। लोक विश्वास के अनुसार मन्दिर की स्थापना चार सौ वर्ष पूर्व हुई। जनश्रुति के अनुसार दुर्गा मां पहले कावबील नामक स्थान पर विराजती थी, जहां आज भी माता की बहन पूजित हैं। माता को वर्तमान स्थल अत्यन्त रमणीय लगा—दूर-दूर फैली पर्वतमाला पर बिछी बर्फ की चादर—माता यहां आ विराजी।

इस स्थल पर देवी के अवतरण से सम्बन्धित एक जनश्रुति है। बहुत पहले देवठी नामक स्थान पर एक ब्राह्मण को एक स्त्री के रूप में माता ने दर्शन देकर निकट भविष्य में वहां आने वाले संकट के विषय में चेताया। सलाह भी दी कि देवठी तथा शराईकोटी में विपत्ति निवारण हेतु यज्ञ किए जाएं। शरीईकोटी के यज्ञ में भगवती स्वयं प्रकट हो गई। वहां मां के मन्दिर की स्थापना की गई और

स्थानीय लोगों ने देवी को अपनी कुलदेवी का सम्मान दिया। मां का एक मन्दिर कूहल गांव में भी है। देवी के आशीर्वाद से सभी मनोरथों की सिद्धि होती है। यह देवी पुत्र का वरदान देने के लिए प्रतिश्रुत है। देवी के आशीर्वाद से पुत्र प्राप्त होने पर लोग उसका मुण्डन संस्कार यहीं करते हैं। लोक विश्वास है कि यह देवी कन्या रूपिणी हैं। अतः यहां कोई भी दम्पत्ति एक साथ भगवती का दर्शन नहीं कर सकता, संयुक्त दर्शन का विधान नहीं है। देवठी देवी का 'गूर' ही देवी का 'गूर' है, जिसके माध्यम से देवी लोगों की समस्याओं का समाधान करती है। देवी का कलश, जिसे स्थानीय भाषा में 'क्रो' कहते हैं बुशहर की यात्रा भी करता है। यहां देवी को मदिरा भेंट करने की प्रथा है।

मन्दिर परिसर में विद्यमान छह कुओं में से 'बेश्टू कुआं' इस कारण विशिष्ट माना जाता है कि देवी ने यह कुआं बेश्टू वंश के लोगों को उपहार स्वरूप दिया था। मन्दिर में भालू द्वारा खण्डित की गई मूर्ति भी है। देवी का स्नान घी से होता है। शायद इसी सुगन्ध के कारण भालू मूर्ति को उठाकर ले गया। वेश्टू वंश ने भालू से रक्षा की थी। इन कुओं का जल कभी दूषित नहीं होता।

तारादेवी मन्दिर

भगवती तारा का दस महाविधाओं में दूसरा स्थान है। प्राचीन ग्रन्थों में इन महाविद्याओं के आविर्भाव की रोचक कथाएं हैं। एक मान्यता के अनुसार सती ने अपने शरीर से ही इन महाविद्याओं को प्रकट किया था। प्रकटीकरण की घटनाओं में विविधता है। एक कथन है कि जब भगवान् शिव ने देवी पार्वती को दक्ष प्रजापति के यज्ञ में जाने से रोका, तो देवी का स्वरूप विकराल हो गया। शिव भी डरकर भाग रहे थे, तो महाविद्याओं ने मार्ग रोका। दूसरा मत इसे पार्वती स्नान के समय द्वार पर पहरा दे रहे गणेश के भगवान् शिव द्वारा सिर काटने से उत्पन्न विकट स्थितियों से जोड़ता है। शुम्भ-निशुम्भ बध से भी यह घटना जुड़ी है। शुम्भ के प्रश्न का उत्तर देते हुए अम्बिका देवी ने कहा था कि ये मेरी ही विभूतियां हैं, मैं इन्हें समेट रही हूँ। तारा को द्वितीया भी कहा जाता है। इस महाविद्या के तीन रूप हैं—उग्रतारा, एकजटा तथा नील सरस्वती। 'वृहन्नील' ग्रन्थ में इन रूपों की चर्चा है। तान्त्रिक साधना से देवी की कृपा सहज है।

महाकालसंहिता नामक तान्त्रिक ग्रन्थ के 'गुह्यकाली' खण्ड में दस महाविद्याओं की उपासना की विस्तृत विधि वर्णित है। ग्रन्थ का 'कामकला' खण्ड 'तारा' के रहस्य से सम्बन्धित है। वैदिक उपासना पद्धति अपेक्षाकृत जटिल है, परन्तु

तन्त्रोक्त विधि सरल तो है ही, तुरन्त फलदायक भी है। हिन्दू धर्म ग्रन्थों तथा बौद्ध धर्मग्रन्थों में रूप-भेद से महाविद्या 'तारा' की चर्चा है। भारतीय पद्धति में दुर्गा को शिव की शक्ति स्वीकार किया जाता है, बौद्ध चिन्तन में तारा अवलोकितेश्वर की शक्ति है। हिन्दू धर्म तथा बौद्ध धर्म (महायान) में समान रूप से तारा को देवमाता के रूप में मान्यता है। 'स्वरतन्त्र' ग्रन्थ में तारा का प्रादुर्भाव स्थल मेरु पर्वत के पश्चिमी भाग में स्थित 'चोलना' सरोवर का तट है। भगवती तारा की पूजा-अर्चना तिब्बत में प्रचलित थी और अब भी है। 'आचार तन्त्र' के अनुसार भारत वर्ष में सर्वप्रथम महिषी ग्राम, बिहार की उग्रतारा पीठ में महर्षि वशिष्ठ ने भगवती तारा की पूजा-अर्चना कर सिद्धियां प्राप्त की थीं। इसी कारण 'तारा' को 'विशिष्टाराधिता' सम्बोधन भी प्राप्त है। पश्चिमी बंगाल के रामपुर रेलवे स्टेशन के पांच कि०मी० की दूरी पर स्थित 'तारापीठ' में बाबा परमदेव द्वारा देवी के साक्षात दर्शन का वृत्त भी उपलब्ध है।

हिमाचल प्रदेश की पूर्व रियासत क्योंथल की कुलदेवी तारा का मन्दिर शिमला से लगभग 18 कि०मी० दूर पश्चिम की पहाड़ी पर स्थित है। इस मन्दिर सम्बन्धी अनेक किंवदन्तियां सुनने में आती हैं। एक वृत्त के अनुसार बंगाल के सेनवंशीय नरेश जब सैकड़ों वर्ष पूर्व इस क्षेत्र में आए तो उनके साथ ताबीज में विराजमान उनकी कुलदेवी तारा की स्वर्णमूर्ति भी थी। नरेश यह ताबीज सदैव अपनी भुजा से बांधे रखते थे। इस सेनवंशीय नरेश ने सर्वप्रथम शोघी के निकट खुशहाला में अपनी राजधानी स्थापित की। मैदानों के व्यवसायी इसी मार्ग से तिब्बत में व्यापार करते थे। कालान्तर में राजधानी चायल-कोटी में बनी और बाद में जुंगा को क्योंथल रियासत की राजधानी का सम्मान मिला। खुशहाला में एक प्राचीन महावीर मन्दिर है और इसी मन्दिर का महन्त, परम्परा अनुसार, क्योंथल रियासत में राज्याभिषेक से पूर्व राजसिंहासन पर विराजमान होता था। इसके अनन्तर ही नरेश को यह अधिकार प्राप्त होता। अनेक रियासतों में प्रचलित परम्परा के अनुसार ही वहां भी स्थानीय देवता को इस प्रकार सम्मान दिया जाता। क्योंथल रियासत के चार इष्ट देव चर्चित रहे हैं—खुशहाला का महावीर, भगवती तारा, जुंगादेव तथा राजा साहिब जुंगा। माता तारा अनेकानेक वर्ष सेन राजाओं के ताबीज में बन्द रही, परन्तु अब उसकी मुक्त होने की इच्छा प्रबल हुई। इस वंश की 96वीं पीढ़ी के नरेश भूपेन्द्र सेन, जब जुग्गर के सघन वन में शिकार खेल रहे थे, तो उन्हें अपने द्वारपालों—भैरव तथा हनुमान के संग भगवती तारा के दर्शन हुए। नरेश ने पचास बीघा भूमि मन्दिर के लिए प्रदान कर एक लघु मन्दिर का

निर्माण करवाया। वैष्णव परम्परा से मन्दिर में पूजा विधान तय हुआ। पूजा का कार्यभार शलावटी वंशीय राजपुरोहित तथा टकरालवंशीय राजपण्डितों को सौंपा गया। भूपेन्द्र सेन नरेश के देहावसान पर राज्य का कार्यभार स्वयं रानी ने सम्भाला। जब सिरमौर के शासक ने आक्रमण किया, तो रानी ने अपने नन्हे शिशु के साथ माता के दरबार में गुहार लगाई। रानी को देवी की कृपा से जीत प्राप्त हुई। शत्रु सेना के नायकों के सिर काट पर उन्हें जिस स्थान पर दबाया गया, वही तो मुंडाघाट है। जुग्गर की प्रतिमाओं को गनपैरी में वैष्णव रीति से पुनः प्रतिष्ठित किया गया। राजा भूपेन्द्र सेन ने देवी की काष्ठ प्रतिमाओं का तो निर्माण करवाया, परन्तु साथ में अपनी कुलदेवी की स्वर्ण प्रतिमा को भी यथावत रखा। परवर्ती नरेश ने कुलदेवी की स्वर्ण प्रतिमा को मन्दिर में विधिपूर्वक रखकर वैदिक रीति से पूजा-अर्चना शुरू करवा दी। थोड़े समय के उपरान्त देवी ने राजा को स्वप्न में दर्शन देकर आदेश दिया कि मेरी मूर्ति का निर्माण करवा इसे सामने वाली चोटी पर प्रतिष्ठित करवाओ। राजा बलवीर सेन ने माता की एक भव्य अष्टधातु मूर्ति का निर्माण करवाया, जो आज भी मन्दिर में विराजमान है। माता की लघु प्रतिमा आज भी गनपैरी में है।

एक अन्य जनश्रुति के अनुसार भवानीदत्त नामक पण्डित ने राजा बलवीर सेन को माता की अष्टधातु मूर्ति बनवाने की प्रेरणा दी और कहा कि यह मूर्ति चमत्कारी होगी। मूर्ति की ढलाई के समय राजा को पांच जीवों की बलि देने को कहा गया, परन्तु राजा को यह स्वीकार न था। मूर्ति जैसे ही तैयार हुई, गुसाऊं मिस्त्री को उसके दो साथियों सहित, डाकुओं ने अचानक मार डाला। एक कुत्ते और एक बिल्ली की भी हत्या हो गई—पांच बलियां अपने आप पूर्ण हो गईं। एक कथन यह भी है कि मिस्त्री, मूर्ति निर्माण के बाद पागल हो गया था, उसने चार हत्याएं कर दीं, जिनमें एक कन्या भी शामिल थी। राजा ने पागल शिल्पकार को फांसी दे दी। इसके बाद राजा ने पण्डित भवानीदत्त की हर सलाह मानने का संकल्प लिया। महिषासुर मर्दिनी के रूप में स्वीकृत इस मूर्ति को शंकर नामक हाथी की पीठ पर वर्तमान स्थान पर लाकर विक्रमी सम्वत् 1825 के आश्विन मास में प्रतिष्ठित किया गया। जुंगा से यहां तक की मूर्तियात्रा में 360 बकरों एवं सात भैंसों की बलि दी गई। मूर्ति की प्रतिष्ठा वाममार्गी विधान से बंगाली साधु तारानाथ से करवाई गई। इस प्रकार भगवती तारा अपने अक्षोम्य (शिव) सहित यहां विराजमान हुई।

सेनवंशीय राजपरिवार के क्योंथल आने पर देवी मां यहां पधारी। वृत्त है कि

इस वंश के नरेश गिरिसेन के शासनकाल ने एक चमत्कारी रमते जोगी ने ताब पहाड़ी पर धूना जलाकर तपस्या शुरू की। इस जलते धूने को वर्षा भी प्रभावित न कर सकी। राजा ने स्वयं पहाड़ी पर जाकर इस चमत्कार को देखा। जोगी ने राजा से कहा कि यदि तुम यहां देवी की स्थापना करो तो तुम्हारा सर्वविध कल्याण होगा। मन्दिर भवन के निर्मित होने पर इसी जोगी ने आगमोक्त विधि से देवी की स्थापना करवाई। पातो नामक ब्राह्मण पुजारी नियुक्त हुआ। इस योगी का नाम तारानाथ बताया जाता है, जिसके नाम पर ही भगवती का नाम तारा देवी हुआ। एक अन्य मत यह है कि ताब पहाड़ी पर स्थित होने के कारण यह नाम पड़ा। इसी वंश के नरेश हिमेन्द्र सेन के शासनकाल में मन्दिर का जीर्णोद्धार हुआ। वाममार्गी विधि-विधान के लागू होने पर यहां प्रत्येक वर्ष शारदीय नवरात्रों की अष्टमी को भैंसे की बलि प्रथा शुरू हो गई। भैंसे की गर्दन पर प्रथम प्रहार राजा करता और बाद में निरीह पशु को अथाह पीड़ा दी जाती। राजा हिमेन्द्र सेन ने इस प्रथा पर विराम लगा दिया।

कुलदेवी के नाते भगवती को क्योंथल रियासत में विशेष सम्मान प्राप्त था। महामाया के सम्बन्ध में लोक आस्था है कि भगवती अपने भक्तों का कल्याण करती है, उनकी महामारी तथा प्राकृतिक आपदाओं से रक्षा करती है। यह देवी किसी कारण रुष्ट हो जाए, तो उन लोगों के पालतू पशुओं को बाघ उठा ले जाता है। जब महामारी का संकट हो तो रात्रि जागरण आयोजित कर देवी की कृपा की याचना की जाती है। सन् 1833 की इब्बटन-जनगणना रिपोर्ट इसकी साक्षी है। इस रिपोर्ट से लगभग दस वर्ष पूर्व जब शिमला में हैजा का प्रकोप था तो जुंगा के कुछ लोग भी इसकी लपेट में आ गए। राजा-प्रजा ने देवी का जागरण आयोजित किया और कोई प्राणहानि नहीं हुई। उसी प्रकार पशुधन की भी रक्षा हुई।

सन् 1972 में मूर्ति चुरा ली गई, परन्तु शीघ्र मिल भी गई। राजा जुंगा ने राणा कोटी, राजा वघाट तथा पण्डित हरदेव त्रिवेदी (सोलन) आदि के परामर्श से वैष्णव विधि-विधान से इसकी पुनः प्रतिष्ठा की। यह परम्परा अभी भी चल रही है। देवी के दर्शन से पूर्व तथा बाद में क्रमशः द्वारपालों—लौंकड़ा वीर तथा बटुक भैरव के दर्शन का विधान है। मन्दिर के गर्भगृह में महामाया लक्ष्मी एवं सरस्वती की भव्य काष्ठ प्रतिमाएं दर्शनीय हैं—ये चन्दन की लकड़ी से निर्मित है। जीव बलि का सर्वथा निषेध है, पेठे एवं आठ गरी गोलों की बलि केवल शारदीय नवरात्रों में दी जा सकती है। वाममार्गी विधि से स्थापित भगवती तारा अधुना जुंगा राजप्रासाद के मुख्य द्वार 'प्रौल' पर विराजमान और राजपरिवार द्वारा पूजित भी है। तारादेवी

मन्दिर से कुछ दूर पहाड़ी पर 'दूधा देवी' विराजती है। माता को दूध की भेंट दी जाती है, कुशोत्पाटनी अमावस्या (डग्याली) पर खीर के भोग का विधान है।

प्रातःकालीन स्नान-पूजा में शिव मन्दिर के निकट स्थित जल-स्रोत के जल का उपयोग होता है। बाल भोग में पंचमेवा, दूध, फल आदि की भेंट होती है। दोपहर को राजभोग लगता है। सायं इलायची, लौंग आदि का अर्पण होता है तो रात्रि में बालभोग के पदार्थ ही होते हैं। पूजा दो बार होती है—प्रातः पूजन षोड्शोपचार से होता है। जालन्धर पुराण के नवम अध्याय में उग्रतारा की स्तुति है—इसी के गायन की परम्परा है। वैसे तो मन्दिर में सभी वैष्णव उत्सव उत्साहपूर्वक मनाए जाते हैं, परन्तु वासन्तिक तथा शारदीय नवरात्रों के आयोजन की गरिमा अलग ही होती है। तीसरे नवरात्र को गनपैरी से, लोकवाद्यों की मधुर ध्वनि की अनुगूंज में, भगवती को पालकी में सुसज्जा-सहित तारब लाया जाता है। तृतीय नवरात्र को मंगल या शुक्रवार हो, तो यह व्यवस्था दूसरे नवरात्र को होती है। देवी गर्भगृह में माता तारा के संग अष्टमी तक रहती है और फिर गनपैरी लौट जाती है। नवरात्रों के चढ़ावे का चौथा भाग विदाई में मां को तारा भगवती की ओर से भेंट किया जाता है। रियासतों के समय इस उत्सव की जो शानो-शौकत थी उसका उल्लेख/विवरण 'शिमला हिल स्टेट्स 1910 गजेटियर' में उपलब्ध है। मन्दिर की वर्तमान व्यवस्था सरकारी न्यास के पास है। यह मन्दिर श्रद्धालु-भक्तों तथा प्रकृति प्रेमियों के समान आकर्षण का केन्द्र है।

श्रीदेई साहिबा मन्दिर

सिरमौर नरेश श्मशेर प्रकाश द्वारा, अपनी बहन देई (राजकुमारी) के अनुरोध पर, लगभग 120 वर्ष पहले निर्मित यह मन्दिर पौंटा साहिब में—शिमला से लगभग 185 कि०मी० तथा नाहन से 45 कि०मी० की दूरी पर अवस्थित है। राम-सीता का यह भव्य मन्दिर पौराणिक कथाओं पर आधारित कांगड़ा शैली के भित्ति-चित्रों से अलंकृत है। राजा शमशेर प्रकाश की अल्पायु में ही विधवा हुई बहन ने अपने पति राजा प्रताप कटोच की स्मृति को चिरस्थायी करने हेतु, अपने भाई से अनुरोध कर यह मन्दिर बनवाया था।

मन्दिर शिखर शैली का है, परन्तु इस शैली के स्थापत्य का पूरी तरह से पालन नहीं। मन्दिर में पहाड़ी और मुगल शैली का मिश्रण है—पत्थर, ईंट, चूने का प्रयोग है। मन्दिर के प्रांगण में कतिपय लघु मन्दिर भी हैं। इसी स्थल पर देई साहिबा की संगमरमर की समाधि भी है। इस मन्दिर का महत्त्व कलात्मक भित्ति-चित्रों के

कारण है, जो हिमाचल की विविध चित्रकला शैलियों के प्रतिरूप हैं। ये चित्र शोध-अध्ययन का नया अध्याय खोलते हैं।

जखनी माता मन्दिर

गद्दियों की देवी के नाम से विश्रुत जखनी देवी का धाम पालमपुर के निकट एक छोटी-सी पहाड़ी पर स्थित है। जनश्रुति के अनुसार इस स्थान पर विद्यमान पिंडी की विशेष मान्यता थी। लगभग 400-450 वर्ष पूर्व अपने पशुओं के लिए चरागाह तलाशते घुमंतू गद्दियों ने यहां मन्दिर का निर्माण करवाया। मन्दिर के आसपास गद्दी गांव बस गए और माता मुख्य रूप से इन्हीं की पूज्या बन गई। मन्दिर का, मुख्य मार्ग से सात किलोमीटर का मार्ग, कच्चा तथा संकरा है, परन्तु श्रद्धालुओं के उत्साह में इससे कोई कमी नहीं आती। धार्मिक आयोजनों में समाज के सभी वर्गों के श्रद्धालु शामिल होते हैं।

देवी आशापुरी

समुद्र-तल से लगभग 5500 फीट की ऊंचाई पर स्थित यह देवस्थान पालमपुर से 33 कि०मी० की दूरी पर पालमपुर—चढ़ियार मार्ग पर है। यहां पहुंचने के लिए भुहाणा (किल्ली) से ग्यारह कि०मी० का कच्चा रास्ता पार करना पड़ता है। यह मन्दिर सघन जंगल में स्थित है। यहां पहुंचने का एक अन्य मार्ग नागवन से है, रोपड़ी तक बस का सफर है तो वहां से तीन कि०मी० का पैदल सफर है।

ऊंचाई पर अवस्थित होने के कारण से, मन्दिर स्थल से पालमपुर, धर्मशाला, हमीरपुर, मंडी का दृश्य सहज ही सम्मुख आ जाता है। मन्दिर में 'लड़भड़ोली भाषा' के एक विद्यामान उल्लेख के अनुसार मन्दिर का निर्माण द्वापर युग में दानवीर कर्ण एवं तारा द्वारा हुआ था। मन्दिर के निर्माण में प्रयुक्त पत्थर आसपास कहीं भी उपलब्ध नहीं। शायद यह बैजनाथ से आयात हुआ हो। मन्दिर का वास्तुशिल्प भी बैजनाथ मन्दिर से मेल खाता है। 40 फीट ऊंचे मन्दिर की भव्यता देखते ही बनती है। एक किंवदन्ती के अनुसार राजा जयसिंह को देवी की कृपा से ही सन्तान प्राप्त हुई थी। स्वप्न में मां के आदेशानुसार नरेश ने यहां मां की सेवा-आराधना की थी।

यहां दो अन्य मन्दिर हैं—एक में शंकर भगवान की पिंडी है। दूसरे में भूतनाथ की प्रतिमा थी, जिसे खण्डित होने पर, ब्यास नदी में प्रवाहित कर दिया गया था।

मां सन्यारी मन्दिर

कांगड़ा जिला की पालमपुर तहसील के अन्तर्गत आता है गांव खैरा, जहां सन्यारी मां का मन्दिर स्थित है। 'मेला पट्ट सन्यारी' के नाम से विख्यात मेले का आयोजन यहां प्रतिवर्ष 22 से 26 मई तक होता है। इस मन्दिर से एक रोचक कथा जुड़ी है। किसी समय मन्दिर स्थल के निकट एक सुनार-सुनारिन का निवास था। सुनार के देहान्त पर क्षेत्र में प्रचलित सती प्रथा के अनुसार सुनारिन ने अपने पति की चिता में अपनी आहुति दे दी। कालान्तर में लोगों ने इसी स्थल पर उनका स्मारक बना दिया। इस प्रकार मां सन्यारी मन्दिर अस्तित्व में आया। किसान तथा अन्य लोग नई फसल का चढ़ावा यहां अर्पित कर फिर अपने खान-पान का प्रबन्ध करते हैं। चढ़ावें को स्थानीय भाषा में 'जातर' कहा जाता हे। जनश्रुति के अनुसार मां सन्यारी ने लोगों को स्वप्न में दर्शन देकर मेले के आयोजन और उसमें मां के नाम की छिंज (कुश्ती) का आदेश दिया था। कहते हैं कि एक बार प्रमादवश छिंज का आयोजन नहीं हो पाया तो निवासियों को अनेक विपदाओं का सामना करना पड़ा। अब यह क्रम जारी है।

परम्परागत शैली का अम्बिका मन्दिर

राष्ट्रीय उच्च मार्ग पर कुल्लु से 28 कि०मी० पीछे स्थित पनारसा से बाएं मुड़ती सड़क पर पांच कि०मी० की दूरी पर नाऊ गांव में परम्परागत शैली का आकर्षक देवस्थान है—अंबिका मन्दिर। संकरी सी सड़क के पार ऐसे भव्य मन्दिर की कल्पना भी सहज नहीं। मन्दिर की प्राकृतिक पृष्ठभूमि अत्यन्त लुभावनी है—पृष्ठभूमि में विशाल पर्वतमाला, नीला आसमान, सलेट के टुकड़ों से ढकी कलात्मक छत्तें, ऊंची सीढ़ियां—मनोरम दृश्य सामने उपस्थित हो जाता है।

84 फुट लंबे तथा 30-35 फीट ऊंचे मन्दिर का निर्माण किसी शैली विशेष में नहीं हुआ, तथापि इसका संयोजन प्रशंसा योग्य है। मन्दिर में प्रयुक्त पत्थर का आयात विशेष रूप से रिवालसर से हुआ। 29 मूर्तियों वाले इस मन्दिर का मुख्य द्वार नाऊ गांव की दिशा में खुलता है। मन्दिर की खिड़कियों में भी रंगों का सुन्दर संयोजन है। पूजागृह कक्ष काफी बड़ा है और इसका निर्माण पारम्परिक शैली में हुआ है। यहीं पर मां अम्बिका विराजती हैं। मन्दिर के पिछले भाग में हवनशाला है, जिसमें सैकड़ों लोग बैठकर हवन कर सकते हैं। भादों की चौदस को सम्पन्न होने वाले महायज्ञ में एक ओर स्थानीय तथा बाहर के सहस्रों श्रद्धालु भाग लेते हैं, वहां स्थानीय देवता भी शामिल होते हैं।

मान्यता है कि माता का यहां आगमन निरमंड से हुआ। वहां के लोगों ने ही यह गांव बसाया था। यह मुख्य रूप से ब्राह्मणों का गांव है, जिसमें एक ही परिवार का फैलाव भासता है। धीर-कमीर नामक दो भाई इस गांव के आदि पुरुष कहे जाते हैं। इस समय इसी वंश के 70-75 परिवार यहां निवास करते हैं। मन्दिर के विकास का श्रेय सन् 1981 में स्थापित मन्दिर कमेटी को प्राप्त है। बड़े मन्दिर के समीप ही एक शिवालय भी विद्यमान है।

विंध्यावासिनी बंदला मन्दिर

कांगड़ा के पालमपुर उपमंडल में वैसे तो अनेक पावन धाम है, परन्तु विन्ध्यवासिनी बंदला मन्दिर की निजी महिमा है। मन्दिर में सम्पन्न एक लक्ष्य चण्डीयज्ञ ने इसकी कीर्ति दिग्-दिगंत में फैला दी है। नौ दिनों तक चलने वाले यज्ञ का संचालन बारह सौ पण्डितों ने किया और लाखों श्रद्धालु इस आयोजन के प्रत्यक्षदर्शी बने।

एक जनश्रुति के अनुसार वर्तमान देवालय से 8-10 कि०मी० की दूरी पर अवस्थित पहाड़ी की दुर्गम चोटी पर देवी ने एक कन्या के रूप में एक भक्त को दर्शन दिए। मां इस स्थान पर मन्दिर निर्माण का आदेश देकर अन्तर्धान हो गई। स्थानीय लोगों ने निर्दिष्ट स्थान पर देवी के विग्रह की स्थापना कर दी। दुर्गम स्थान पर अवस्थित होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति के लिए मन्दिर दर्शन सम्भव न था। भक्तों ने मां की गुहार की और प्रार्थना स्वीकार भी हुई। इसी के फलस्वरूप दो सदी पूर्व बंदला मन्दिर का निर्माण हुआ और विन्ध्यावासिनी का विग्रह इसमें स्थापित कर दिया गया।

बंदला गांव की प्राकृतिक छटा देखते ही बनती है—चारों ओर देवदार के ऊँचे-ऊँचे वृक्ष, खेतों-खलियानों में छिटकी हरियाली और बंदला मार्ग के दोनों ओर फैले चाय के बाग। रंग-बिरंगे परिधानों में अठखेलियाँ करती, चाय की पत्तियां चुनती हुई युवतियां मनोरम दृश्य उपस्थित करती हैं। चीड़ के वृक्षों के मध्य प्रवाहमान ब्यूगल नदी अपने कल-कल नाद से सैलानियों को मानो यहां प्रवास का निमन्त्रण दे रही हो। यहां का मौसम भी सुहावना होता है। प्रातः सायं मां की आरती आनन्द विभोर कर देती है। छोटे-मोटे प्रयासों से इस देवस्थल को पर्यटन केन्द्र के रूप में भी विकसित किया जा सकता है।

मृकुला देवी मन्दिर, उदयपुर

केलांग (लाहौल-स्पीति जिला का मुख्यालय) से लगभग पचास कि०मी० दूर केलांग-पांगी-किश्तवाड़ मार्ग पर एक सुन्दर गांव है उदयपुर! यहां काली मां का मन्दिर है और मां को मृकुल या मरगूल नाम से भी जाना जाता है। इस मन्दिर के सम्बन्ध में लोक विश्वास है कि मन्दिर का निर्माण आठवीं शती के आसपास हुआ। यह भी कहा जाता है कि निर्माण कार्य कश्मीर नरेश अजय वर्मन तथा ललित दिव्य द्वारा हुआ। एकमत यह भी है कि सातवीं शती में चम्बा नरेश मेरु वर्मन ने इस मन्दिर का निर्माण करवाया। यह मन्दिर कश्मीर-कन्नौज शैली में निर्मित है। इस मन्दिर के निर्माण में देवदार के शहतीरों का उपयोग हुआ है, जिन पर उकेरी गई प्रतिमाएं अत्यन्त सजीव हैं—जीती-जागती-सी लगती हैं।

चामुण्डा मन्दिर, धर्मशाला

हिमाचल के शक्तिपीठों का विवरण, कांगड़ा से लगभग बीस कि०मी० की दूरी पर, ब्यास की सहायक नदी बनेर खड्ड (बाण गंगा) के दायीं ओर जदरांगल गांव में अवस्थित 'श्री चामुण्डा नन्दिकेश्वर धाम' की चर्चा के बिना अधूरा ही माना जाएगा। सुन्दर धौलाधार पर्वत श्रृंखला की गोदी में पालमपुर-धर्मशाला मार्ग पर स्थित यह धाम धर्मशाला से 15 कि०मी० दूर है। इस शक्तिपीठ के दर्शन हेतु रेल तथा सड़क मार्ग से पहुँचने में कोई कठिनाई नहीं।

स्थानीय भाषा में इस धाम को 'चौण्डा नंदिकेश्वर' कहा जाता है। यहां भगवती चामुण्डा नन्दिकेश्वर शिव के साथ निवास करती है। देवी का मूल स्थान यहां से सोलह कि०मी० की दूरी पर चंद्रधार स्वीकार किया जाता है, जहां भगवती का प्राचीन लघु मन्दिर भी है। यह मन्दिर प्राचीन नहीं, परन्तु परिक्रमा में विद्यमान शिला, जिस पर देवी के चरण एवं शिवलिंग के चिह्न हैं, प्राचीन हैं। चण्ड एवं मुण्ड राक्षसों के नाश के कारण ही देवी का नाम चामुण्डा है। जनश्रुति के अनुसार पहले श्रद्धालु चन्द्रधार जाकर देवी की पूजा-अर्चना करते थे। अपने एक परमभक्त की प्रार्थना पर देवी वर्तमान स्थान पर पधारीं। कालान्तर में स्वप्न के माध्यम से वाण गंगा के पार पड़ी मूर्ति को भी यहां स्थापित करवाया।

बाण गंगा के उद्गम से सम्बन्धित एक जनश्रुति है कि द्वापर युग में जब पाण्डव इस क्षेत्र से जा रहे थे तो प्यास बुझाने के लिए धरती में बाण-प्रहार से पानी निकाला। बाण से निकली यह जलधारा बाण गंगा कही गई। बाण गंगा का उद्गम धौलाधार पर्वत पर तालंग दर्रे के नीचे 'अर्जुन ताल' माना जाता है। दुर्गा

सप्तशती के सातवें अध्याय में भगवती चामुण्डा के प्रादुर्भाव का प्रसंग है। देवताओं की स्तुति पर माता पार्वती के शरीर से कौशिकी नाम की सुन्दर देवी प्रकट हुई, जिसे शुम्भ-निशुम्भ दैत्यों का संहार करना था। देवी कौशिकी ने अपने मस्तक से 'कालिका शक्ति' प्रकट की, जिसने शुम्भ-निशुम्भ के सेनापतियों, चण्ड-मुण्ड का संहार किया। इस पर अंबिका माता ने कालिका को संसार में 'चामुण्डा' नाम से पूजित तथा विख्यात होने का वरदान दिया। पूजा का मुख्य स्थल जदरांगल बताया गया क्योंकि यहीं पर देवगण ने माता पार्वती की स्तुति की थी।

भगवान नन्दिकेश्वर के भी इस स्थान पर अवतरण से सम्बन्धित एक प्रचलित जनश्रुति है। कहते हैं कि राक्षसों का रक्तपान करने से मां चामुण्डा का स्वभाव मानव-रक्त पिपासु बन गया था! इसी कारण सारे क्षेत्र में आतंक का वातावरण था। प्रतिदिन बलि के लिए देवी के समक्ष एक व्यक्ति को उपस्थित किया जाता। एक दिन जब एक बुढ़िया के बेटे की बारी थी, तो एक बाबा ने प्रकट होकर बुढ़िया को बलि भेजने से रोक दिया। इस पर क्रुद्ध होकर देवी ने बुढ़िया की झोंपड़ी पर एक भारी चट्टान फैंक दी।

बाबा ने इस चट्टान को अपने त्रिशूल से अधर में ही रोक दिया। देवी ने भोलेनाथ को पहचान लिया और उनके आदेश से बलि प्रथा को समाप्त कर दिया। भगवान शिव ने देवी से कहा कि मैं भी अब यहीं वास करूंगा। मैं चट्टान के नीचे नन्दिकेश्वर के रूप में पूजित हूंगा और तुम चट्टान के ऊपर पूजित होकर जन-कल्याण करोगी। शिव पुराण में भी नंदिकेश्वर महादेव से सम्बन्धित एक कथा है। एक ब्राह्मण द्वारा अपनी गाय को दुहते समय उसके बछड़े को निर्ममतापूर्वक पीटा गया। आहत गाय ने रात को अपने बछड़े से कहा कि मैं प्रातः ब्राह्मण की हत्या कर दूंगी और ब्रह्महत्या के पाप से त्राण के लिए तीर्थ स्नान कर लूंगी। प्रातः जब ब्राह्मण का लड़का गाय दुहने के लिए आया, तो गाय ने उसकी हत्या कर दी। तत्काल ताम्रवर्णी गाय का रंग काला पड़ गया और वह नर्वदा नदी के तट पर स्थित नंदिकेश्वर तीर्थ की ओर चल दी। उक्त ब्राह्मण के घर रात को एक अतिथि ब्राह्मण ठहरा हुआ था, जो अपनी माता की अस्थियां काशी प्रवाहित करने हेतु ले जा रहा था। उसने रात को गाय की बात सुन ली थी और वह भी रहस्य जानने के लिए गाय के पीछे-पीछे चला। गाय ने तीर्थ में तीन डुबकियां लगाईं और उसका पूर्व रूप लौट आया। ब्राह्मण ने भी वहीं स्नान किया। नन्दिकेश्वर देवालय में पूजा-अर्चना भी की। भगवान शिव ने प्रकट होकर ब्राह्मण को बताया कि यह मेरा

परमसिद्ध क्षेत्र है। भवष्य में भी, भक्तों के उद्धार हेतु मैं जहां भी प्रकट होऊंगा, वह स्थान भी परमसिद्ध क्षेत्र बन जाएगा। इन क्षेत्रों की जलधाराएं गंगा के समान होंगी और वहां श्राद्ध-तर्पण से पित्तरों को मुक्ति मिलेगी। इस पर ब्राह्मण ने वहीं पर अपनी माता की अस्थियों का विसर्जन कर दिया।

चामुण्डा देवी का नागर शिखर शैली में निर्मित प्रस्तर मन्दिर प्राचीन है, परन्तु अब इसकी सज्जा संगमरमर से की गई है। गर्भगृह में मां की प्रस्तर प्रतिमा है। मन्दिर के कपाटों पर मढ़े चाँदी के पत्तरों में दत्तात्रेय और पुष्पमाला धारण किए गजमुख उकेरे गए हैं। नीचे भैरव और हनुमान की पत्थर की मूर्तियां हैं, जिनके ऊपर मध्य में भद्रमुख है। शिखर पर ताम्र के आमलक तथा कलश हैं, जिन पर सोने की 'कोटिंग' है। कलश की ऊंचाई पंद्रह फीट है। मन्दिर के मुख्य भवन तथा परिक्रमा मार्ग की प्राचीरों पर भगवती के विभिन्न चरित्र उकेरे गए हैं। संकीर्तन भवन की दीवारों पर रामायण और महाभारत के विशेष प्रसंग चित्ररूप में प्रस्तुत हैं। बाहर श्री राम और गणपति की विशाल प्रतिमाएं स्थापित हैं। प्रांगण के लघु मन्दिर के गर्भगृह में शिवलिंग स्थापित है और द्वार पर नन्दी विराजित है। इस मन्दिर के निकट तपस्वियों की नौ छोटी-छोटी पत्थर-मूर्तियां हैं। मन्दिर के सामने एक यज्ञशाला भी है।

मां चामुण्डा के मन्दिर के साथ ही एक चट्टान के नीचे स्थित गुफा में नंदिकेश्वर पूजित है। शिवलिंग के साथ ही गणपति की प्रस्तर प्रतिमा है—शंकर, पार्वती, कार्तिकेय, हनुमान और नंदी की संगमरमर निर्मित मूर्तियां भी। प्रांगण में दुर्गा, शंकर, गणपति की संगमरमर प्रतिमाएं हैं, तो छोटी मूर्तियों में विराजते हैं—दो छोटे-छोटे नन्दी बैल, आठ तपस्वी, नाग देव, वीर (छत्रधारी घुड़सवार) और हनुमान! मन्दिर परिसर में कुछ महात्माओं की भी समाधियां हैं। बाण गंगा के तट पर निर्मित चामुण्डा सरोवर के मध्य शंकर तंथा सरस्वती तथा सरोवर तट पर हनुमान जी की मूर्ति है। चामुण्डा मन्दिर के सामने, बाण गंगा के पार, पंच जूना अखाड़े में शिखर शैली का दुर्गा मन्दिर है। यह स्थान बाबा घासीराम की तपस्थली के रूप में विख्यात है।

कांगड़ा क्षेत्र के अवस्थी वंशीय लोग चामुण्डा देवी को कुलदेवी का सम्मान देते हैं। मन्दिर में प्रातः-सायं षोड्शोपचार से देवी-पूजन होता है। यही विधान नंदिकेश्वर मन्दिर में भी है। नवरात्रों में यहां विशेष आयोजन होते हैं। नन्दिकेश्वर मन्दिर में श्रावण मास के प्रत्येक सोमवार, शिवरात्रि तथा वैशाख में रलियों के मेले में धूम रहती है।

अवाह देवी मन्दिर

1250 मीटर की ऊंचाई पर स्थित अवाह देवी मन्दिर जिला हमीरपुर के बड़सर उपमण्डल के अन्तर्गत है। प्रशासनिक सीमाएं किसी प्रकार भी श्रद्धालुओं की मानसिकता को प्रभावित नहीं करती। मन्दिर तक पहुंचने के लिए सौ सीढ़ियों का फासला तय करना होता है। सीढ़ियों की चढ़ाई शुरू करने से पूर्व श्रद्धालु मंडी जिला में होता है तो सीढ़ियों के बाद हमीरपुर में—उसे तो केवल मन्दिर से सरोकार है, सीमाओं से नहीं।

आज मंडी तथा हमीरपुर (कांगड़ा) हिमाचल प्रदेश के क्षेत्र हैं, परन्तु जब मन्दिर अस्तित्व में आया तो स्थिति भिन्न थी। कांगड़ा उस समय पंजाब प्रान्त का एक जिला था और हमीरपुर उसका उपमंडल। मंडी में राजा का शासन था। अवाह देवी ऊँची पहाड़ी पर स्थित है—उत्तर में संघोल तक बक्कर खड्ड मंडी—कांगड़ा की प्राकृतिक सीमा—दक्षिण में अवाह देवी से कलाहू गांव तक कोई प्राकृतिक सीमा नहीं। सीमा तय करने सम्बन्धी एक जनश्रुति है कि मंडी नरेश भवानी सेन कलाहू गांव से अवाह देवी तक घुड़सवारी कर आए। जिधर-जिधर से घोड़ा निकला वहीं मंडी-कांगड़ा की सीमा बन गई। यह सीमा नितान्त कृत्रिम थी। सन् 1966 में कांगड़ा हिमाचल प्रदेश का भाग बना, तो यह कृत्रिम बन्धन टूट गया।

ऊंची चोटी पर स्थित मन्दिर का परिवेश अत्यन्त रम्य है—कांगड़ा घाटी, धौलाधार पर्वतमाला, मंडी की धाराएं, बिलासपुर तथा ऊना जिला—सभी तो, उच्च शिखर से, नजर में समा जाते हैं। मन्दिर से पूर्व में है मंडी जिला और तीनों दिशाओं में हमीरपुर। इस मन्दिर का सम्बन्ध पाण्डवों से भी जोड़ा जाता है। एक जनश्रुति के अनुसार गांव झाड़ियार (सरका घाट) के राजपूत परिवार के मुखिया को स्वप्न आया कि गांव संगरोह (हमीरपुर) में मां भवानी की पिण्डी है, जिस पर मन्दिर निर्मित किया जाए। संगरोह गांव के एक किसान को खेत में पिण्डी मिली। प्रयास करने पर भी वह उसे उठा न सका। विचित्र संयोग था कि उसने पूर्व दिशा में (वर्तमान मन्दिर स्थल) चलने का संकल्प किया तो पिंडी सहज बन गई। पिण्डी की यहीं स्थापना कर दी गई। 'अवाह देवी' नामकरण शायद यहां हर समय तीव्र गति से चलने वाली हवा के कारण हुआ हो—'हौआ' स्थानीय बोली है।

निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि मन्दिर का निर्माण कब हुआ। मान्यता यह है कि यह मन्दिर 150-200 वर्ष ही पुराना है। मन्दिर के मूल भवन के निर्माण का श्रेय मंडी नरेश भवानी सेन को प्राप्त है। बाबा श्रवणनाथ अंबाला

निवासी में भवन का विस्तार ही नहीं किया, अपितु आधुनिक रूप भी दिया। मन्दिर में मुख्य पिण्डी के साथ-साथ प्राचीन मूर्तियां हैं, तो एक बड़ा शिवलिंग भी स्थापित है।

क्षेत्र के लोगों में देवी के प्रति विशेष श्रद्धा है। घर में शादी-ब्याह हो या उत्सव, किसी को नौकरी मिली हो या तरक्की—प्रथम समर्पण देवी मां के चरणों में होता है। हर मंगलवार और रविवार को यहां एक मेले का-सा दृश्य होता है। ढोल-बाजे के स्वर, माता की भेंटें—वातावरण को सात्विक बना देते हैं। चारों तरफ से स्वर उठता है 'मंडीया दी जातरा है, कांगड़ीए भी आए!' यह परस्पर सौहार्द का स्वर है। हिमाचल प्रदेश के वर्तमान मुख्य मंत्री प्रो० प्रेमकुमार धूमल धार्मिक विचारों के एक चिन्तनशील एवं कर्मठ व्यक्ति हैं। उनका विकास अभियान यहां भी रंग लाएगा, ऐसा चिन्तन है।

कामना देवी मन्दिर : हर समय खुले द्वार

शिमला से पांच कि०मी० की दूरी पर, देवदार वृक्षों से घिरी पर्वत की चोटी पर मां कामना देवी का मन्दिर है, जिसकी विशिष्टता यह है कि इसके द्वार कभी भी बंद नहीं किए जाते। जो श्रद्धालु भी परिश्रम साध्य यात्रा कर यहां पहुंचता है उसे मां काली का आशीर्वाद प्राप्त होता है। मन्दिर का निर्माता कौन था, निश्चित नहीं, लोक विश्वास है कि राजा जुंगा ने मन्दिर का निर्माण करवाया और वह हर वर्ष कई बार पूजा के लिए यहां आता था। मन्दिर का पर्यटन की दृष्टि से भी महत्त्व है।

□□□

बौद्ध शैक्षणिक-धार्मिक स्थल

बुद्ध धर्म का उदय वैदिक धर्म की कर्मकाण्ड-बहुलता के विरोध में हुआ। वैदिक युग के बाद भी हिन्दू धर्म में कर्मकाण्ड, यज्ञादि का महत्त्व घटा नहीं, परन्तु ये धनी लोगों तथा उच्चवर्गीय लोगों तक ही सीमित रह गए। ऐसी स्थिति में ऐसे धर्म की आवश्यकता थी, जिसे सामान्य लोग अपना सकते और बौद्ध धर्म उसका पूरक बना। बौद्ध धर्म के प्रणेता, महात्मा बुद्ध का कथन था कि दुःख से मुक्ति पाने के लिए चार यथार्थों का ज्ञान आवश्यक है—(1) दुःख है, (2) दुःख का कारण, (3) दुःख दूर किया जा सकता है, (4) दुःख से छुटकारे का मार्ग—अष्टांगिक मार्ग। अष्टांगिक मार्ग है—(1) सम्यक् दृष्टि, (2) सम्यक् संकल्प (शुद्ध विचार), (3) सम्यक् वाणी (सत्य और प्रिय बोलना), (4) सम्यक् कर्मान्त, (5) सम्यक् व्यायाम (प्रयत्न), (6) सम्यक् आजीव (आय-साधन), (7) सम्यक् स्मृति, (8) सम्यक् समाधि। महात्मा बुद्ध ने दस शिक्षा पदों—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि का भी निर्देश दिया था, जिनमें से गृहस्थियों के लिए प्रथम पांच अनिवार्य थे, परन्तु भिक्षुओं के लिए सभी के पालन की अनिवार्यता थी।

बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में शासकीय सहयोग के साथ-साथ जनसमाज की भी महती भूमिका रही। यह धर्म भारत में जन्मा, फला-फूला भी, परन्तु इसके प्रभाव क्षेत्र में आज भी विश्व के अनेक देश हैं। अफगानिस्तान से लेकर कश्यप सागर तथा चीन देश की सीमा तक पूरे मध्य एशिया में बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार था। काबुल के उत्तर-पश्चिम-कामियान में महात्मा बुद्ध की 175 एवं 100 फीट ऊंची मूर्तियां चर्चित हैं। मध्य एशिया के गोबी मरुस्थल में भारतीय एवं बौद्ध संस्कृति का परचम लहराता रहा है। चीन, कोरिया, जापान, तिब्बत, लंका, वर्मा, जावा आदि अनेक देशों में बौद्ध धर्म ने अपनी विजय पताका फहराई। इस प्रकार सांस्कृतिक चेतना के आधार पर भारत का ही अंग बने देशों के समूह—वृहत्तर भारत—में बौद्ध धर्म ने नव धार्मिक एवं सांस्कृतिक आयाम प्रस्तुत किए! बौद्ध धर्म का साहित्य, चित्रकला, स्थापत्य के विकास में भी अविस्मरणीय योगदान है।

बौद्ध धर्म के सन्दर्भ में चर्चित स्तूपों, चैत्यों, गुहाओं, विहारों, मठों, गोम्पाओं के स्वरूप की जानकारी के बिना बौद्ध धर्म से सम्बन्धित शैक्षणिक-धार्मिक स्थलों की

सही झांकी देख पाना सम्भव नहीं। 'संघ' का स्वरूप भी हमें स्पष्ट होना चाहिए।

भारतीय कला के विकास में धार्मिक प्रवृत्तियां प्रबल रही हैं। स्तूप का उद्गम वैदिक संस्कृति में दृष्टिगोचर होता है, परन्तु कालान्तर में यह बौद्ध धर्म का प्रमुख पर्याय या स्मारक बन गया। स्तूप भारतीय वास्तुकला का प्राचीनतम उदाहरण है। स्तूप संस्कृत के स्तूपः या प्राकृत थूप (स्तुप) धातु से बना है, जिसका अर्थ है—एकत्रित करना या ढेर लगाना। 'स्तूप' शब्द का प्रयोग मिट्टी के ऊँचे टीले के लिए होने लगा। 'अमर कोश' में भी इसी भाव की पुष्टि है—'राशिकृत मृतिकादि'! बौद्ध साहित्य में 'थूप' शब्द का प्रयोग है। कई विद्वान् स्तूप शब्द को यारोपीय शब्द टुम्ब (Tomb) से विकसित मानते हैं, परन्तु यह मत भ्रान्त है। कब्र में तो शव भूमि में गाड़ा जाता है, स्तूप तो एक पुण्य स्थल है, जिसमें 'भस्म' की प्रतिष्ठा होती है।

'स्तूप' के लिए चैत्य शब्द का प्रयोग भी साहित्य में उपलब्ध है। 'चैत्य' शब्द 'चि' चयने धातु से निर्मित—इसमें पत्थर या ईंट चिनकर भवन निर्मित होता है—'चीयते पाषार्णदिना इति चैत्यम्'। 'चैत्य' की विविध उत्पत्तियों के सम्बन्ध में डॉ० वासुदेव उपाध्याय ने लिखा है—'यज्ञ के अन्त में भस्मादि पवित्र पदार्थों को बटोरने की क्रिया चयन् कहलाती है। अतएव, 'चैत्य' से उस प्रदेश का संकेत होता है जहां चयन-क्रिया सम्पन्न की जाती है। 'चैत्य' शब्द 'चित' या 'चिता' से भी संवद्ध है! चिता की राख (अवशेष) को एक पात्र में रख, स्मारक बनाया जाता है, जिसे 'स्तूप' कहते हैं।[1] 'चेत्य' तथा 'स्तूप' का सूक्ष्म अन्तर यह है कि चैत्य में अवशेष की कल्पना मात्र है जबकि स्तूप में यह प्रत्यक्ष है। एक अन्तर और भी है कि 'चैत्य' पर्वत गुफाओं में खोदा जाता है, इसमें अवशेष रखने का प्रश्न ही नहीं है, स्तूप का आकार अवश्य वर्तमान रहता है। स्तूप का निर्माण भी समतल भूमि में होता है। अनेक अभिलेखों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि महात्मा बुद्ध के अवशेष को स्तूप में प्रतिस्थापित किया गया। ऐसी स्थापना धर्मकार्य मानी जाती थी।

बौद्ध भिक्षुओं के सामूहिक संगठन का नाम है 'संघ'! संघ के आदर्श के सम्बन्ध में महात्मा बुद्ध ने भिक्षुओं को परस्पर प्रेम, आदर और सहयोग की शिक्षा दी। आरम्भ में स्थिति यह थी कि भिक्षु महात्मा बुद्ध से शिक्षा प्राप्ति हेते प्रातः जुट जाते और शिक्षा-ग्रहण के उपरान्त रात्रि का समय, वनों में, वृक्षों के नीचे या पर्वतीय गुफाओं में व्यतीत करते। भ्रमणशील महात्मा बुद्ध के साथ भिक्षुओं की

1. प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मन्दिर : डॉ० वासुदेव उपाध्याय, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना (पृष्ठ 5)

मण्डली रहती। भिक्षुओं की संख्या में लगातार वृद्धि से यह क्रम पहले की भान्ति चल नहीं पाया। भिक्षुओं के आवास की व्यवस्था करनी पड़ी—विहार निर्मित हुए।

भिक्षुओं के आवास का स्थान निश्चित होने पर पूजा-स्थान की आवश्यकता अनुभव की गई। पर्वतों को खोदकर व्यवस्था की गई। निवास-स्थान यानी 'विहार' निर्मित हुए तो पूजा-स्थान 'चैत्य'। मध्य युग में प्राचीन चैत्य की पृथक् स्थिति का अन्त हो गया। गुफा (गुहा) शब्द का व्यापक अर्थ है, परन्तु पहाड़ों को काटकर निर्मित 'विहार' तथा 'चैत्य' विभिन्न उद्देश्यों के बोधक हैं। 'विहार' ग्राम के मकान के मूलाकार का अनुकरण मात्र था—सर्वप्रथम पहाड़ काटकर बरामदा तैयार होता, उसमें एक प्रवेश-मार्ग होता, जो आंगन तक ले जाता। आंगन के चारों ओर वरामदों और कमरों की स्थिति रहती। अन्तर बस इतना होता कि घर के आंगन की भान्ति यहां का आंगन आकाश की ओर खुला नहीं रहता। 'चैत्य' स्थान (चित्य + अण) पूजा-स्थान का बोध कराता है। 'चैत्य' निर्माण हेतु विभिन्न प्रकार की गुफा खोदी जाती—घोड़े की नालनुमा आकार! इस प्रकार आवास तथा पूजा-स्थल की अलग-अलग व्यवस्था हुई।

धीरे-धीरे विहार की आवश्यकता में वृद्धि होने लगी। पर्वतीय गुहा के अतिरिक्त समतल भूमि पर भी ईंट, पत्थर तथा चूना से विहार निर्मित होने लगे। तक्षशिला, नालन्दा, मथुरा, सारनाथ के विहार इसी कोटि के हैं। जनता में धीरे-धीरे बौद्ध संस्कृति के प्रति उत्साह एवं आदर बढ़ने लगा जिसके परिणामस्वरूप धनी-मानी लोगों ने भिक्षुओं के लिए 'विहार' निर्माण शुरू कर दिया। नालन्दा विश्वविद्यालय में दस हजार विद्यार्थी अध्ययनरत थे, तो एक हजार भिक्षु अध्यापन कार्य करते थे। ये सभी एक ही विहार में रहते थे। नालन्दा के विहार डेढ़ कि०मी० में फैले थे। कम आयु के भिक्षुओं के लिए शिक्षा का प्रबन्ध भी जरूरी हो गया। अपेक्षा थी कि शिक्षा प्राप्ति के उपरान्त ये भिक्षु जनता में धर्म का प्रचार भी करें। इस प्रकार विहार शिक्षा केन्द्र भी बनने लगे। कालान्तर में बौद्ध धर्म से सम्बन्धित बहु-उद्देश्यी भवनों का निर्माण होने लगा, जहां आवास व्यवस्था हो, शिक्षण कार्य चले तथा बौद्ध संस्कृति से सम्बन्धित ग्रन्थ, अभिलेख, चित्र आदि अलभ्य वस्तुओं के संग्रह हों—मठों, गोम्पाओं की यही शुरुआत रही होगी। इसी की ओर संकेत करते हुए लद्दाख के गोम्पाओं के सन्दर्भ में श्री अशोक जेरथ ने लिखा है—"कभी ये इमारतें ज्ञान का भण्डार रही हैं और उच्च शिक्षा का माध्यम भी। आज भी इनके प्रकोष्ठों में अनेक हस्तलिखित पाण्डुलिपियां, अनुपलब्ध पुस्तकें, मूर्तिकला के अनुपम नमूने तथा पूजा में प्रयोग होने वाले विभिन्न बर्तन और दूसरा कीमती

सामान, रेश्मी वस्त्र पर चित्रित, तस्वीरें, जिन्हें 'थंका' की संज्ञा दी जाती है, संग्रहीत हैं। इन इमारतों को बौद्ध मन्दिर या गोम्पा कहा जाता है।"

टाशी जौंग : नालन्दा-तक्षशिला की झलक

हिमाचल प्रदेश की मनोरम कांगड़ा घाटी में, पालमपुर-बैजनाथ सड़क पर, पुन्न खड्ड् के तट पर एक पहाड़ी चोटी पर अवस्थित टाशी जौंग गांव अपने नाम के अनुरूप ही स्वर्ग के समान है। सन् 1961 में राजनीतिक कारणों से महामहिम दलाई लामा ने भारत में शरण ली तो उनके अनुयायी तिब्बती लोगों ने 'झिकुली भेठ' पंचायत की सीमा में अपने ढंग का यह गांव आबाद किया। 'टाशी जौंग' का शाब्दिक अर्थ है स्वर्गाश्रम या स्वर्गधाम। स्वर्ग तो यह है ही—पृष्ठभूमि में धौलाधार की बर्फीली चोटियां, पल-पल बदलते प्रकृति के रंग, ऊंची-नीची पगडंडियों पर अवस्थित भवनों पर लहराती रंगीन पताकें तथा गेरुआ वस्त्रधारी लामाओं के कंठ से गुंजायमान होता 'ॐ मणि पद्मे हुम' मन्त्र का स्वर। यह क्षेत्र आध्यात्मिकता, विशेषकर बौद्ध संस्कृति का केन्द्र बन गया है। टाशी जौंग के अतिरिक्त बीड़ तथा भट्टू में भी यही संस्कृति सम्मुख आती है।

स्मरण रहे कि कांगड़ा जिला के मुख्यालय धर्मशाला से नौ कि०मी० की दूरी पर स्थित मैकलॉड गंज में तिब्बितयों के धर्मगुरु महामहिम दलाई लामा का निवास है। यह तिब्बत की निर्वासित सरकार का मुख्यालय भी है। तिब्बती लोग कहीं भी रचे-बसे हों, मार्गदर्शन हेतु इधर ही दृष्टि रखते हैं। यहां राजनीतिक गतिविधियां तो हैं ही, अपने लोगों की सुरक्षा एवं कल्याण का संकल्प भी। आध्यात्मिक परिवेश ने समस्त क्षेत्र को नई रंगत दी है।

टाशी जौंग की स्थापना का श्रेय लामाओं के सम्प्रदाय के एक गुरु 'धुंजु निमा' को दिया जाता है, जिन्होंने अपने दस-बारह अनुयायियों के संग यहां 'फुंसो छछोरलिंग' बौद्ध मन्दिर का निर्माण करवाया। यहां गुरु प्रथा का प्रचलन है और गुरु आज्ञा ही सर्वोपरि है। सन् 1994 की यात्रा के समय पाया गया कि उस समय के पंद्रह वर्षीय गुरु 'खंतुल रिपौछे' की शिक्षा-दीक्षा साठ वर्षीय गुरु अच्चु की देख-रेख में चल रही थी।

मन्दिर में भगवान बुद्ध की विशाल प्रतिमा है तो गुरु अच्छुबे की मूर्ति भी। तारा देवी (दूसरी महाविद्या) यहां 'जिप्सुनड्डुम' के रूप में विराजती हैं। महात्मा बुद्ध की विशाल प्रतिमा के आगे भुटान नरेश द्वारा उपहारस्वरूप भेंट की गई, अन्य आराध्य देव 'छुटिन' की मूर्ति भी स्थापित है। यहां के धार्मिक लोगों का दिन

प्रातःकालीन पूजा-अर्चना से शुरू होता है। अपनी परम्परागत पोशाक में लामा जब प्रार्थना में तल्लीन हो जाते हैं, तो देखते ही बनता है। ऐसे ही दृश्य तक्षशिला तथा नालन्दा में नित्य-प्रति देखने को मिलते होंगे। वहां की झांकी प्रस्तुत करता हुआ यह स्थान सचमुच बौद्ध संस्कृति का केन्द्र है। शुरू-शुरू में इस गांव की जनसंख्या छह सौ के लगभग थी और उनमें से सवा सौ के लगभग लामा थे। एक घर से एक व्यक्ति तो लामा बनता ही है, कभी-कभी यह संख्या बढ़ भी जाती है। यह परम्परा निर्वाध गति से लागू है। कभी-कभी आठ-दस वर्ष के बच्चे भी लामा का जीवन अपना लेते हैं। उन्हें अविवाहित रहना होता है, भौतिक सुख-सुविधा का परित्याग कर धार्मिक गतिविधियों के प्रति जीवन समर्पित करना होता है।

यहां के निवासियों का अलग समाज है और उसकी परम्पराएं भी उसके अनुरूप ही। इस समाज में नारी एवं पुरुष को समान अधिकार प्राप्त है। लड़की परिवार में बोझ नहीं समझी जाती क्योंकि यह समाज दहेज के अभिशाप से मुक्त है। विवाह परम्परागत रीति-रिवाज से सम्पन्न होते हैं। इस समाज में घर-जमाई पद्धति का भी प्रचलन है। लड़की विवाहोपरान्त भी पहले की भान्ति स्वतन्त्र होती है। यहां एक प्रथा यह भी है कि मृतक का अन्तिम संस्कार तत्काल नहीं किया जाता। लामा इस संस्कार के लिए मुहूर्त निकालते हैं।

साधारण वेश-भूषा धारण करने वाले तिब्बती संगीत तथा नृत्य में विशेष रुचि रखते हैं। संगीत की अनुपम मधुरिमा होती है, तो नृत्य, जिनमें विशेष अवसरों पर मुखौटों का भी प्रयोग होता है, स्थानीय लोगों एवं पर्यटकों को आत्मविभोर कर देते हैं। उन्मुक्त प्रकृति के मध्य बसने वाले ये लोग, आवश्यकता पड़ने पर आयुर्वेदिक औषधियों तथा जड़ी-बूटियों का ही सेवन करते हैं। व्यवसाय इनके जीवन का आधार है। सुन्दर कालीनों तथा गलीचों की कला के ये धनी माने जाते हैं। इनके ये उत्पाद देश-विदेश में अच्छी कीमत पर बिक जाते हैं। अध्यात्मोन्मुख यहां का क्रियाशील जीवन, प्राकृतिक परिवेश में, निश्चय ही स्वर्ग की रचना कर देता है।

ताबो बौद्ध विहार : अनुपम काष्ठ कला

लगभग एक हजार वर्ष पुराना ताबो बौद्ध विहार समुद्र-तल से 3280 मीटर ऊंचाई पर अवस्थित जिला लाहौल-स्पीति के ऐतिहासिक ग्राम ताबो की विशेष पहचान है। विहार के एक भित्ति-चित्र को साक्ष्य मान, यह स्वीकार किया जाता है कि इस विहार की स्थापना 996 से 1000 ई० के मध्य तिब्बत के तात्कालिमा गूगे के शासन काल में हुई थी। इस विहार के निर्माता रिन-चेन-जाम्पो तिब्बत के

प्रख्यात विद्वानों में से थे, परन्तु इनकी शिक्षा-दीक्षा भारत में हुई थी और यहीं इन्होंने बौद्ध धर्म की दीक्षा ली थी। इनकी धार्मिक एवं साहित्यिक सेवाओं के लिए इन्हें 'रत्भद्र' उपाधि से अलंकृत किया गया।

ताबो विहार का स्थापत्य निराला है तो यहां की मूर्तिकला भी अनुपम है। लकड़ी तथा बालू-मिट्टी और चूने के मिश्रण से निर्मित एक हजार वर्ष पुराना यह विहार, आंधी-तूफान तथा अनेक प्राकृतिक थपेड़ों का सामना करते हुए भी आज अच्छी-खासी हालत में है। यह वास्तु कला की विशिष्टता है, तो दूसरी ओर हमारे धार्मिक विश्वास को भी इस स्थिति से दृढ़ता मिलती है। विहार के आसपास आठ फीट ऊंची प्राचीर है। परिसर में छोटे-बड़े अनेक स्तूपों का भव्य निर्माण है। इस विहार में नौ देवालय हैं, जिनमें धार्मिक विधि-विधान से पूजा की व्यवस्था है। इसे 'हिमाचल की अजन्ता' का सम्मान प्राप्त है। मुख्य मन्दिर में वैरोचन की चतुर्मुखी सफेद पलस्तर प्रतिमा है, जिसके नीचे रिन-चान-सांग-पो की दो मूर्तियां हैं।

विहार की कांस्य एवं गच मूर्तियां आकर्षक हैं, तो कलात्मक भी। भित्ति-चित्र भी इस विहार की गरिमा का कारण हैं। हजारों वर्ष व्यतीत होने पर भी भित्ति-चित्र तथा मूर्तियां अपने मूल स्वरूप में ही हैं। देवालयों के कुछ भागों में महात्मा बुद्ध के जीवन की घटनाएं भित्ति-चित्रों के माध्यम से दर्शायी गई है। कतिपय भित्ति-चित्रों में महात्मा बुद्ध अपने शिष्यों के साथ वार्तालाप करते दिखाए गए हैं। ये भित्ति-चित्र देवालय के सभी कक्षों की दीवारों का शृंगार करते हैं। इनमें सजीवता एवं सप्राणता है। 'किब्बर' बौद्ध मठ में भी प्राचीन बौद्ध प्रतिमाएं तथा प्राचीन ग्रन्थ हैं।

विहार का सहस्राब्दिक समारोह एक हजार वर्ष की पूर्ति पर इस दृष्टि से अविस्मरणीय रहेगा कि इसमें अनेकानेक देशों के बौद्ध भिक्षु सम्मिलित हुए। पुरातात्विक महत्त्व की वस्तुओं में रुचि रखने वालों के लिए यह विहार शोध का अवसर प्रदान करता है। यहां श्रद्धालु तथा पर्यटक दो मार्गों से पहुँच सकते हैं, एक मार्ग है—मनाली से रोहतांग दर्रा, कुंजम दर्रा—268 कि०मी० की यात्रा। शिमला से रामपुर ज्योरी, बांगतु, पुह, पुरलिंग से ताबो 370 कि०मी० का सफर है। लाहुल-स्पीति का सुहाना परिदृश्य यात्रा के लिए स्फूर्ति प्रदान करता है।

'की' विहार

स्पीति नदी के बायें तट पर खीबर तथा काजा के तट पर स्थित 'की' स्पीति वादी का सबसे बड़ा विहार है। ग्यारहवीं शती के आरम्भ में निर्मित यह विहार एक पर्वतीय किला सदृश दिखाई देता है। अनेक आक्रमणों का सामना करते हुए भी

यह विहार अठारहवीं शती तक अपने अस्तित्व को बनाए रखने में सफल रहा। सन् 1834 के डोगरा आक्रमण के समय इस विहार की, आग लगने से, काफी क्षति हुई, परन्तु विहार की चल सम्पत्ति को भिक्षुओं ने बचा लिया। इस विहार में पांच गोंपा हैं, जो केन्द्र में स्थित हैं। इन सबमें महात्मा बुद्ध की प्रतिमाएं है, जो अपने सामने नत श्रद्धालुओं पर करुणा की वर्षा कर रही हैं। मूर्ति के दोनों ओर लकड़ी की पेटियां हैं, जिनमें तिब्बती ग्रन्थ एवं भाष्य रखे हैं। दीवारें थंका (चित्रावलियों) से श्रृंगारित हैं। ये पुस्तकों का भी अंग है। 'की' के अवशेषों में इन चित्रावलियों का विशिष्ट स्थान है। केन्द्रीय कक्ष में दो मूर्तियां स्थापित हैं—एक मूर्ति देवी तारा (युम चेनमो) की है तो दूसरी रस्गाजिंग्स (अवलोकितेश्वर) की। मन्दिर के सामने अवस्थित पुस्तकालय में भी अनेक मूर्तियां हैं।

लामावाद के तीन प्रमुख पंथ हैं—गु-इंग-पा पंथ, सा-स्क्या-पा पंथ तथा द्र-उग-पा पंथ! स्पीति के तीन विहार—की विहार, काजा विहार तथा पीन विहार क्रमशः इन पंथों का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये विहार ग्रामों से दूर ऊंचे स्थानों पर निर्मित हैं और इनमें मन्दिरों के अतिरिक्त सार्वजनिक कक्षों, जलपान कक्षों, भण्डार घर, निवासादि की भी व्यवस्था है। भण्डार घरों में दैनिक प्रयोग की वस्तुओं के अतिरिक्त वस्त्रों, शास्त्रास्त्र, नगाड़ों, मुखौटों आदि का भी भण्डारण होता। धार्मिक नाटकों, नृत्यों आदि में विभिन्न वाद्यों, मुखौटों आदि का प्रयोग होता है।

ल्हा-कुन विहार

धनकड़ के निकट अवस्थित बौद्ध विहार ल्हा-कुन महत्त्वपूर्ण विहारों में से है। रिन-चिन-सांग-पो के समय में निर्मित नौ मन्दिरों में से आठ का ध्वंस मंगोलों ने सत्रहवीं शती में कर दिया था, अब केवल एक शेष है। मन्दिर के केन्द्र में लकड़ी की बेदी है, जिस पर लकड़ी की बुद्ध मूर्ति स्थापित है। नीचे तांबे-चांदी का घी का दीपक प्रज्वलित होता है। पांच कलात्मक पट्टियों में महात्मा बुद्ध और उनसे सम्बन्धित दृश्य प्रदर्शित हैं, जिनके विषय धुंधला गए हैं।

कनाम (किन्नौर) के विहार

श्री रिन-चान-सांग-पो ने कनाम में सात छोटे-बड़े विहारों का निर्माण करवाया था। प्रमुख गोंपा गांव के ऊपरी सिरे पर हैं। विहार के पच्चीस कक्षों में लामावाद के विश्वकोशों—कंजूर एवं तंजूर की प्रतियां सुरक्षित हैं। मन्दिर में स्थापित महात्मा

बुद्ध की प्रतिमा गिल्ट कांसे से निर्मित हैं। इसमें बाल घुंडीदार नीले रंग के हैं।

ग्यारहवीं शती में निर्मित पूह विहार में महात्मा बुद्ध की पलस्तर प्रतिमा है, जिसमें उन्हें बैठा हुआ दिखाया गया है। महात्मा बुद्ध के दो प्रसिद्ध शिष्यों सारिपुत्र तथा मौद्‌गल्यायन की भी यहां दो मूर्तियां हैं। इनके सामने दो मूर्तियां अवलोकितेश्वर की भी हैं—एक लकड़ी की और दूसरी पलस्तर की। यहां चित्रांकित पांडुलिपियां भी प्रदर्शित हैं।

रिम्पोचे मठ : बौद्ध संस्कृति की पहचान

भारत में बौद्ध धर्म से सम्बन्धित अनेक मठ हैं, परन्तु बौद्ध धर्म एवं संस्कृति की सही पहचान करवाने वाले अधिकांश मठ सिक्कम में स्थित हैं! प्रधान हैं—रुमतक मठ, काग्यात मठ, इजने मठ इत्यादि। हिमाचल में इसी कोटि का मठ है--रिम्पोचे मठ, जो रेवालसर मंडी से 28 कि०मी० की दूरी पर अवस्थित है। रिम्पोचे पद्य संभव मठ पांच सौ वर्ष पुराना है। हिमाचल की चित्ताकर्षक वादियों में स्थित यह मठ श्रद्धालुओं के आकर्षण का केन्द्र तो है ही, पर्यटक भी इधर खिंचे आते हैं। ढोल-नगाड़े के मधुर स्वर के संग गूंजती हुई पावन ध्वनि 'ॐ अः हुंग वजर गुरु पद्‌म सिद्धि हुंग' श्रोता को बरबस अपनी ओर खींच लेती है।

भारत में जितने भी बौद्ध मठ हैं, उनके संचालन हेतु यथासम्भव आर्थिक सहयोग तिब्बत एवं सिक्कम के श्रद्धालुओं से प्राप्त होता है। महामहिम दलाई लामा का धर्मशाला स्थित मुख्यालय इस व्यवस्था के प्रति अति सजग है। रिम्पोचे मठ की समुचित व्यवस्था इस कारण भी आवश्यक हो जाती है कि इसने अब तक भगवान तथागत के विचारों एवं उद्देश्यों को शाश्वत रखने तथा जन-जन तक पहुंचाने में महंती भूमिका अदा की है। सच्चाई तो यह है कि यह मठ बौद्ध संस्कृति की पहचान बन गया है।

रिम्पोचे मठ दूसरे बुद्ध पद्य सम्भव के अवतार की पूजा-स्थली है। इसमें आठ से पच्चीस वर्ष की आयु के विद्यार्थियों का शिक्षण लामाओं द्वारा होता है, जिनकी संख्या, आवश्यकतानुसार घटती-बढ़ती रहती है। इन विद्यार्थियों के परिजनों एवं अन्य श्रद्धालुओं के आवास की भी यहां व्यवस्था है। विद्यार्थी प्रातः ही नित्य कर्म से निवृत्त होकर मठ के आंगन में पंक्तिबद्ध होकर, महात्मा बुद्ध के अष्टपदों आदि का सस्वर पाठ करते हैं। शिक्षा का स्वरूप परम्परागत है। आज, वैश्वीकरण के युग में जब शिक्षा के क्षेत्र में नित्य-प्रति प्राचीन पाठ्‌यक्रम के साथ जीवनोपयोगी विषयक्रम जोड़कर इसे प्रासंगिकता प्रदान की जा रही है, इन विद्यार्थियों को

परम्परागत धार्मिक शिक्षा तक सीमित रखना, इनके प्रति अन्याय ही होगा। यदि ऐसा आर्थिक संसाधनों की कमी के कारण ही, तो समाज का दायित्व बन जाता है कि वह इस ऐतिहासिक प्राचीन संस्थान की गरिमापूर्ण पहचान को केवल बनाए ही न रखे, अपितु गति भी दे। श्रद्धालुओं की श्रद्धा की पहचान तथागत की स्थापित मूर्ति की पूजा-अर्चना तक ही सिमटनी नहीं चाहिए, इसे लोक-कल्याण की बयार के स्पर्श का मौका भी मिलना चाहिए।

साग्ङा गोम्पा : आध्यात्मिकता का केन्द्र—दलाई लामा का कानून नहीं

स्पिति का सर्वाधिक दुर्गम तथा प्राचीन गोम्पा साग्ङा काजा से लगभग 15 कि०मी० की दूरी पर समुद्र-तल से करीब साढे पंद्रह हजार फीट की ऊंचाई पर अवस्थित है। कत्थई रंग का यह धर्मस्थल लामा 'छो आंग अगरूप' के अनुसार प्राचीन तथा विख्यात है। मान्यता है कि यह गोम्पा नौ सौ वर्ष पुराना है और भोटी भाषा में इसकी ख्याति गुरुकुल के रूप में है।

इस गोम्पा की विचित्रता यह है कि यहां तिब्बती धर्मगुरु दलाई लामा के आदेश तथा नियम-कायदे मान्य नहीं। यहां तो देहरादून के सांग्ङा गोम्पा के आदेशों को स्वीकार किया जाता है। गोम्पा के लामा 'सांग्ङा डोमा फोटंगलामा' को अपना आध्यात्मिक गुरु स्वीकारते हैं। इस आध्यात्मिक गुरु को यहां महामहिम दलाई लामा सदृश श्रद्धा-सम्मान प्राप्त है। यहां से आध्यात्मिक एवं परम्परागत शिक्षा प्राप्त कर विद्यार्थी बौद्ध धर्म के प्रचार का धर्म निभाते हैं। लामा 'छो आंग अगरूप' भी यहां के छात्र थे और यहीं शिक्षक भी बने! यहां मुखिया का पद वरीयता के आधार पर तय होता है। शिक्षा का माध्यम भोटी भाषा है।

बर्फबारी के कारण जब इस स्थान का सम्पर्क एक प्रकार से, दुनिया से कट जाता है, तब भी यहां चहल-पहल तथा उल्लास का वातावरण रहता है। लामाओं के लिए अविवाहित रहना आवश्यक है! अभोज्य पदार्थों का सेवन निषिद्ध है, परन्तु आम लोगों पर यह बन्धन नहीं। उल्लास के क्षणों में आम जन आराव छंग (जौ की देसी शराब) का सेवन कर नृत्य करते हैं। महिला भिक्षुणियां 'चीमा' सम्बोधन से जानी जाती है और लामाओं की भान्ति उन्हें भी आध्यात्मिक एवं सादा जीवन-यापन करना होता है। वे गोम्पा में प्रवेश का अधिकार नहीं रखतीं। वास्तव में ये त्याग-तितिक्षा की मूर्ति होती हैं। वैसे भी आवादी से दूर, बर्फीले पहाड़ों में जीवन-यापन त्यागपूर्ण ही तो है।

कुन्नू चारंग बौद्ध मन्दिर

हिमाचल प्रदेश के किन्नौर जिला की सीमाएं तिब्बत से मिलती हैं। इस अन्तर्राष्ट्रीय सीमा के निकट बसे हैं दो गांव—कुन्नू तथा चारंग! ये गांव समुद्र-तल से ग्यारह हजार पांच सौ फीट की ऊंचाई पर स्थित है, छह मास बर्फ से ढके रहते हैं और इन गांवों की जनसंख्या 400-500 से अधिक नहीं। इन गांवों के किनारे पर स्थित है चारंग बौद्ध मन्दिर! इस मन्दिर को 'सिंगरि गाटो' का नाम भी प्राप्त है।

दूर-दराज क्षेत्र में अवस्थित इस बौद्ध मन्दिर की अनुपम मूर्तियां तथा चित्रात्मक कृतियां कम आश्चर्यजनक नहीं। इस क्षेत्र के अन्य बौद्ध धामों में यह प्राचीनतम है, परन्तु इसके निर्माण काल के विषय में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। एक जनश्रुति है कि अवतारी लामा 'रिन छन जड़पो' इसके संस्थापक थे। मन्दिर में प्रधान मूर्तियों में से एक भगवान चो सांझायस नभ परनाज्जेद की है। इसके नीचे विराजमान मूर्ति मन्दिर की रक्षिका देवी शुभ्रा (राडरिग शुडमा) की है। सन् 1971 में गेल्हुन बड़सेन दोरजे ने मन्दिर की बाहरी दीवार का संस्कार करवाया। इसी समय बाहर के बरामदे में चित्र भी बने। मन्दिर में लकड़ी का मुख्य रूप से प्रयोग हुआ है। यह हैरानी की बात है कि किस तरह यहां लकड़ी के भारी-भरकम शहतीर लाए गए। मन्दिर में मुख्य प्रतिमा महात्मा बुद्ध की है, जिसके आसपास सोलह मूर्तियां दीवार में अंकित हैं। इसके नीचे सुनहरी अक्षरों में एक तिब्बती उल्लेख है। कैलाश की परिक्रमा करने वाले श्रद्धालुओं के लिए इस मन्दिर की परिक्रमा का नियम है, नहीं तो परिक्रमा अपूर्ण मानी जाती है।

मनाली का प्राचीन गोम्पा

मनाली की दाना मंडी के पास हिमाचल के अन्य तिब्बती-बहुल क्षेत्रों की भान्ति, छोटा-सा तिब्बती उपनगर बसा है। वैसे तो नदी पार की रोहतांग जाने वाली सड़क पर भी कई किलोमीटर क्षेत्र में तिब्बतियों के छोटे-बड़े निवास हैं, परन्तु दाना मंडी के निकट तो इन लोगों की अपनी अलग ही दुनिया है। पूजा-अर्चना के लिए भी इस दुनिया की अलग पहचान है।

यहां के बौद्ध मन्दिर (गोम्पा) के 15-20 फीट ऊंचे चबूतरे पर महात्मा बुद्ध की छत तक ऊंची प्रतिमा स्थापित है। पीले वस्त्रों में आवृत्त इस प्रतिमा के नेत्रों में एक स्वर्गिक तेज है। इस प्रतिमा के दोनों ओर भिक्षा पात्र हाथ में लिए हुए भिक्षु एवं शिष्य हैं। लामा जीवन का कोई भी क्षण व्यर्थ व्यतीत नहीं करना चाहते, प्रत्येक क्षण पूजा-अर्चना निमित्त है। निकट के कक्ष में धर्मचक्र स्थापित है, जो

लगभग निरन्तर उपयोग में आता रहता है। आकार तथा बनावट में भी यह धर्मचक्र अद्भुत है। श्रद्धालुओं का विश्वास है कि बौद्ध धर्मग्रन्थों के पठन-पाठन से जो पुण्य लाभ प्राप्त है, वही धर्मचक्र के घुमाने से भी सुलभ है। बाहर रखे पीतल के पात्रों पर प्रार्थना मन्त्र 'ओ३म् मने पद्माहम' उकेरा हुआ है। खुले स्थान पर बीस फीट लंबा-चौड़ा और लगभग इतना ही ऊंचा धर्म स्मारक चिह्न 'छोरतिन' निर्मित है। यह कपड़े की पताकाओं से अलंकृत है। इस बौद्ध मन्दिर में धार्मिक पुस्तकें तथा हस्तलिखित पांडुलिपियां भी उपलब्ध हैं।

इस प्राचीन बौद्ध मन्दिर के 200-300 मीटर के फासले पर 'बाहर से चीनी वास्तुशिल्प का प्रतीक' एक नया गोम्पा भी निर्मित है। मुख्य द्वार से अन्दर प्रवेश करते ही चारों ओर तिब्बती विहार की भान्ति, छोटे-छोटे कमरे दीखते हैं। आंगन के मध्य में स्थित भव्य भवन में महात्मा बुद्ध की प्रतिमा एक ऊंचे प्लेटफार्म पर स्थापित है। इसके दाएं-बांएं वैसी ही मानवाकार कलात्मक प्रतिमाएं हैं। ये कांसे की मूर्तियां इतनी ऊंची हैं कि छत को छूती हैं! अनेकानेक प्रकार से अलंकृत मूर्तियां श्रद्धालुओं की धर्मनिष्ठा की प्रतीक हैं। भवन के स्तम्भों, छत तथा प्राचीरों पर हुई मीनाकारी भी अनुपम है। लामा लोगों की कार्यपटुता तथा धर्मनिष्ठा सम्बन्धी उल्लेख है—"लामा लोग मूर्ति निर्माण कला, चित्रकला, और हस्तकलाओं में प्रवीण हैं। बढ़िया और बड़े-बड़े डिज़ाइनों वाले ऊनी गलीचे और शॉल बनाने में निपुण हैं। धर्म में निष्ठावान हैं, व्यापार भी करते हैं।[1]

गुरु घंटाल गोम्पा

लाहौल-स्पिति घाटी में चन्द्रा एवं भागा नदी के संगम स्थल के कुछ दूर गुरु घंटाल गोम्पा स्थित है। इस गोम्पा की स्थापना बौद्ध गुरु पद्मसंभव द्वारा हुई थी। यह पिरामिडकार, काष्ठ ढांचा है। कुछ लोगों का यह मत है कि इसे बौद्ध मन्दिर के रूप में मान्यता मिलने से पूर्व, यहां एक हिन्दू मन्दिर था। बौद्ध धर्म के चौरासी सिद्धों में से एक गुरु घंटाल नाम के सिद्ध थे, जिन्होंने यहां तपस्या की थी। उन्हीं के नाम पर इस धर्मस्थल का यह नामकरण हुआ। शाशुर गोम्पा तथा कारदंग गोम्पा भी हिन्दू-बौद्ध श्रद्धालुओं की श्रद्धा के केन्द्र हैं।

आल्वी का बौद्ध मन्दिर

आलवी (लद्दाख) का बौद्ध मन्दिर बौद्ध दर्शन एवं कला का विशाल भंडार है। लद्दाख में प्राचीन गोम्पाओं के संस्थापक बौद्ध गुरु रिनचनजंग्पो स्वीकार किए जाते

---

1. ब्यास तीरे : प्रो० इन्द्रनाथ चावला—प्रवेश प्रकाशन पटियाला (पृष्ठ 111)

हैं, जिन्होंने दसवीं शती में अनेक स्थानों पर बौद्ध मठ तथा मन्दिर स्थापित किए। न्यारमा बौद्ध मन्दिर इन सबमें प्राचीन तथा वैभवपूर्ण था।

आल्वी मन्दिर वास्तव में अनेक मन्दिरों का समूह है, जिनके कलात्मक भित्ति-चित्र समूचे विश्व में चर्चित रहे। इन सबके मध्य में स्थित है सुमसेक मन्दिर, जिसके द्वार पर दो चौतन (पवित्र कुंभ) एक साथ स्थित है। मन्दिर के फलकों पर लकड़ी की अद्भुत मीनाकारी है। दूसरी मंजिल लकड़ी के तराशे हुए स्तम्भों पर टिकी है, जिसके मध्य त्रिकोण भित्तियों पर महात्मा बुद्ध उकेरे गए हैं। मध्य में विशालकाय चौतन है जिसके तीन ओर तीन मीटर चौड़े मंचों पर बौद्धित्व की विशाल मूर्तियां हैं। इन मूर्तियों का आकार नौ फीट से चौदह फीट तक का है। सबसे बड़ी मूर्ति मैत्रेय की है, जो दूसरी मंजिल तक विस्तृत है। इस मूर्ति के पास गोम्पा का इतिहास उकेरा गया है। दूसरा बड़ा प्रकोष्ठ 'दुखांग' सभागृह है, जिसमें भिक्षु पूजा-अर्चना करते हैं। सभागृह के केन्द्र में वैरेचना, अनुचरों सहित, विद्यमान है। बड़े कमरे में वैरेचना और महात्मा बुद्ध के सहस्रों भित्ति-चित्र हैं। सभागृह के खुले आंगन में पर्व मनाए जाते हैं। आम सभाएं भी यहीं होती हैं।

बौद्ध गोम्पा, धर्मशाला

धर्मशाला का मैकलाड गंज लामाओं का नगर तथा एक प्रकार से 'मिनी ल्हासा' है। यहीं पर बौद्ध धर्म-गुरु महामहिम दलाई लामा का निवास तथा तिब्बत की निर्वासित सरकार का मुख्यालय है। खड़ा ठंडा मार्ग पर, दलाई लामा के निवास के सामने ही गोम्पा अवस्थित है। इस क्षेत्र में 'ओऽम् मणि पद्मे हुम' मन्त्र की गूंज प्रायः सुनाई देती है। गोम्पा का विशाल पांडाल विशेष रूप से सुसज्जित है। दीवारों पर 'थांगा' लटकी हुई हैं। स्मरण रहे कि 'थांगा' से अभिप्राय कपड़े पर 'पेंट' की गई महात्मा बुद्ध की जीवन की झांकियों से है। गोम्पा की अलमारियों में सुन्दर जिल्दों में बंधे 'कंजु' (लामा धर्म की शिक्षाओं पर आधारित ग्रन्थ) सुरक्षित हैं। पुरुष लामा, जहां गोम्पा में ही निवास करते हैं, वहां 'जम्मो' (स्त्री लामा) के आवास की व्यवस्था गोम्पा से दूर नीचे बस्ती में है। अधिकांश 'जम्मों' पहले निरक्षर थीं, परन्तु इनमें भी शिक्षा का प्रसार हो रहा है। पुरुष लामा शिक्षित हैं। परम्परा के अनुसार बौद्ध लामाओं के लिए सर्वोच्च डिग्री 'गीशे' है, जिसके चार रूप हैं—हरम्पा गीशे, थोकरम्पा गीशे, धोरम्पा गीशे तथा लिंगसे गीशे! देश-विदेश से बौद्ध विद्वान् एवं अनुयायी यहां महामहिम दलाई लामा के दर्शन तथा इस बौद्ध मन्दिर में शिक्षा-ज्ञान प्राप्ति हेतु आते हैं।

□□□

हिमाचल : मेले एवं त्यौहार

मेला मिलन, मौज-मस्ती, नृत्य-गायन और धूम मचाने का संकेतक है। 'मेला' शब्द 'मेल' की भाववाचक संज्ञा है और इसका भाव है मिलने या इकट्ठे होने की प्रक्रिया! मेलों की शुरुआत कैसे हुई, यह कहना कठिन है। केवल अनुमान ही सम्भव है। आयोजन का उद्देश्य शायद धार्मिक या सामाजिक आवश्यकता रहा हो। जिस समय यातायात के साधन अत्यल्प थे, शायद किसी दूरदर्शी सामाजिक ने मिल-बैठ, दुःख-सुख बांटने और दैनिक उपयोग की वस्तुओं के आदान-प्रदान को दृष्टि में रखकर किसी निश्चित स्थान एवं तिथि पर एकत्रित होने की व्यवस्था को 'मेले' के रूप में साकार किया हो। दुःख-दर्द बांटने की भावना को प्रमुखता देते हुए डॉ० गौतम शर्मा 'व्यथित' ने लिखा है—"पहाड़ी जीवन का दुःख-दर्द उत्सव, त्यौहार एवं मेलों में भूलता-विसरता नए जीवन का सूत्रपात करता है। उनके दुःख-दर्द बंट जाते हैं। वह नाचता-गाता मीठे-नमकीन पकवानों के स्वाद में जीवन की विद्रूपताओं को हंसता-खेलता निगल जाता है। उनमें उनकी भावनाएं खिलती हैं, आशाएं साकार होती हैं, वर्तमान नाचता तथा भविष्य सरसता है।[1] इस कथन में अभिव्यक्त भावना को किसी एक क्षेत्र तक सीमित रखना उचित नहीं होगा। आज के बहुआयामी मेलों का क्षेत्र तो सार्वजनीन तथा सार्वदेशिक हो गया है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और सामाजिकता की यही भावना उसे मिलने-जुलने और इस प्रकार के अवसर जुटाने की प्रेरणा देती है। लगभग हर गांव तथा नगर में इसी दिशा में प्रयास होता रहा है। कुछ मेले स्थानीय घटनाओं तथा व्यक्तियों से जुड़े रहते तो अन्य क्षेत्रीय या प्रादेशिक आयाम रखते हैं। अधिकांश मेलों का स्वरूप धार्मिक होता है। मेले सामुदायिक और व्यावसायिक भी होते हैं। वास्तव में आज तो इनका स्वरूप मिश्रित-सा होता जा रहा है। मेले का स्वरूप चाहे कैसा भी हो, इसका स्थानीय इतिहास, संस्कृति तथा सामाजिक सन्दर्भ से सीधा सम्बन्ध रहता है। पर्वों तथा मेलों का सम्बन्ध ऋतुओं से भी जोड़ा जाता है।

1. हिमाचल प्रदेश : लोक-संस्कृति और साहित्य—डॉ० गौतम शर्मा 'व्यथित' (पृष्ठ 80)

इसी सन्दर्भ में हिमाचल के मेलों की चर्चा करते हुए डॉ० गौतम शर्मा ने लिखा है—'सर्दी ढलते ही बसन्त की मुस्कान के साथ होली नाचने लगती है। पहाड़ों का मटमैला आंचल बासन्ती फूलों से महकता और रंग-बिरंगी छाया से सजने लगता है। घाटियां, गांव छिंज—मेलों की चहल-पहल, गीत-संगीत तथा ढोलों की आवाज से गूंजने लगते हैं। चेत्र में शुभ संवत् का आरम्भ, ढोलरू गीतों में नवरात्रि के आनुष्ठानिक पर्व तथा भगवती मन्दिरों की जातराएं एवं मेले, प्रत्येक का मन मोहने लगते हैं।[1]

हिमाचल के हर छोटे-बड़े मेले का परिचय देना सम्भव नहीं। कतिपय प्रसिद्ध मेलों की जानकारी आवश्यक है।

मिंजर मेला

भारत के प्राचीनतम राज्यों में से एक है चम्बा, जिसकी पहचान मन्दिरों की नगरी, कला नगरी, मनोरम पर्यटन नगरी के रूप में तो है ही, मानसून के सुहाने मौसम में आयोजित होने वाले मिंजर मेले ने उसे अलग ही पहचान दी है। राज्य सरकार ने तो इसे 'राज्य स्तरीय' मेला घोषित कर रखा है, परन्तु अब इस मेले की ख्याति हिमाचल की सीमाओं को लांघ कर समूचे देश में हो चुकी है।

मिंजर मेले की शुरुआत के सम्बन्ध में रोचक वृत्त उपलब्ध हैं। इनका सम्बन्ध चम्बा के शासक साहिल वर्मा से है। एक दिन चम्बा में एक महात्मा का आगमन हुआ और उसे चंपावती के मन्दिर में ठहरा दिया गया। स्मरण रहे कि दसवीं शती में इस मन्दिर का निर्माण राजा साहिल वर्मा ने अपनी बेटी की स्मृति में करवाया था। तेजस्वी महात्मा के दर्शन हेतु श्रद्धालुओं की भीड़ जुटने लगी। महात्मा जी जिस किसी व्यक्ति के सिर पर आशीर्वाद का हाथ रख देते, वह सभी चिन्ताओं से मुक्त हो जाता। महात्मा की ख्याति सुन नरेश ने अपने दरबारियों सहित उनके दर्शन कर, आशीर्वाद प्राप्त किया। राजा महात्मा के भक्त बन गए। कहते हैं कि उन दिनों रावी नदी उस स्थान पर प्रवाहित थी, जहां आज चम्बा का प्रसिद्ध चौगान है। रावी नदी के दाहिने तट पर चंपावती मन्दिर था तो दूसरी ओर हरिराय मन्दिर! हरिराय मन्दिर जाने के लिए श्रद्धालुओं को रावी नदी तैरकर पार करनी पड़ती थी। समस्या उन लोगों के लिए थी, जिन्हें तैरना नहीं आता था। राजा ने इस समस्या के निदान की प्रार्थना महात्मा से की। महात्मा जी ने नरेश की समस्या

1. हिमाचल प्रदेश : लोक-संस्कृति और साहित्य—डॉ० गौतम शर्मा 'व्यथित' (पृष्ठ 80)

को गम्भीरता से लिया और एक यज्ञ के आयोजन की सलाह दी। आनन-फानन में यज्ञ की सामग्री जुटा दी गई और यज्ञ सात दिन तक चला! सात दिनों में सात रंगों के रस्से तैयार किए गए। इस 'सात रंगे' रस्से का नाम 'मिंजर' रखा गया। कहते हैं कि यज्ञ की पूर्ति पर रावी नदी ने ही अपना मार्ग बदल लिया। इस पर एक बड़े उत्सव का आयोजन हुआ, जो बाद में 'मिंजर मेला' के रूप में विख्यात हुआ। 'मिंजर' शब्द की व्युत्पत्ति फारसी शब्द 'मंजार' (मांजार) से मान अर्थ किया जाता है—विशाल दृश्य। ठीक उत्पत्ति 'मंजरी' से ही है।

एक अन्य वृत्त मिंजर मेले का श्रीगणेश एक ऐतिहासिक घटना से जोड़ता है। इस वृत्त के अनुसार राजा साहिल वर्मा के शासनकाल ही में कांगड़ा के एक समकालीन राजा ने चम्बा राज्य पर आक्रमण कर दिया। राजा साहिल वर्मा वीरता एवं न्यायप्रियता के कारण प्रजा में अत्यन्त लोकप्रिय थे। इसी का परिणाम यह हुआ कि शत्रु बुरी तरह पराजित हुआ। अपने विजयी नरेश का स्वागत करने चम्बा निवासी रावी नदी के तट पर एकत्रित हुए। प्रजाजनों ने अपने विजयी राजा का स्वागत 'धान के फूल' भेंट कर किया। इसे स्थानीय बोली में 'मंजरी' कहा जाता है। इसी घटना को चिरस्थायी बनाने के लिए 'मिंजर मेले' की शुरुआत की गई। राजा साहिल वर्मा ने कांगड़ा के किस शासक को पराजित किया—इस बारे में इतिहासकार तथा विद्वान् मौन हैं। आज भी मेले की शुरुआत से पूर्व 'धान के फूल' प्रसाद रूप में बाँटने की परम्परा कायम है।

सात दिन तक चलने वाले इस मेले में नगर के मन्दिरों को आकर्षक ढंग से सजाया जाता है। लोग अपनी कमीज के साथ मिंजर बांधते हैं। मेले के अन्तिम दिन अखंड चंडी महल से एक शोभा यात्रा निकाली जाती है, जिसमें भगवान रघुवीर, मणि महेश तथा चर्पटनाथ की प्रतिमाएं तो होती ही हैं, क्षेत्र के देवी-देवता भी अपनी भव्य पालकियों में भगवान रघुवीर को सम्मान देने पधारते हैं। यह शोभा यात्रा मुख्य बाजार से होती हुई रावी तट पर विसर्जित होती है। लोग अपने-अपने मिंजरों को नारियल के साथ रावी नदी में विसर्जित कर देते हैं। मेले के दौरान चम्बा, पांगी, चुराह तथा भरमौर क्षेत्र के श्रद्धालु अपनी रंग-बिरंगी स्थानीय वेशभूषा में आते हैं, नृत्य भी करते हैं। पहले वरुण भगवान को एक भैंसा भेंट करने की भी प्रथा थी, परन्तु अब इस पर विराम लग गया है। आगामी वर्ष की अच्छी फसल की प्रार्थना में यह हर्षोल्लास का आयोजन सम्पन्न होता है।

रेणुका मेला

पौराणिक मेलों में 'रेणुका मेला' अतयन्त महत्त्वपूर्ण है। यह मेला सिरमौरी संस्कृति का प्रतीक भी माना जाता है। सिरमौर जिला के मुख्यालय नाहन से चालीस कि०मी० दूर रेणुका तीर्थ की रेणुका झील देश की एकमात्र ऐसी झील है, जिसके सम्बन्ध में लाखों लोगों की आस्था है कि यह झील भगवान परशुराम की माता रेणुका का जीता-जागता स्वरूप है। यह बात आश्चर्यजनक लगती है कि कोई नारी अचानक ही एक विशाल झील का रूप धारण कर ले। ढाई कि०मी० की परिधि में प्रवाहित यह प्राकृतिक झील एक सोई हुई महिला के आकार में भासती है।

एक लोककथा के अनुसार इक्षवाकु कुल के प्रतापी राजा प्रसनजीत, जो 'रेणु' नाम से भी जाने जाते थे, उनकी बड़ी पुत्री रेणुका महर्षि यमदग्नि से विवाहित थी। उनकी दूसरी पुत्री मेणुका सम्राट सहस्रबाहु की भार्या थी। तपे के टीले पर स्थित, भृगु आश्रम से रेणुका नित्यप्रति गिरि गंगाजल भरने आया करती थी। एक दिन उसकी भेंट यहां पड़ाव डाले सम्राट सहस्रबाहु से हो गई। उसने रेणुका को उलाहना दिया कि तुमने हमें कभी भोज पर नहीं बुलाया। इस पर महर्षि यमदग्नि ने सम्राट सहस्रबाहु को उसके सैनिकों सहित शानदार भोज दिया। सम्राट आश्चर्यचकित था कि महर्षि के पास इतने साधन कैसे हुए। महर्षि ने कामधेनु तथा कुबेर की कृपा बताई। सहस्रबाहु ने महर्षि से कामधेनु की मांग की, परन्तु महर्षि इसे देवेन्द्र की अमानत मान, देने को उद्यत न थे। इस पर सहस्रबाहु ने महर्षि के आश्रम को तहस-नहस कर दिया और महर्षि और उनके छह पुत्रों की हत्या कर दी। देवी रेणुका पास के सरोवर में कूद गई और यही सरोवर विशाल झील के रूप में बदल गया।

यह भी प्रचलित है कि एक समय 'तपे का टीला' नाम से प्रसिद्ध स्थल पर महर्षि यमदग्नि तथा उनकी भार्या रेणुका ने घोर तपस्या की थी, जिससे प्रसन्न होकर भगवान विष्णु ने उनके घर स्वयं पुत्र के रूप में जन्म लेने का वरदान दिया था। यही पुत्र कालान्तर में भगवान परशुराम के नाम से विख्यात हुआ। एक अन्य वृत्त के अनुसार सम्राट सहस्राबाहु अन्यायी और क्रूर राजा था, जो ऋषि-मुनियों पर अत्याचार करता रहता था। जिस समय सहस्रबाहु ने महर्षि यमदग्नि और उनके पुत्रों की हत्या की, तब परशुराम जी महेन्द्र पर्वत पर तपलीन थे। इसी स्थिति में परशुराम जी को अपनी माता की विकट स्थिति का आभास हुआ और वह तुरन्त

सरोवर-तट पर पहुंचे। माता रेणुका ने समग्र वृत्त सुनाया और फिर सरोवर में समा गई। श्री परशुराम ने सहस्रबाहु का, सेना समेत, वध कर डाला। अपनी माता को भी कार्तिक मास की दशमी को यहां आने का वचन दिया। एक दन्तकथा यह भी है कि देवी रेणुका ने अपने पति के शाप के कारण झील का रूप धारण कर लिया था। इस वृत्त से तो सभी सहमत हैं कि झील ही देवी रेणुका का जीता-जागता स्वरूप है।

रेणुका मेले का शुभारम्भ दीवाली के दस दिन बाद होता है और यह मेला पंद्रह दिन चलता है। पहले दिन भगवान परशुराम की मुख्य पालकी गांव जामू से पारम्परिक शोभा यात्रा के रूप में, ददाहू स्कूल के मैदान में लाई जाती है। जामू गांव, तपे के टीले के निकट, महर्षि यमदग्नि के नाम से जुड़ा है। यहीं पर परशुराम जी का मुख्य मन्दिर है। शोभा यात्रा में अनेक देवी-देवताओं की पालकियां भी शामिल रहती हैं और भजन मंडलियां, ढोल, नगाड़ों तथा अन्य लोक वाद्यों के संग नृत्य करती हुई झील के तट पर आती हैं। झील के पवित्र जल में देव-स्नान होता है और फिर इन्हें परशुराम जी के मन्दिर में रखा जाता है। इस दिन अपने पुत्र से मिलन के लिए मां रेणुका मानो पलक-पांवड़े बिछा प्रतीक्षारत रहती है। उस दिन कोई यह नहीं कहता कि पालकी आई है, यही कहा जाता है कि देवता आ गए—भगवान आ गए! मेले के दूसरे दिन झील के जल में एकादशी स्नान का माहात्म्य होता है।

राज्य स्तरीय मेला पांच दिवसीय होता है, जिसमें रेणुका विकास बोर्ड तथा जिला प्रशासन द्वारा अनेकानेक सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित किए जाते हैं। इनमें कुश्तियों, प्रदर्शनियों आदि की भी व्यवस्था रहती है। क्षेत्रीय लोग अपने-अपने परिधानों में सुसज्जित होकर मित्रों-सम्बन्धियों से मिलन का आनन्द लेते हैं। दूर-दराज से आए लोग अपनी मन्नोतियां पूरी करते हैं। मेले में अखरोट, अदरक आदि का खूब व्यवसाय चलता है। यह मेला लोगों की आस्था से जुड़ा है तो यह सिरमौरी संस्कृति का भी प्रतीक है।

छेश्चू (छेत्शु) मेला रिवालसर

हिमाचल प्रदेश के मंडी जिला के पश्चिम में चौबीस कि०मी० की दूरी पर स्थित है छोटा-सा गांव रिवालसर, जिसे समन्वयवादी दृष्टि का गांव कहा जा सकता है। यह स्थान हिन्दुओं, बौद्धों तथा सिखों की समान आस्था का केन्द्र है। यहां के वैशाखी तथा छेश्चू के मेले विशेष लोकप्रिय है। स्थानीय लोग वैशाखी को

'बसोआ' तथा 'छेश्चू' को शिशु मेला कहते हैं।

'छेश्चू' शब्द में 'छ' का भाव है पानी और 'श्चू' से भाव है मेला—इस प्रकार 'छेश्चू' हुआ पानी का मेला। यह मेला 1910-15 के मध्य स्थापित प्राचीन बौद्ध मन्दिर 'माणि-पाणि' के प्रांगण में बौद्ध गुरु पद्‌म सम्भव की कृपा प्राप्ति हेतु आयोजित किया जाता है। इस मेले से सम्बन्धित एक वृत्त प्रकाश में आया है, जिसका सम्बन्ध तिब्बत के शासक लांग दरमा से है। यह शासक बौद्ध मत का कट्टर विरोधी था। उसी के आतंक से पीड़ित लोगों ने नृत्य-प्रदर्शन में उसकी हत्या कर दी थी। इसी घटना की पुनरावृत्ति नृत्यों के माध्यम में होती है, जिसमें नर्तक ढीली पोशाकें तथा चेहरे पर मुखौटे पहन 'असुर नृत्य' करते हैं। मेले की परम्परा प्राचीन है, परन्तु 1960 के बाद इसका आयोजन विशेष रूप से होने लगा है। इस मेले से पूर्व 'डूंपचे' नामक विशेष पूजा का विधान है। इस पूजा में वाद्य यन्त्रों के स्वर के साथ 'ओम् माने पेमे हूं' मन्त्र का जाप किया जाता है। पूजा की समाप्ति वाले दिन से मुख्य मेले का आयोजन होता है। मेले से दस दिन पूर्व 'लोसर' का त्यौहार धूमधाम से मनाया जाता है। विशेष पूजा 'डूंपचे' के समापन पर आकर्षक सांस्कृतिक कार्यक्रम की व्यवस्था रहती है। इसका मुख्य आकर्षण 'मुखौटा नृत्य' होता है। इस नृत्य में महात्मा बुद्ध तथा गुरु पद्‌मसम्भव का रूप धारण कर भी नर्तक नृत्य करते हैं। नृत्य की समाप्ति पर सभी लोग मन्दिर में प्रवेश करते हैं।

इसके बाद शोभा यात्रा का आयोजन होता है। इस यात्रा में रिवालसर झील की परिक्रमा भी शामिल है। इसे बौद्ध पुण्य का कार्य मानते हैं और इसे 'कोरा डोजे' की संज्ञा प्राप्त है। शोभा यात्रा में गुरु पद्‌मसम्भव की प्रतिमा एक सुसज्जित पालकी में रखी होती है। लामा गुरु, अपनी-अपनी उपाधि के अनुसार, पालकी को कंधा देते हैं। एक सौ आठ कुंजरों (धार्मिक ग्रन्थों) को भी झील की परिक्रमा करवाई जाती है। शोभा यात्रा को 'सेंडा' की संज्ञा प्राप्त है। शोभा यात्रा में श्रद्धालु तथा अन्य दर्शक अपनी-अपनी टोपियां उतार धार्मिक ग्रन्थों के सम्मुख नमन करते हैं। यह समूचा आयोजन ऐसा लगता है मानो देवलोक या स्वर्ग-दर्शन हो। शोभा यात्रा मन्दिर में आकर समाप्त होती है, और यही मेले का भी समापन है।

रिवालसर का वैशाखी मेला भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं। एक किंवदंति के अनुसार लोमस ऋषि ने इस झील के तट पर भगवान शिव की आराधना की थी। उनकी स्मृति में यहां वैशाखी का मेला लगता है। इस वर्ष इस झील का स्नान गंगा-स्नान के तुल्य स्वीकार किया जाता है। इस मेले पर तैराकी प्रतियोगिता का

भी आयोजन होता है। मेले के उपरान्त घर को लौटते समय श्रद्धालु 'बरै' नामक जड़ी-बूटी की जड़ें तथा पत्ते साथ ले जाते हैं। यह शुभ माना जाता है।

इसी प्रकार इस झील पर आषाढ़ संक्रांति का भी मेला लगता है, जिसे 'नाहौली' की संज्ञा प्राप्त है। यह मेला देवी-देवताओं का है। लोक-नर्तकों की भी धूम रहती है, तो व्यापारी पुण्य लाभ के साथ-साथ खूब कमाई भी करते हैं।

बंजार मेला (सिराज)

कुल्लू जिला की एक प्रमुख घाटी है सिराज और इसका प्रमुख आयोजन है बंजार मेला। यह मेला प्रतिवर्ष ज्येष्ठ संक्रांति के अगले दिन शुरू होकर पांच दिन तक चलता है। 'शृंगी ऋषि री जाच' के नाम से प्रसिद्ध यह मेला अब सामाजिक तथा सांस्कृतिक रूप धारण कर चुका है।

ऋषि शृंगी इस क्षेत्र के अधिष्ठता देव माने जाते हैं। बंजार के सिरे पर कोठी चैहणी के बागी गांव में ऋषि शृंगी का प्राचीन मन्दिर है। समूचे देश में ही शायद ऋषि का कोई अन्य मन्दिर हो। इस बहुमंजिले मन्दिर में देवता विराजमान हैं। ऋषि शृंगी का मूल मन्दिर किसी समय 'सकीरण टीला' पर स्थित था। आज भी वहां आश्रमनुमा प्राचीन स्थान है। इसी कारण ऋषि शृंगी को 'देऊ सकीरणी' सम्बोधन भी प्राप्त था। बाद में श्रद्धालुओं ने अपनी सुविधा के लिए, बागी में यह मन्दिर निर्मित किया।

शृंगी ऋषि के सम्बन्ध में शायद अधिकांश लोगों को ज्ञान न हो। ऋषि एक इतिहास पुरुष थे। सूर्यवंशी राजा दशरथ जब बहुत देर तक सन्तान सुख से वंचित रहे तो उन्हें पुत्रेष्टि यज्ञ करने की सलाह दी गई। यह भी कहा गया कि यह यज्ञ तभी सफल होगा यदि इसे कोई ऐसा व्यक्ति सम्पन्न करवाए, जिसने कभी किसी स्त्री का मुख न देखा हो। ऐसे व्यक्ति की खोज हुई और हिमालय की एकान्त कंदरा में तपस्यालीन ऋषि शृंगी मिले। इनका यह नाम इस कारण था कि इनके सिर पर एकमात्र सींग था। लोकहित में ऋषि ने राजा दशरथ से पुत्रेष्टि यज्ञ करवाया और युगपुरुष श्री राम का जन्म, तीन भ्राताओं के साथ इसी के फलस्वरूप हुआ।

बंजार मेला ऐसे समय में मनाया जाता है, जब जलोड़ी दर्रा यातायात के लिए खुला होता है। शिमला-रामपुर-कुल्लू मार्ग भी खुला होता है। भीतरी सिराज क्षेत्र के देवी-देवता ऋषि शृंगी को श्रद्धा अर्पित करने आते हैं। लोक-नृत्यों तथा अन्य समारोहों का आयोजन भी आकर्षक होता है।

पोरी मेला (लाहौल घाटी)

लाहौल घाटी का 'पोरी मेला' ग्रीष्म ऋतु में त्रिलोकनाथ में परम्परागत विधि से मनाया जाता है। इस दिन भगवान की मूर्ति का अभिषेक दूध, दही आदि से किया जाता है। इसके बाद श्रद्धालु ढोल, नगाड़ों, नरसिंगों की गूंज में मन्दिर की परिक्रमा करते हैं। एक घोड़ा भी मन्दिर की परिक्रमा करता है। लोकमत है कि भगवान त्रिलोकनाथ अश्वारोहण करते हैं। फिर यह घोड़ा स्थानीय राजा के पास जलूस के रूप में ले जाया जाता। राजा घोड़े पर सवार होकर मेले में आता है। इस दिन यहां बाजार भी सजता। लोग मन्दिर में निरन्तर जलते दीपक में शुद्ध घी अर्पित कर, मनोकामना सिद्धि की प्रार्थना करते हैं। उन्हें मन्दिर से पीला वस्त्र प्रसाद रूप में मिलता है।

नलसर मेला

मंडी जिला के पर्यटन स्थल बग्गी के निकट गग्गल मार्ग पर स्थित धार्मिक स्थल नलसर के जलाशय पर इस मेले का आयोजन होता है। जनश्रुति के अनुसार पाण्डव नलसर के पवित्र जलाशय पर स्नान करने के उपरान्त, नियमित पूजा-अर्चना कर अपने ठाकुर देव कमरू नाग को एक ऊंचे चबूतरे पर स्थापित करने जा रहे थे कि अनायास एक गधा बोल पड़ा! इस घटना को अपशकुन मान, भीमसेन ने ठाकुर को भला-बुरा कहकर आघात भी किया। जिससे कमरू नाग की गर्दन टेढ़ी हो गई। उसे जंगल में घुसने को विवश कर दिया गया और वह शापित भी हुआ कि उसे गंदे लोग बिना स्नान ही पूजेंगे। इस जलाशय के पास घुमंतु परिवार ही निवास करते थे।

वैशाख मास के दो प्रविष्टे के इसी दिन यहां निराली परम्परा का 'लौहाला मेला' भी लगता है। इस मेले का सम्बन्ध अविवाहित कन्याओं की सम्वेदनाओं से है। इस दिन ये कन्याएं व्रत-उपवास कर, नलसर जलाशय के निकट, पुराने पीपल के तले, देवी की पूजा-अर्चना करती हैं। पूजा के बाद पूजा के पुष्पों के साथ दुल्हन की भान्ति सजाई गुड्डियों को नलसर जलाशय में प्रवाहित कर देती हैं। दोपहर के समय यहां अपने पालकीनुमा रथों में तीन देवी-देवता पूर्ण सज्जा के साथ पधारते हैं—माता कोयला, वर्षा का देवता कांढलू (बालाकांमेश्वर) तथा खयूरी गांव का माहूंनाग। देवताओं के इस मेले में ढोल-नगाड़े अद्‌भुत दृश्य प्रस्तुत कर देते हैं। यह मेला सैकड़ों वर्ष पुराना स्वीकार किया जाता है।

बाबा टिल्ला मेला (कोहासन गांव)

चिन्तपूर्णी-ज्वालामुखी मार्ग पर नैहरनपुखर से दायीं ओर कोहासन गांव में, प्रकृति के सुरम्य परिवेश में स्थित, बाबा टिल्ला प्रसिद्ध सिद्ध पीठ के रूप में विख्यात है। किंवदंतियों के अनुसार इस स्थान पर किसी समय ढढवालिया महन्त पशु चराया करता था। वह यहीं रहता था और यहीं समा गया। उसके समाधि-स्थल को श्रद्धालुओं ने अपनी आस्था का केन्द्र बना लिया। यहां आज भव्य मन्दिर निर्मित है। समाधि-स्थल पर प्रतिवर्ष त्रिदिवसीय मेले का आयोजन होता है, जिसमें दूर-दूर से श्रद्धालु भाग लेते हैं। समापन दिवस की संध्या पर सेवक के साथ विराजती मूर्ति सेवक के माध्यम से जनता की समस्याओं का समाधान करती है।

दयोट सिद्ध के चैत्र मेले

हमीरपुर जिला मुख्यालय से 42 कि०मी० दूर बड़सर उपमण्डल के अन्तर्गत आने वाले प्रमुख तीर्थ-स्थल दयोट सिद्ध के चैत्र मेले भी विशेष महत्त्व रखते हैं। इस धाम के पश्चिम में गोविन्द सागर है, पूर्व में शिवालिक पर्वत शृंखलाएं, उत्तर में हमीरपुर जिला के चीड़ वृक्षों के सघन वन—इस प्रकार यह एक सुरम्य स्थल है। यहां सिद्ध बाबा बालकनाथ की पवित्र गुफा है। पौराणिक गाथा के अनुसार शुकदेव मुनि के जन्म काल में ही चौरासी सिद्धों ने भिन्न-भिन्न स्थानों पर जन्म लिया, जिनमें से बाबा बालकनाथ सिद्ध पुरुष हुए। बाबा के बारे में यह धारणा है कि इनका जन्म हर युग में होता है। बाबा बालकनाथ का मूल स्थान गुफा मन्दिर है, जो अपने स्वरूप में प्राकृतिक है। गुफा के पीछे पहाड़ी पर चरणपादुका स्थल पर शिखर शैली का मन्दिर निर्मित है। बाबा बालयोगी थे। इनकी गुफा में स्त्रियों को प्रवेश की अनुमति नहीं। वे दर्शन दीर्घा से ही करती हैं। ऐसी प्रथा है कि इस मन्दिर में पुरुष तथा स्त्री एक साथ बाबा के दर्शन नहीं कर सकते। यहां चैत्र के मेलों में श्रद्धालुओं की बहुत भीड़ रहती है। यद्यपि चैत्र मेलों की अवधि पहली चैत्र से वैशाखी तक ही होती है, तथापि अब आषाढ़ मास तक श्रद्धालु चैत्र मेले के माहात्म्य के रूप में आते रहते हैं। इनमें पंजाब, हरियाणा, हिमाचल, उत्तर प्रदेश आदि के भक्त होते हैं।

'पट' मेला (भद्रवाह घाटी)

भद्रवाह घाटी में सितम्बर के महीने में त्रिदिवसीय धार्मिक मेला 'पट' आयोजित होता है, जिसमें पर्वतीय बालाएं विशेष रूप से एकत्रित होती हैं। इस

मेले का सम्बन्ध राजा नागपाल से जोड़ा जाता है! मेले का मुख्य आकर्षण 'कुड्ड नृत्य' की झांकियां हैं।

शिवरात्रि मेला (मंडी)

हिमाचल में शैव एवं शाक्त दोनों ही बहुत बड़ी संख्या में हैं। शिवरात्रि को समूचे प्रदेश में छोटे-बड़े मेलों का आयोजन होता है। मंडी की शिवरात्रि परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। इसकी खयाति दूर-दूर तक फैली है। एक वृत्त के अनुसार मंडी नरेश अबरसेन को स्वप्न में जंगल में पड़े 'स्वयंभू लिंग' के दर्शन हुए। यह लिंग भूतनाथ मन्दिर में स्थापित है। उसी समय से शिवरात्रि के मेलों का यहां श्रीगणेश हुआ। इस मेले का महत्त्व इस दृष्टि से भी है कि इसमें मंडी के एक सौ दस देवता शामिल होते हैं। इनमें 'कारुनाग' विशेष सम्मानित देवता हैं। स्मरण रहे कि सभी देवताओं का स्वागत-अभिनन्दन उनके पद की मर्यादा के अनुरूप किया जाता है। शिवरात्रि के एक दिन पूर्व पारम्परिक साज-सज्जा में ये देवगण मंडी पधारते हैं, जब नगर निवासी उनका स्वागत करते हैं। यह स्वागत नरसिंहों, करनालों और झांझरों की मधुर ध्वनि तथा चूड़ीदार पायजामा, सफेद ऊनी लहराती झग्गी, काले गोल मुड़े टोपे धारी नर्तकों की थिरकन के साथ होता है। मन्दिरों में श्रद्धालुओं की अथाह भीड़ जुटती है तो लोग मेले में जी भरकर खरीदारी भी करते हैं।

कुल्लू-परम्परागत मेले

कुल्लू क्षेत्रीय मेलों में वहां के संस्कार, रीति-रिवाज तथा परम्पराएं ध्वनित होती हैं। यहां मेलों की शुरुआत पीपल-यात्रा से होती है और समापन दशहरे से होता है। कुल्लू में इस यात्रा को 'राई की जाच' सम्बोधन भी प्राप्त है। इसका 'राजा का मेला' नाम भी प्रसिद्ध है। मेला स्थल पत्थरों का एक बड़ा चबूतरा है, जहां कभी कोई पीपल का वृक्ष रहा होगा। आवश्यक वस्तुओं की खरीददारी होने से इसे व्यापारिक मेला भी माना जाता है। कुल्लू के देव सम्बन्धी मेले को 'काहिका' कहा जाता है। इस त्रिदिवसीय महत्त्वपूर्ण मेले के साथ अनेक परम्पराएं जुड़ी हैं। मेले की विशेष घटना है 'नड़-बध'! यह बध नड़-दम्पति द्वारा देवता एवं गुरु के प्रति अश्लील व्यवहार के कारण होता है। नड़-बध का अभिनय भी बहुत दिलचस्प होता है। यज्ञ वेदी के अन्दर तीर चलाकर बध किया जाता है और नड़-भार्या के रुदन-विलाप से पसीजकर देवता नड़ को पुनः जीवनदान देते हैं।

कुल्लू दशहरा

कुल्लू दशहरा तो देश की सीमाओं को लांघकर आज अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर अपना स्थान बना चुका है। हिमाचल सरकार ने भी इसे प्रादेशिक मेला घोषित कर रखा है। इस मेले में असंख्य क्षेत्रीय देवी-देवता कुल्लू के प्रधान देवता रघुनाथ जी की शोभा यात्रा में सम्मिलित होते हैं। हजारों की संख्या में पर्यटक इस आयोजन के प्रत्यक्षदर्शी बनते हैं। विभिन्न क्षेत्रों के लोक नृत्य इस आयोजन को चिर-स्मरणीय बना देते हैं। इस मेले में कुल्लू के शाल-दुशालों, टोपियों, नमदों आदि का क्रय-विक्रय भी विशेष रूप से होता है। मेले में देवी-देवताओं के डोले (झांकियां) आकर्षण का केन्द्र होते हैं। खेल-तमाशों, आंचलिक नाट्य-रूपों तथा लोक-नृत्यों के माध्यम से लोक-संस्कृति की झलक पेश की जाती है।

शूलिनी मेला (सोलन)

शूलिनी मेला बघाट (सोलन) रियासत की अधिष्ठात्री देवी—शूलिनी—शिव की त्रिशूलिनी शक्ति—के सम्मान में प्रतिवर्ष आषाढ़ में आयोजित होता है। सोलन का नाम 'देवी शूलिनी' के नाम पर आधारित बताया जाता है।

सोलन पहले छोटा-सा गांव था। मेले की परम्परा यह रही है कि बघाट रियासत के महाराजा द्वारा निर्मित माता शूलिनी मन्दिर से शोभा यात्रा शुरू होती थी। आज भी यह परम्परा कायम है। इस राज्य स्तरीय मेले की शुरुआत सोलन गांव में देवी की पूजा-अर्चना, हवन-यज्ञ तथा देवी की पालकी की सज्जा से होती है। मन्दिर में विराजमान माता की दो मूर्तियों को पालकी में विराजित करवाया जाता है। शोभा यात्रा पूरे नगर की परिक्रमा के बाद पुराने महल में पहुंचती है, जहां शाही परिवार के प्रतिनिधि तथा गणमान्य व्यक्ति इसका स्वागत करते हैं। फिर शूलिनी माता को पारम्परिक रूप में माता दुर्गा के मन्दिर में ले जाया जाता है, जहां तीन दिन का प्रवास होता है! रात्रि को सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन होता है। शोभा यात्रा में पौराणिक कथाओं पर आधारित झांकियां भी प्रस्तुत होती हैं। मेले के बाद देवी अपने धाम पधारती हैं।

महासू देवता का जागरा मेला

हिमाचल प्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों में भादों मास की शुक्ल चौथ को, महासू देवता के जन्मदिन के उपलक्ष्य में, मेला जागरा आयोजित होता है। महासू देवता की पूजा-अर्चना विशेष रूप से शिमला सिरमौर, जौनसार आदि क्षेत्रों में की जाती

है। यह मेला रात को आयोजित होता है। मेले के अगले दिन, देवता द्वारा चयनित घर का एक सदस्य, मन्दिर में ही व्रत धारण कर पूजा-अर्चना तथा उसके उपरान्त भोजन कर, वहीं शयन करता है। देवता के किसी स्वरूप को जलाशय आदि में स्नान करवा, उस जल से लोगों को छींटे दिए जाते हैं। मन्दिर में सहभोज की व्यवस्था रहती है! शाम को एक विशाल शिला पर चीड़ा (लकड़ियों का ढेर) जलाया जाता है, यही जन्मदिन का प्रतीक है। देव मन्दिर का पुजारी 'चीड़ा' की पूजा हेतु निकलता है, तो मार्ग में श्रद्धालु हाथ में मशालें लिए उसका स्वागत करते हैं। मन्दिर में 'धाम' की व्यवस्था लोगों के घरों से एकत्रित 'पत्था' (अन्न) से होती है।

होली मेला (सुजानपुर)

हिमाचल प्रदेश के विभिन्न स्थलों—पालमपुर, पपरोला, बैजनाथ, जयसिंहपुर, सुजानपुर आदि के होली मेले बहुचर्चित हैं। सुजानपुर की होली राजा संसारचंद के समय से अत्यन्त लोकप्रिय रही है। लोगों का कथन है कि राजा, अपने परिजनों के साथ चौगान में होली खेलने आया करते थे। राजा-प्रजा का समान स्तर पर यह स्नेह मिलन अत्यन्त भावमय तथा रोचक होता था। हिमाचल सरकार ने इस आयोजन के सांस्कृतिक-ऐतिहासिक महत्त्व को स्वीकारते हुए प्रादेशिक स्तर पर इसे मान्यता प्रदान की है।

हिमाचल प्रदेश की कुछ घाटियों की पहचान वहां आयोजित होने वाले मेलों से भी है। इनकी जानकारी विशेष लाभप्रद एवं रोचक है। इन मेलों की विशेष परम्पराएं हैं—स्वरूप एवं कार्यकलाप भी अलग हैं।

ढूंगरी जाच मेला (ऊझी घाटी)

नववर्ष के आगमन के साथ ही कुल्लू के ऊझी क्षेत्र में फागली, बिरशु, चचौहली, नौमी, कापू आदि मेलों—पर्वों का आयोजन होता है, परन्तु 'ढूंगरी जाच' मेले का निजी महत्त्व है। यह मेला प्रतिवर्ष ज्येष्ठ संक्रांति के दिन लगता है—मौसम होता है पर्यटन का और मेले का स्थान भी है मनाली। मनाली के सिरे पर घने देवदारों के मध्य देवी हिडम्बा का पैगोड़ा शैली मन्दिर है, जिसके प्रांगण में मेला जुटता है। स्मरण रहे देवी हिडम्बा पाण्डव भीमसेन की पत्नी तथा परमवीर घटोत्कच की माता थी। परम्परागत इस मेले के आयोजन में आंसपास के देवी-देवता—शालीन से शांडिल्य, पारशा से गोहरी, सिमसा से कार्तिक स्वामी, नसोगी से शंखु नारायण, सियाल से महादेव, वशिष्ठ से वशिष्ठ ऋषि, गोशाल से

नागदेऊ, सजला से विष्णु—भी शामिल होते हैं। देवी-देवताओं की झांकियों के साथ-साथ 'देऊखेल' एवं 'नाटी' का विशेष आकर्षण रहता है। सायंकाल देवी हिडिम्बा बाहर से पधारे देवी-देवताओं को विदा करती है। अगले दिन समीपस्थ गांव में 'छियाल खौल जांच' का आयोजन होता है, जिसमें 'कन्याल' गांव के निवासी विशेष अतिथि होते हैं। मेले में प्राचीन परम्पराओं के पालन के कारण मेले का सांस्कृतिक महत्त्व बढ़ जाता है।

किन्नौर घाटी : फुलैच मेला

किन्नौर घाटी में 'उख्याङ्' (फूल देखना), जिसे 'फुलैच' संज्ञा भी प्राप्त है, भादों मास में घाटी के अनेक स्थानों पर भिन्न-भिन्न ढंग से मनाया जाता है। इसका सम्बन्ध 'पितरो की पूजा' से है, परन्तु इसमें चिन्ता या शोक की कोई भूमिका नहीं। गांव के लोग मेला स्थल पर एकत्रित होते हैं और मेले की शुरुआत पशु-बलि से होती है। 'लदरा' फूल की तलाश की जाती है। पितरों के नाम पर निर्मित चबूतरों पर उनकी रुचि का भोजन परोसा जाता है। गडरियों को भोजन खिलाया जाता है, 'छङ्' (शराब) का भी सेवन होता है। हरिजनों तथा लोहारों को भी भोजन कराया जाता है। लोग नम्बरदार के घर से 'ढंङस्पा वंशीय' के घर जाकर उसका फूल-मालाओं से संम्मान करते है। फूल लाने वालों का स्वागत होता है तथा वन-देवियों को बलि भेंट होती है। कई आयोजनों में पुराने हथियारों के साथ नाचने की भी प्रथा है। दो-तीन दिन के इस मेले में लोग शराब का भरपूर आनन्द लेते हैं।

पांगी घाटी : मिंघल यात्रा मेला

पांगी घाटी के सितम्बर मास में आयोजित होने वाले 'मिंघल यात्रा' विशाल मेले में असंख्य श्रद्धालु नदी-नालों, पर्वत-घाटियों की दुर्गम यात्रा कर, भगवती के दर्शन उपरान्त अपनी मन्नौतियां पूरी करते हैं। भगवती के पराक्रम-वृत्तों का कथन श्रवण होता है। भगवती का चेला इस दिन चमत्कारी ढंग से सिद्ध बाबा के मठ जाता है, जंगल से वृक्ष का तना काटकर लाता है। भगवती को कई बकरों की भेंट चढ़ाई जाती है। रात्रि को जागरण होता है और मन्दिर के प्रांगण में लोक-नृत्यों की धूम मचती है। देवी की तथाकथित आकाशवाणी के अनुसार इस घाटी में एक बैल से ही हल जोता जाता है। सभी परिवारों के लोग भूमि-शयन करते हैं।

धार्मिक जातराएं

हिमाचल की 'धार्मिक जातराएं' धार्मिक मेलों का ही एक स्वरूप है। यहां के

लोक-जीवन का सम्बन्ध विक्रम संवत् से माना जाता है, जिसका प्रारम्भ चैत्र मास से होता है। नवरात्रों में कांगड़ा, चिन्तपूर्णी, ज्वालामुखी, मनसादेवी, चामुंडा देवी आदि में मेले लगते हैं। लाखों की संख्या में 'जातरू' देवी के दर्शन को आते हैं। दशमी तक लोगों की अथाह भीड़ देखने को मिलती है। भक्तों के जयकार, उनके भजन-कीर्तन, भेंट-अर्पण आदि से सम्पूर्ण वातावरण आध्यात्मिक तथा भक्तिपरक हो जाता है।

वैशाखी को नयनादेवी मन्दिर, चम्बा में 'सूई की जातराएँ पांच दिन चलती हैं। दूर-दूर के क्षेत्रों से श्रद्धालु टोलियों में नाचते-गाते इनमें शामिल होते हैं। लोक-गीत तथा लोक-नृत्य वातावरण को सजीव तथा रोचक बना देते हैं। ग्रीष्म में गद्दने इन जातराओं में सक्रिय भाग लेती हैं। सितम्बर मास में 'छत्रराहड़ी माता' तथा 'मनिमहेश' की भरमौर जातराएं भी धार्मिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। इन पदयात्राओं में प्रदेश के विभिन्न भागों के लोग समूह रूप में देवी-देवताओं के दर्शन करते हैं। भरमौर के चौरासी देवताओं का दर्शन तथा मणिमहेश का तीर्थ स्थान मुक्ति का मार्ग खोल देता है। इन मेलों को 'डल मेला' या 'डल स्नान' की संज्ञा प्राप्त है। स्थानीय बोली में इसे 'डले दा न्हौण' नाम प्राप्त है।

व्यापारिक मेले

इसमें सन्देह नहीं कि हिमाचल के बहुसंख्यक मेले धार्मिक तथा सांस्कृतिक हैं, परन्तु कतिपय व्यापारिक मेलों की परम्परा भी पुरानी है। आज के अर्थ-प्रधान युग में इस दृष्टि से सोचना आवश्यक हो जाता है। हिमाचल के कुछ ऐसे उत्पाद भी हैं, जिन्होंने प्रदेश को तो नई पहचान दी ही है, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय मंडी में भी अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया है। व्यापारिक मेलों के माध्यम से इन्हें अत्यधिक लोकप्रिय बनाना प्रदेश के आर्थिक स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है।

लवी मेला (रामपुर)

हिमाचल प्रदेश का सबसे बड़ा व्यापार मेला 'लवी' किन्नौर के प्रवेश द्वार रामपुर में प्रतिपर्ष 11 से 13 नवम्बर तक विशेष उत्साह एवं धूमधाम से मनाया जाता है। यद्यपि यह मेला पिछले तीन सौ वर्षों से सुनियोजित ढंग से मनाया जाता है, परन्तु इसकी शुरुआत इससे बहुत पुरानी है। परम्परा अनुसार इस मेले का श्री गणेश 17वीं शती के उत्तर भाग में हुआ जब बुशहर रियासत के राजा श्री केहरसिंह थे और रियासत की राजधानी थी सराहन। 1681 में लद्दाख और तिब्बत

में जब युद्ध छिड़ा तो राजा केहरसिंह मानसरोवर की यात्रा पर थे। मार्ग में उनकी भेंट तिब्बत के सेनाध्यक्ष से हुई, जिसने महाराजा से सहायता की गुहार लगाई। यह प्रार्थना स्वीकार की गई और दोनों पक्षों में मित्रता का समझौता हुआ। इस समझौते के तहत व्यवसाय की वृद्धि हेतु सभी व्यापारियों को सुविधाएं प्रदान की गईं, जिनमें टैक्स की छूट प्रमुख थी। मैत्री भाव प्रदर्शन हेतु तिब्बत तथा बुशहर में घोड़ों की अदला-बदली भी हुई। इससे रामपुर के लवी मेले से तिब्बत-बुशहर व्यवसाय में काफी वृद्धि हुई। सन् 1959 में जब चीन का ल्हासा (तिब्बत) पर अधिकार हुआ तो यह व्यवसाय भी प्रभावित हुआ। हिन्दुस्तान-तिब्बत मार्ग ने भी कुछ सीमा तक इस मेले को प्रभावित किया।

इस मेले में ऊनी चादरों, शाल-दुशालों आदि के व्यवसाय के कारण इसे लवी (ऊन) नाम मिला। स्थानीय बोली में 'लोई' से भाव भेड़ के बाल कतरने से हैं और मेले में ऊन आदि के मुख्य व्यवसाय के कारण नाम पड़ गया 'लोई', जो बाद में 'लवी' हो गया। 'लोई' का अर्थ आदान-प्रदान भी है। क्रय-विक्रय की प्रक्रिया से भी यह नाम सार्थक है। स्थानीय लोग पहाड़ों से गडरियों एवं चरवाहों के लौटने पर आग जलाकर उनका स्वागत करते थे। यह परम्परा आज भी चालू है। दिन के समय नगर में काफी चहल-पहल रहती है, परन्तु रात को जलती हुई होलिकाएं संगीत एवं नृत्य के कार्यक्रम को अधिक भावपूर्ण तथा रोचक बना देती हैं। माला नृत्य इस मेले का मुख्य आकर्षण होता है! किन्नौर, स्पीति, लद्दाख, तिब्बत, कुल्लू तथा ऊपरी शिमला क्षेत्र के लोग अपने पारम्परिक परिधान में, जब मेले में शामिल होते हैं, तो एक समा बंध जाता है।

इस मेले में ऊन, ऊनी वस्त्रों, पट्ट-पट्टियों, नमदों, शाल-दुशालों आदि वस्तुओं का सर्वाधिक व्यवसाय होता है। चिलगोजा, अखरोट बादाम, जीरा आदि भी बिकता है। घोड़ों, याकों, टट्टुओं का भी क्रय-विक्रय होता है। एक अनुमान के अनुसार यह सारा व्यवसाय एक करोड़ की राशि को छू लेता है। इस मेले से पहाड़ी उद्योगों को काफी लाभ मिलता है। मेले की ऐतिहासिक-सांस्कृतिक पहचान को कायम रखना भी अत्यावश्यक है।

नल बाड़ी मेला (बिलासपुर)

बिलासपुर का नलवाड़ी मेला भी व्यावसायिक तथा किसान मेला है। इसमें पशु मंडी लगती है। पंजाब तथा पहाड़ी क्षेत्र के लोग खेती के लिए बैलों का क्रय-विक्रय करते हैं। दैनिक प्रयोग की वस्तुओं की दुकानें भी सजती हैं।

भीखा शाह (पालमपुर) का अप्रैल में आयोजित होने वाला मेला भी पशु मेला है। इन मेलों में भी मनोरंजन, खेल-तमाशों की व्यवस्था रहती है।

हिमाचल के त्यौहार

किसी भी राष्ट्र या जाति के जीवन में उत्सवों एवं त्यौहारों का विशेष स्थान होता है क्योंकि इनसे जनता के अदम्य जीवट तथा उत्साह का परिचय मिलता है। इस सम्बन्ध में श्री राजबहादुर का कथन अत्यन्त सार्थक है—"जातीय जीवन की सांस्कृतिक धारा में वहां के उत्सवों और त्यौहारों का विशेष स्थान है, क्योंकि उत्सव और त्यौहार वहां की युग-युगों से चली आ रही ऐसी सांस्कृतिक परम्पराओं, प्रथाओं, मान्यताओं, विश्वासों, आदर्शों, नैतिक, धार्मिक व सामाजिक मूल्यों का वह मूर्त प्रतिबिम्ब है, जो वहां के किसी एक वर्ग अथवा स्तर विशेष की झांकी प्रस्तुत नहीं करते, अपितु वहां की असंख्य जनता के अदम्य जीवट और जीवन के प्रति उत्साह का साक्षात् एवं अन्तः स्पर्शी आत्म-दर्शन कराते हैं।" डॉ० रामानन्द तिवारी ने पर्वों को जीवन की प्रतिभा का श्रेष्ठतम प्रकाश स्वीकार करते हुए लिखा है—"मानवीय चेतना का सर्वोत्तम काव्य पर्वों के रूप में साकार हुआ है। संस्कृति की संहिताएँ पर्वों की उल्लास-परम्परा से मूर्त हुई है। संस्कृति के सृजनात्मक सौन्दर्य की विशद और व्यापक अभिव्यक्ति पर्वों के रूप में हुई है।"

व्रत, पर्व और त्यौहार तीनों उत्सव के ही रूप स्वीकार किए जाते हैं, परन्तु इनमें साम्य होते हुए भी कुछ अन्तर होता है। व्रत का विधान आध्यात्मिक अथवा मानसिक शक्ति की प्राप्ति हेतु, चित्त अथवा आत्मा की शुद्धि के लिए, संकल्प शक्ति की दृढ़ता आदि के लिए होता है। पर्व किसी मुख्य तिथि अथवा ज्योतिष के अनुसार ग्रहों आदि के संयोग का ही दूसरा नाम है। त्यौहार लौकिक उत्सवों एवं समारोहों का पर्याय है। व्रत में सात्त्विक गुण प्रधान और रज-तम अंशतः मिश्रित! त्यौहार में 'तामसगुण' प्रधान रहता है—होली, दीवाली आदि में हंसी-दिल्लगी अधिक।

भारत वर्ष में चार ऐसे पर्व या त्यौहार हैं जिनका राष्ट्रीय महत्त्व है। इनका सम्बन्ध वर्ण-व्यवस्था से जोड़ने का प्रयास रहा है। रक्षाबन्धन का सम्बन्ध ब्राह्मणों से जोड़ा जाता है, तो विजयदशमी को क्षत्रियों का त्यौहार माना जाता है। कारण शायद यह रहा हो कि इस दिन शस्त्र-पूजन तथा अश्व-पूजन की प्रथा थी। लक्ष्मी-पूजन के प्राधान्य के कारण 'दीपावली' को वैश्यों का पर्व मान लिया गया। होली को शूद्रों के साथ जोड़ दिया गया। त्यौहारों को जाति या वर्ण विशेष के साथ

जोड़ना संगत नहीं। त्यौहार तो राष्ट्र को एकता के सूत्र में बांधने का कार्य करते हैं, न कि जाति-विभाजन का आधार बनते हैं।

हिमाचल में राष्ट्रीय स्तर एवं महत्त्व के त्यौहार तो मनाए जाते ही हैं, अनेक क्षेत्रीय त्यौहारों को भी धूमधाम से मनाया जाता है। कुछ महत्त्वपूर्ण त्यौहारों की यहां चर्चा की जा रही है।

रखड़ुन्नी (राखी)

भादों पूर्णिमा को मनाया जाने वाला यह त्यौहार भाई-बहन का त्यौहार है। बहनें भाई को राखी बांध उसकी मंगल कामना करती हैं तो भाई उनकी रक्षा का वचन देता है। विवाहित बहनें अपने ससुराल से आकर भाइयों को राखी बांधती है, राखी बांधकर ही भोजन करती हैं। इस दिन कुल पुरोहित भी अपने यजमानों के घर जाकर परिवार के सदस्यों को रक्षा-कवच पहनाता है। राखी के रंगों तथा प्रकारों में विविधता रहती है। सौरव्य-प्रतीक रूप इसमें भोज पत्र भी जड़ा जाता है। यजमान की ओर से पुरोहित को दक्षिणा भेंट की जाती है। भाई भी अपनी बहनों को वस्त्र आदि का उपहार देते हैं। राखी एक महीना बांधकर रखते हैं। 'सैरी' आगमन पर इसे 'सैरी माता' पर चढ़ा दिया जाता है।

विजयदशमी (दशहरा)

कुल्लू का दशहरा अपनी विचित्रताओं के कारण देश-विदेश में प्रसिद्ध है। पहाड़ी भाषा में इसे 'दसैहरा' कहा जाता है, परन्तु सोलन में इसका उच्चारण 'दशैरा' तथा सिरमौर में 'दशोयरा' रूप में प्रचलित है। कुल्लू में दशहरा को 'विदादसमी' कहा जाता है। इसे संस्कृत के 'विजय दशमी' का अपभ्रंश माना जा सकता है। डॉ० नवरत्न कपूर के अनुसार घोर शीत के कारण यह वर्ष का अन्तिम सामूहिक लोक पर्व होता है, संभवतः इसीलिए इसे 'विदादसमी' अभिहित किया जाने लगा हो।[1]

कुल्लू के दशहरा अवसर पर मैदानी क्षेत्रों की भान्ति, न तो रामायण पाठ होता है और न ही रामलीला का अभिनय! अन्तिम दिन रावण और मेघनाद एवं कुंभकर्ण के पुतले भी नहीं जलाए जाते। अन्तिम दिन एक मुर्गे, एक मछली, एक केकड़े, एक बकरी के बच्चे, एक भैंसे की बलि का विधान है। यह उत्सव आश्विन

1. उत्तर भारत के लोक पर्व : डॉ० नवरत्न कपूर (उत्तर क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र, पटियाला)

शुक्ला एकादश को शुरू होकर पूर्णिमा को सम्पन्न होता है।

कुल्लू दशहरा की परम्परा की जानकारी के लिए लोककथाओं का दामन पकड़ना जरूरी हो जाता है। एक लोककथा के अनुसार कुल्लू नरेश जगत सिंह (शासनकाल 1637-1772 सन्) को पार्वती वादी के एक ब्राह्मण की मोती-माला बहुत पसन्द आई। ब्राह्मण माला देने को उद्यत न था, तो राजा ने इसे जबर्दस्ती छीन लिया, जिस पर आहत हो ब्राह्मण ने आत्महत्या कर ली। इस घटना के बाद जब भी राजा भोजन के लिए बैठता, तो उसे प्रत्येक खाद्य-पदार्थ में कीड़े मिलते और पानी में खून। राजा ने विद्वानों से परामर्श किया। उसे बताया गया कि यदि वह अयोध्या से श्री राम की मूर्ति मंगवाकर उसे अपना राज्याधिकार सौंप दे, तो प्रायश्चित सम्भव है। अयोध्या राम मन्दिर से मूर्ति उठवा लाना सरल कार्य न था। राजा के गुरु फुवारी बाबा के शिष्य दामोदर दास ने 'गुटिका सिद्धि' के बल पर, अयोध्या से कुल्लू तक की मूर्ति यात्रा सम्भव कर दी। राजा ने आश्विन शुक्ला दशमी को मूर्ति की पूजा-अर्चना के बाद, इसे राज्य समर्पित कर दिया और उसके 'छड़ी बरदार' के रूप में राज्य का शासन-भार सम्भाल लिया। इस प्रकार नरेश को ब्रह्महत्या के महापातक से मुक्ति मिली। राजा ने अपूर्व योगदान के लिए दामोदर दास को 'भूइन-जिया' का गांव भेंट किया और वहां एक मन्दिर भी निर्मित करवाया।

कुल्लू दशहरा-लोकोत्सव कुल्लू के ढालपुर मैदान में आयोजित किया जाता है। कुल्लू का दशहरा उत्सव यद्यपि रघुनाथ जी की अध्यक्षता में सम्पन्न होता है, परन्तु इसमें देवी हिडिम्बा का पधारना आवश्यक है, मान्यता के अनुसार यह देवी कुल्लू के राजाओं तथा क्षेत्रीय देवी-देवताओं की दादी जो है। स्मरण रहे कि देवी हिडम्बा कुन्ती पुत्र भीम की पत्नी और महाभारत युद्ध के वीर सेनानी घटोत्कच की माता थी। मनाली से तीन कि०मी० दूर देवदार के सघन वनों के मध्य, देवी हिडम्बा का चार मंजिला 'पैगोडा' मन्दिर है। देवी अपने स्थान से लोकोत्सव के शुरू होने से एक दिन पूर्व ढालपुर मैदान में पधारती है, और महोत्सव के समापन पर अपने मूल स्थान को लौट जाती है।

कहा जाता है कि रघुनाथ जी के कुल्लू पधारने पर जो पहली बार महायज्ञ हुआ था, उसमें क्षेत्रीय देवी-देवता बिजली महादेव, बीणी महादेव, शृंग ऋषि, सकीरिनी महादेव, जणेश्वर महादेव, शमशरी महादेव, त्रिपुड़ा-दुर्गा, भागासिद्ध, खोखण के आदि ब्रह्म, दुआड़ा के विष्णु नारायण, धुम्बल नाग, बासु नाग आदि सम्मिलित हुए थे। जिन देवताओं को रथ प्राप्त न थे या जिनके 'रथ' सिर पर

उठाए जाते थे, वे यज्ञ में शामिल न हो सके। उन्होंने फूल तथा शेष (चावल के सूखे दाने) भेजकर रघुनाथ जी के प्रति अपनी आस्था-श्रद्धा व्यक्त की थी।

मेले के शुभारम्भ में रघुनाथ जी की प्रतिमा को, रंग-बिरंगे फूलों एवं परिधानों से अलंकृत कर छह पहियों के रथ पर मन्दिर से बाहर लाया जाता है। उस स्थल पर 'रघुनाथ जी का वायसराय' (कुल्लू राजघराने का वरिष्ठतम प्रतिनिधि) संगतरी रंग की जरीदार अचकन, सोने की तारों वाली पगड़ी पहने उपस्थित रहता है। यह प्रतिनिधि राज्य के वरिष्ठतम कुल-पुरोहित के साथ रथ की तीन बार परिक्रमा करता है। श्रद्धालु तब लताओं से लिपटे रस्सों से रथ को खींचकर ढालपुर मैदान में लाते हैं। स्थानीय भाषा में देवमूर्ति के लिए 'ठाकुर' का प्रयोग होता है, इस प्रकार यह उपक्रम 'ठाकुर निकालना' सम्बोधन पाता है। रथ के पीछे काठी वाले घोड़े पर नरसिंह जी विराजते हैं। इनका अनुसरण अन्य देवी-देवता अपने रथों पर करते हैं। बारहसिंगों, तुरहियों तथा अन्य पर्वतीय वाद्य-यंत्रों की मधुर धुनों तथा भक्तजनों के उद्घोषों—'रामचन्द्र की जय', 'हनुमान जी की जय' के साथ यह शोभा यात्रा ढालपुर मैदान में पहुंचती है। यह 'रघुनाथ जी' का रथ लोकोत्सव के अन्तिम दिन तक यहीं रहता है।

ढालपुर मैदान में उत्सव के दिनों में रघुनाथ जी के विग्रह को अस्थायी रूप से निर्मित मन्दिर में स्थापित कर दिया जाता है। यहां पर मन्दिर के पुजारी प्रातः एवं सायं, रघुनाथ जी तथा अन्य देवी-देवताओं की विधि-विधान से पूजा-अर्चना करते हैं। आश्विन शुक्ला चतुर्दशी, (जिसे स्थानीय बोली में 'मुहल्ला' नाम दिया जाता है) का दिन पर्वोत्सव का मुख्य दिन होता है। इस तिथि का निश्चय इस दृष्टि से किया गया है कि यदि दूरस्थ देवगण दुर्गम मार्ग या किसी अन्य कठिनाई से प्रथम दिन न पहुंच सकें तो देव-महा सम्मेलन में अवश्य भाग ले सकें। इस अवधि में सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन नित्य चलता है और इसमें विभिन्न प्रदेशों के लोक गायक एवं नर्तक अपनी कला का प्रदर्शन करते हैं।

पूर्णिमा को भक्तजन रघुनाथ की मूर्ति से सुशोभित रथ को उत्सव स्थल से व्यास नदी के तट के दूसरी ओर ले जाते हैं। यहां बलि दी जाती है और घास-फूस, झाड़ियों एवं लकड़ियों के ढेर में अग्नि प्रज्वलित की जाती है। इसके बाद रघुनाथ जी का रथ उनके मूल स्थान पर लाकर विग्रह को यथास्थान प्रतिष्ठित कर दिया जाता है। इस विदा उत्सव के बाद लोग प्रसाद तथा उत्सव-बाजार से खरीदी वस्तुओं के साथ घर लौटते हैं।

कुल्लू का दशहरा उत्सव देवभूमि की अस्मिता का प्रतीक है, यहां की

सांस्कृतिक परम्परा का ज्वलन्त उदाहरण है। अब व्यावसायिक महत्त्व भी हो गया है। इस समय तक लोग कृषि से निवृत्त होकर अपनी निर्मित वस्तुएं—शाल, दोशाले, पट्ट-पट्टियां, पुले-रस्से बेचने के लिए कुल्लू आ जाते हैं। रोहतांग, बारालावा, कुंजम जब बर्फ से ढके होते हैं, तो वहां के निवासी घर में बन्द होकर इन वस्तुओं का निर्माण करते हैं। प्राचीन काल में इसी लक्ष्य से यारकंद, कंधार, चीन, तिब्बत, लद्दाख, लाहौल-स्पीति से लोगों के समूह यहां आते थे। कुल्लू का यह लोकोत्सव श्रद्धा-आस्था को दृढ़ करता है, मनोरंजन का साधन बनता है और वाणिज्य-व्यापार को नए आयाम देता है।

होली (धियाणा) जन-जातीय क्षेत्र

होली रंगों का त्यौहार है। छिटकते हुए रंग सौहार्द एवं भ्रातृभाव को सुदृढ़ करते हैं। दुर्भाग्य से, कहीं संकीर्ण मानसिकता से प्रेरित होकर, कुछ लोग छींटों से धार्मिक उन्माद भी भड़काने का प्रयास करते हैं, परन्तु अधिकांश देशवासी इस उत्सव को मेल-मिलाप, आत्मीय भाव के कारक के रूप में ही अपनाते हैं।

हिमाचल के जन-जातीय क्षेत्रों में यह उत्सव अपने ही ढंग से मनाया जाता है। यहां इसे 'धियाणां', 'हरण'—त्यौहार भी कहा जाता है। होली जलाने हेतु लकड़ियां तथा अन्य सामग्री प्रत्येक घर से एकत्र की जाती हैं। इसी कारण इस उत्सव में सामूहिकता, एकता, मिलन एवं स्नेह की भावना झलकती है। सायंकाल को होली जलाने के बाद सभी लोग पवित्र अग्नि की पूजा जल एवं धूप-दीप से करते हैं। अग्नि की परिक्रमा करते समय मक्की, सिपूलों तथा भुने अनाज की आहुति दी जाती है। भुने हुए अनाज को स्थानीय बोली में 'खड्डे' कहा जाता है। इसी का प्रसाद भी बंटता है। यह एक प्रकार से पुराने अनाज की समाप्ति तथा नए अनाज के स्वागत-आशीर्वाद का उपक्रम है। गद्दी जाति की महिलाएं चूल्हे के ऊपर जमी कालिख (करा) को, होली की संध्या को, थाली में इकट्ठा कर होली को अर्पित करती हैं। 'होली' के ढेर को स्थानीय बोली में 'धियाणा' कहते हैं। किसी व्यक्ति, परविार या बस्ती के 'धियाणा' की विशालता वहां की उदारता की द्योतक है। इस होली-मिलन में हास्य-व्यंग्य का वातावरण रहता है। 'हो हो! जोगिए के ढालुए के वराड़तों (जोगी तुम्हारा कोई ठौर-ठिकाना नहीं—तुम ऐसी धातु से बने औजार हो, जो शीघ्र पिघल जाते हों—अस्थिर स्वभाव) आदि व्यंग्य-वाणों का प्रहार होता है। एक पक्ष का दूसरे पर प्रहार दमदार होता है।

होली की अग्नि के शान्त होने पर 'हरनात्र स्वांग' रचा जाता है। 'खप्पर'

स्वांग भरने वाले के चेहरे पर 'खप्पर' (मुखौटा) के साथ सिर पर पग्गड़ (बड़ी पगड़ी), कमर पर डोला और चोला हास्यप्रद ढंग से पहना जाता है। ऐसे स्वांग के साथ हाथ में डंडा लेकर 'हो हो' करने के प्रदर्शन से लोगों में हंसी फूटना स्वाभाविक है। प्रत्येक 'खप्पर' के संग एक चंद्रौली–महिला की चोली, सलवार, मोटा दुपट्टा, कटि में डोरा तथा नारी आभूषणों से अलंकृत पुरुष–अभिनय करता है। गद्दी का स्वांग रचने वाला सिर पर नोकदार टोपी, शरीर पर चोला तथा कमर में डोरा धारण करता है। चेहरे पर नकली दाढ़ी-मूंछ और शिव के चेले के अभिनय के लिए हाथ में त्रिशूल! पुरुष ही 'गद्दन का स्वांग रचता है। इनके परस्पर हास-परिहास से लोगों का मनोरंजन होता है। जब गद्दी 'खप्पर' (मृतक) का अभिनय करता है तो 'चन्द्रौली' को रोने-धोने का स्वांग रचना होता है। 'हरण' का स्वांग रचने वाला प्रायः निम्न जाति का होता है। वह पशु चर्म ओढ़कर, सिर पर सींग भी लगा लेता है। लोग सवारी कर, 'भाड़ा' भी देते हैं। इन स्वांगों में मानवीय प्रवृत्तियों का सजीव-सार्थक प्रदर्शन निहित रहता है। स्वांगकर्ताओं के मुखिया को 'साहब' कहा जाता है। चेहरे पर पुता आटा और सिर पर टोप–शायद अंग्रेज शासकों पर व्यंग्य हो। साहब के आगे-आगे ढोल तथा शहनाई वादक पशु चर्म ओढ़े चलते हैं। 'हर नात्र' के इस जुलूस में ग्राम देवता का जयकार लोकगीत के रूप में होता है–

हरण आया हरणोटा, राजे रामे री प्रौली।
हरना दे सिंगडु सहोणे, जिहां मोती रे दाणे।।

– – – – – – – – – –

अपनी-अपनी खाटों पर आसीन 'मंजिहाणिए' (बैठे-लेटे ग्रामीण) जुलूस का स्वागत करते हुए मुंह मांगा 'बकरोटा' (दान) देते हैं। रात-भर इस प्रकार के स्वांग-अभिनय, हास-परिहास से पर्याप्त बरू (दानों और पैसों के रूप में प्राप्ति) एकत्रित हो जाती है। प्रातः 'हरण' का 'विसर्जन' होता है, जब सभी अभिनेता अपने 'साहब' के नेतृत्व में उसी देवालय लौटते हैं, जहां से शोभा यात्रा शुरू हुई थी। विदाई होने से पूर्व 'कगोल' (प्रीतिभोज) की तिथि तय हो जाती है, जिसकी व्यवस्था 'बरू' से प्राप्त राशि-सामग्री से होती है। प्रीतिभोज में भी मनोरंजन 'स्वांग' के माध्यम से होता है।

हिमाचली बसन्त : चैत्रोल खोन-फागुली

चैत्रोल सिरमौर का लोकप्रिय त्यौहार है, जो चैत मास के शुक्ल पक्ष में मनाया जाता है। लोग अपने घरों की दीवारों पर मनुष्यों, जानवरों तथा फसलों के चित्र,

इनकी वर्ष-भर समृद्धि की कामना से बनाते हैं। इसी कारण इस उत्सव को चित्रों का त्यौहार भी कहा जाता है। खेतों में 'पोल्टू' (पूरियां) तली जाती हैं। कहीं-कहीं देवता को खेतों में बैठाकर नमकीन हलवा भी बनाया जाता है। हरिजनों को पकवान बांटे जाते हैं। गांव को लौटते हुए देवता के रथ को झाड़ियों में झाड़ा जाता है और भूत-प्रेतों को भगाने के लक्ष्य से हंडिया भी फोड़ी जाती है।

इस त्यौहार में आदिम प्रथाओं का भी प्रदर्शन 'विशेष प्रकार के स्वांगों' के माध्यम से होता है। परिवार विशेष का व्यक्ति सिर पर 'खोर' (राक्षस का मुखौटा) लगाकर देवता के वस्त्र पहनता है। इसे स्थानीय भाषा में 'खोन' कहते हैं। उसकी गर्दन के पास लकड़ी का लिंग लटका दिया जाता है और पेट के नीचे छुनछुनी (योनि का प्रतीक) बांध दी जाती है।

इस प्रकार के व्यवहार के पीछे शायद बसंत को 'कामोत्सव' के रूप में स्वीकार करने की धारणा हो। 'कामशास्त्र' में 'सुवसंतक' नामक उत्सव की चर्चा है। 'सरस्वती कंठाभरण' में उल्लेख है कि सुवसंतक वसंतावतार का ही दिन है। प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'वसंतपंचमी' को ही वसंतावतार की तिथि माना है। इसी दिन कामदेव की पहली पूजा विहित है। कामदेव, पुष्पों से निर्मित, अपने पांच वाणों के लिए प्रख्यात है—आम की कोंपलें, अरविन्द (कमल), अशोक, चमेली .तथा नीला कमल! इनसे सभी स्त्री-पुरुष मुग्ध हो जाते हैं। कामदेव के पांच वाण मनोविकार के पांच प्रभाव भी माने जाते हैं—द्रवण, शोषण, तापन, मोहन तथा उन्मादन। महिलाएं अपने पतिदेव की पूजा, काम (देव) के प्रतीक रूप में, वसन्तोत्सव के माध्यम से करती हैं।

सिरमौर क्षेत्र में उपरोक्त ढंग से 'खोन' तैयार हो जाता है। गांव के युवक लिंगाकार लकड़ियों (चैत्रोल शिंड) से 'लिंग' तथा 'छुनछुनी' को छेड़ते हैं तथा अश्लील शब्दों का ऊंची ध्वनि में उच्चारण भी करते हैं। इस रात सभी व्यक्तियों को अश्लील सम्भाषणों तथा प्रदर्शनों की छूट होती है। युवक युवतियों से अश्लील मजाक तथा छेड़छाड़ करते हैं, जिसे इस रात बुरा नहीं माना जाता। 'खोन' को इसी दिन मन्दिर से लाया जाता है और फिर प्रातः से पूर्व वहीं रख दिया जाता है। इस अवसर पर प्रत्येक व्यक्ति अपने घर 'चैत्रोल-शिड़' लाता है।

इन्हीं दिनों 'चैत्रोल' परम्परा का दूसरा स्वांग 'होरिंगफो' भी होता है। इसमें भाग लेने वाले व्यक्ति की पीठ से लगकर एक व्यक्ति घोड़ी की मुद्रा में झुक जाता है और उसे 'दोहडू' से ढांप दिया जाता है। खड़ा व्यक्ति अपने मुख पर मुखौटा बांधकर दो बनावटी सींग भी लगा लेता है। इनसे भयंकरता में वृद्धि होती है।

उसके हाथ में कपड़े से ढकी दो लाठियां होती हैं और पीछे घोड़ी बना व्यक्ति! दैत्याकार व्यक्ति 'होरिंगफो' कहा जाता है। एक अन्य पुरुष महिला के वस्त्र पहन, वही रूप धारण करता है। यह 'होरिंगफो' की पत्नी होती है।

श्री एन०डी० पुरोहित ने इस नाट्य प्रदर्शन के सम्बन्ध में लिखा है—'होरिंगफो स्वांग' का प्रारम्भ ढोल बजाकर किया जाता है। ढोल और थाली वादन के साथ होरिंगफो का स्वांग आगे-पीछे नृत्य करता है। उस नृत्य के तुरन्त बाद होरिंगफो को पत्नी का स्वांग धरती पर कमर के बल लेट जाता है और धीमी गति से नाचता हुआ 'होरिंगफो' स्त्री स्वांग पर लेटते हुए काम-केलि क्रियाओं का अभिनय करता है। नाट्य प्रदर्शन से पूर्व इस स्थल पर घेना (लकड़ियों का ढेर) सुलगा दिया जाता है। लोग यहां नाट्य स्थल छोड़कर बैठते हैं। ये परम्परागत स्वांग नरभक्षी राक्षसों पर देवताओं की विजय के प्रतीक माने जाते हैं। अश्लील प्रदर्शन अमांगलिक प्रभावों के निवारण हेतु किए जाते हैं। इसी कारण स्वांगी अश्लील प्रदर्शनों के बाद मन्दिर में जाकर पूजा-अर्चना करते हैं।'[1]

फागुली (किन्नौर)

यह त्यौहार बसन्त पंचमी के दिन ही किन्नौर जिला के कामरू, रोपा, सांगला आदि गांवों में मनाया जाता है। इसमें 'चैत्रोल' तथा 'होरिंगफो' से यह भिन्नता रहती है कि इसमें 'लैंगिक प्रतीक' नदारद होते हैं, इसमें धार्मिकता का अंश अधिक रहता है। कुल्लू तथा लाहौल-स्पीति में भी इसी दिन ऐसे धार्मिक स्वांग अभिनीत किए जाते हैं।

इस उत्सव में कागज पर रावण का चित्र बनाया जाता है। लोग तीर-कमान से उस पर निशाना लगाते हैं। तीर निशाने पर लगने की क्रिया को 'लंका मारना' या 'लंका दहन' कहा जाता है। इसे स्वर्ग में दैत्यों पर देव-विजय का प्रतीक माना जाता है। कुछ पर्वतीय क्षेत्रों में मनुष्यों को भयभीत करने वाले राक्षसों के स्वांग भी रचे जाते हैं। राक्षस का स्वांग धरने वाला व्यक्ति अपने शरीर पर रावल नामक घास तथा वृक्षों के पत्ते बांध, चेहरे पर पुराना काष्ठ-मुखौटा पहन लेता है। राक्षस के हाथों में विभिन्न प्रकार के वस्त्राभूषण होते हैं। कमर में लटकी पोटली से भी वह ऐसी वस्तुएं निकालता है, जैसे उसने लोगों की हत्या करके स्त्री-पुरुषों के वस्त्राभूषण उतार लिए हों। लूटपाट का यह प्रसंग इस प्रकार अभिनीत किया जाता

---

1. हिमाचली लोक रंग : श्री एन०डी० पुरोहित (पृष्ठ 77-78)

है मानो वास्तविक हो। वाद्य-यंत्रों की भयावनी धुनों के अनुसार वीभत्स भाव-भंगिमाएं भी रहती हैं। स्वांगिया दर्शकों की भीड़ में इधर-उधर ऐसे घूमता है, मानो उसे शिकार की तलाश हो। फिर अचानक खुशी से नाचता हुआ स्वांगिया एक स्त्री या पुरुष को रंगमंच पर खींच लाता है और लूट-पाट का अभिनय करता है।

कई बार किसी किशोर को वस्त्राभूषण से सुसज्जित कर उसे अपनी पत्नी बनाने का अभिनय किया जाता है, तो कभी किसी बच्चे को पुत्र के रूप में लाड-प्यार का अभिनय! ये पात्र भी स्वांगिए की भाव-भंगिमाओं का वैसे ही उत्तर देते हैं। श्री एन०डी० पुरोहित का इस सन्दर्भ में कथन है—"फागुली त्यौहारों का उद्देश्य उन प्राचीन परम्पराओं की याद ताजा करना मालूम पड़ता है, जब राक्षस और भूत-प्रेत मनुष्यों को बहुत तंग किया करते थे और मनुष्य उनके आगे विवश थे।[1]

प्रदेश की पत्तन घाटी में बर्फ के शिवलिंग तथा देवी हिडिम्बा और नाग-पूजा से यह उत्सव मनाया जाता है। लोग गांव के मुखिया तथा वृद्धजनों को पुष्प भेंट द्वारा सम्मानित कर उनका आशीर्वाद प्राप्त करते हैं। फिर छांग, लुगड़ी, मांड का आनन्द किया जाता है।

लोसर

लोसर का सम्बन्ध तिब्बतियों के नववर्ष से है। बौद्ध धर्मानुयायी इस त्यौहार की चाव से प्रतीक्षा करते हैं। तिब्बत की सीमा से लगे क्षेत्रों तथा धर्मशाला में बसे तिब्बत में इस त्यौहार को अलग-अलग ढंग से मनाया जाता है। त्यौहार की अवधि भी तीन से सात दिन तक की होती है।

तिब्बत की सीमाओं से लगे क्षेत्र में लोग 'किमशु' (लोक देवता) के पास दीपक जलाते हैं। वर्ष के प्रथम दिन लोगों से मिलना सौभाग्य या दुर्भाग्य का सूचक मान, लोग दोपहर से पूर्व घर से निकलने में संकोच करते हैं। प्रातः 'दारशेद' गायन होता है। लोग सत्तू का चार कोनों वाला गोला बनाते हैं। इसे परात में रखकर इसके आसपास मूर्तियां तथा पोल्टू रख दिए जाते हैं। आटे से हिरन, घोड़ा, जो (याक का बच्चा), बकरा, मेमना आदि की मूर्तियां विषम संख्या में बनाई जाती है। इन्हें 'ब्रङ ग्यास' के साथ रख दिया जाता है। इन सारी मूर्तियों का प्रातः दर्शन शुभ माना जाता है। इस शुभ कृत्य एवं संकल्प के साथ ही दैनिक कार्यकलाप शुरू हो जाता है।

किन्नौर जिला के पूह उपमंडल में यह त्यौहार घंटी (स्थानीय शराब) चढ़ाकर

---

1. हिमाचली लोक रंग : श्री० एन०डी० पुरोहित

मनाया जाता है। पूह से ऊपर वाले गांवों नाको, मालिंग, लियो, हागो, चुलिंग, शलखर तथा समरा में 'लोसर' को 'रोवफो' की संज्ञा भी प्राप्त है। पूह, डुवलींग तथा टशीगंग में 'लोसर' उत्सव की अवधि सात दिन रहती है। स्थानीय लोग प्रथम दिन अपने घरों की सफाई करते हैं। प्रातः पोल्टू बनते हैं। मेहमानों का 'पोल्टू' तथा 'घंटी' से स्वागत होता है। परिवार के सदस्य, बाहर काम-काज से हों या नौकरी पेशा, परिवार के संग उत्सव मनाने में प्रसन्नता अनुभव करते हैं। उत्सव की सात दिन की अवधि में लेन-देन की मनाही रहती है। जौ के आटे के 'तोरमा' 'गोम्पा गुंटर' से समीप की 'शोक्या' में पूजा होती है। पूजा तथा मंत्र जाप के बाद इन्हें अग्नि को भेंट कर दिया जाता है। गांव के लोग किसी सार्वजनिक स्थान पर, आग के चारों ओर इकट्ठे होकर, नृत्य करते हैं। पुरुष-महिलाओं की संख्या समान रहती है। इन दिनों गांव का प्रत्येक व्यक्ति देवता के सम्मुख उपस्थिति दर्ज करवाता है। जान-बूझकर अनुपस्थित रहने वाले को जुर्माना अदा करना होता है।

धर्मशाला में तिब्बत

तिब्बती धर्मगुरु महामहिम दलाई लामा के निवास के कारण धर्मशाला में तिब्बतियों का अलग ही संसार है। यहां के त्रिदिवसीय उत्सव में प्रथम दिन दलाई लामा अपने अनुयायियों को आशीर्वाद देते हैं।

तिब्बती यहां पर मार्च के आरम्भ में अपना नववर्ष मनाते हैं। 2 मार्च, 1995 ईसवी से तिब्बतियों का 2122वां वर्षारम्भ कहा जाता है। इस उत्सव की तैयारी दस-पन्द्रह दिन पहले शुरू हो जाती है। घरों की लिपाई-पुताई, सफाई, सजावट के साथ-साथ नए वस्त्र सिलवाए जाते हैं, मित्रों भाई-बन्धुओं के लिए उपहार खरीदे जाते हैं। प्रथम दिन सभी तिब्बती परिवार, पौ फटने से पूर्व निकट के जल स्रोत से नए साल में जल का पहला पात्र भरते हैं। इस जल-स्रोत को धूप-बत्ती भेंट के उपरान्त, समीपस्थ पेड़ की शाखा पर रूमालनुमा सफेद वस्त्र बांधा जाता है। इसके पास ही नागों तथा भूत-प्रेतों की कृपा प्राप्ति हेतु 'फाई मार' (चासनी से पगे जौ) तथा चंग (शराब) की भेंट अर्पित की जाती है। घर पहुँचकर लोग पूजा-पाठ करते हैं तथा 'चंगकोल' (परम्परागत भोजन) का आनन्द लेते हैं। इसमें भुने और कुटे जौ का दलिया तथा बहुत-सा पनीर शामिल होता है।

इसी दिन प्रातः बौद्ध विहार की छत पर धर्मासन-आसीन दलाई लामा अपने अनुयायियों को आशीर्वाद देते हैं। इस अवसर पर तिब्बती धर्मसंघ (कशाग) के लामा तथा अन्य वरिष्ठ अधिकारी भी उपस्थित रहते हैं। दलाई लामा से आशीर्वाद

प्राप्त करने, यहां के बाहर गए लोग तथा देश-विदेश के बौद्ध यहां आने का भरसक प्रयास करते हैं। इस आयोजन के उपरान्त विहार के अन्दर प्रार्थना सभा होती है, जिसमें बहुसंख्या में श्रद्धालु सम्मिलित होते हैं।

दूसरे दिन बंधु-बांधवों एवं मित्रों के घर जाकर उन्हें नववर्ष की बधाई दी जाती है, जहां उनका जलपान से स्वागत होता है। इसी दिन किसी सार्वजनिक स्थल पर चौपड़ और शतरंज की प्रतियोगिताएं करवाई जाती हैं। तिब्बती नृत्यों एवं संगीत पर आधारित सांस्कृतिक कार्यक्रम भी आयोजित होते हैं।

तीसरे दिन सामूहिक कार्यक्रमों का समापन होता है और लोग बौद्ध विहारों में जाकर धर्म गुरुओं, विशेषकर दलाई लामा का, आशीर्वाद प्राप्त करते हैं। सफेद, पीले, नीले, हरे तथा लाल रंग के प्रार्थना ध्वज (पांच तत्त्वों के प्रतीक) लहराए जाते हैं। यह अत्यन्त पुनीत कार्य माना जाता है। उद्देश्य यह भी रहता है कि इन पंच रंगे ध्वजों के द्वारा आध्यात्मिक शक्तियों का सामंजस्य स्थापित किया जाए। नववर्ष के सूत्रपात का प्रतीक 'लोसर', मांगलिक प्रभाव के लिएं, धूमधाम से आयोजित किया जाता है।

बसोआ (बीशु) त्यौहार

यह त्यौहार कृषक वर्ग तथा जनजातीय क्षेत्र के घरों में वैशाख-संक्रांति को मनाया जाता है। पर्वतीय प्रदेश में इस लोक पर्व के अनेक नाम तथा उच्चारण है। भरमौरी बोली में इसे 'बसुआ' कहते हैं। सिरमौर में वैशाख को 'बशो' तथा इस मास के लोक पर्व को 'बशोआ' कहा जाता है। कुछ क्षेत्रों में 'बसोआ' उच्चारण भी प्रचलित है। अधिक प्रचलन 'बिशू' तथा 'बीशू' का ही है।

इस त्यौहार से तीन दिन पहले लोग अपने घरों में कोंदरे के आटे की टिक्कियां बनाकर पत्तों से ढककर रख लेते हैं और तीन दिन बाद ये टिक्कियां खट्टी हो जाती हैं। संक्रांति के दिन नित्य-कर्म से निवृत्त होकर सभी लोग सगे-सम्बन्धियों तथा बहन-बेटियों को बुलाकर उन्हें शहद या गुड़ के पानी के साथ ये टिक्कियां खिलाते हैं। इस त्यौहार पर चम्बा में 'रानी सूई' की स्मृति में लोक जातराएं शुरू होती हैं।

किन्नौर-जनजातीय क्षेत्र

किन्नौर जिला के आदिम जनजीतीय क्षेत्र में 'बीशू' 'पंचखोन' के स्वांग के माध्यम से मनाया जाता है, जो गांव के मध्य स्थित मन्दिर से रचा जाता है। मुख्य

स्वांग को 'मड़ स्वालस' कहा जाता है और इसमें तीन पुरुष ही होते हैं–एक पुरुष खड़ा हो जाता है, दूसरा उसकी पीठ पर सिर झुकाकर टिक जाता है, इसी मुद्रा में तीसरा उसकी पीठ पर सवार हो जाता है। आगे वाले पुरुष के मुख को–आधे सफेद–आधे काले मुखौटे से ढांप दिया जाता है। इसके दोनों ओर सींग लगाकर पुरुष को राक्षस का रूप दे दिया जाता है। दूसरे स्वांग का पुरुष किन्नौरी स्त्री का रूप धारण करता है। उसके काले-सफेद मुखौटे में एक बच्चा भी होता है। बच्चों का भक्षण करने वाली राक्षसी के स्वांग को 'छेदखोन' संज्ञा प्राप्त है। पुरुष 'बरखोन' 'होमखोन' तथा 'कूई खोन' का भी स्वांग भरते हैं और इन पर क्रमशः बाघ, भालू तथा कुत्ते का मुखौटा लगाया जाता है। जब 'मड़ स्वालस' तथा उसकी पत्नी 'छेयखोन' नृत्य करते हैं, तो अन्य स्वांगिये उनके पीछे भयंकर ध्वनि निकालते हैं। राक्षस युगल इनसे भयभीत हो भागता है, अश्लील व्यवहार तथा सम्भाषण करता है।

ग्राम देवता मेशुर एवं नारायण को प्रदर्शन स्थल के सामने स्थापित कर दिया जाता है। नर्तक चीखते हुए 'होईशियागो' तथा 'गिद्दा' शब्दों का उच्चारण करते हुए संभोग क्रिया का अभिनय करते हैं। 'तूरी-बुखारिड' वाद्य की ध्वनि के बीच दर्शक भी स्वांगियों की भान्ति चीखते हैं। इसे राक्षस का देहावसान माना जाता है। इस अभिनय के बाद स्वांग सामग्री मन्दिर में लौटा दी जाती है।

कोटब का बिशू मेला

किन्नौर के प्रत्येक क्षेत्र तथा गांव में बिशू (बीशू) मनाने की परम्परा में थोड़ा-बहुत अन्तर रहता है। 'कोटब' ग्राम में इसे 'विष्णु का मेला' मानकर ही लोग जुटते हैं। 'विष्णु' के अंत्याक्षर के लोप से ही इसे 'बीशु' की संज्ञा मिली होगी–ऐसा डॉ० नवरत्न कपूर का मत है।[1] यह उत्सव पाण्डवों-कौरवों की स्मृति में जुटता है। इसमें धनुष बाण प्रतियोगिता आकर्षण का केन्द्र होती है। बालक, युवक, वृद्ध तथा महिलाओं का दूर-दूर से आगमन होता है। इस मेले/उत्सव की चर्चा लोक-गीत में भी हुई है–

म्हारे कोटब जाणा, बीशू बोले मेले रा हामों चाव।
शाठी पाशी रे खुंदों गाजे-बाजे सिते से ला आव।।

---

1. उत्तर भारत के लोक पर्व : डॉ० नवरत्न कपूर–उत्तर क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र, पटियाला

गद्दियों का सामाजिक त्यौहार

गद्दी जन-जाति का मुख्य क्षेत्र चम्बा जिला है। ये लोग 'वैशाखी' को 'बसो' नाम देकर इसे सामाजिक त्यौहार के रूप में, हर्षोल्लास से मनाते हैं। त्यौहार की तैयारी कई दिन पहले शुरू हो जाती है—गोबर मिट्टी से घरों की लिपाई-पुताई की जाती है, फिर 'मकोल' (सफेद मिट्टी) का लेप होता है। महिलाएं 'कोदों' के आटे की टिक्कियां (पिंदड़ी) बनाती हैं। प्रत्येक पिंदड़ी पर छाछ छिड़की जाती है, फिर इन्हें एक टोकरी में रखकर ऊनी कपड़े से ढांप दिया जाता है। दो-तीन दिन बाद इनका रंग सफेद हो जाता है और स्वाद में खटास आ जाती है। फिर इन्हें विशेष वृक्ष के पत्तों की तीन-चार परतों में लपेट दिया जाता है। 'बसो' वाले दिन इनका सेवन मीठे दूध के साथ किया जाता है। कई लोग गुड़ या शहद का प्रयोग भी करते हैं। देवताओं को संज-संचोलू (विशेष पकवान) की भेंट अर्पित की जाती है। गद्दी जाति की विवाहित कन्याएं इस उत्सव पर विशेष रूप से अपने मायके में आती हैं। अपने बहनोइयों के मुख पर 'पिंदड़ियां' मलकर विनोद करती हैं। पिंदड़ी सेवन तथा देव भेंट के बाद गदेरने किसी खुले स्थान में एकत्रित होकर गिद्धा तथा डंगी (डांगी) नृत्य करती हैं। इन समूह नृत्यों में केवल कन्याएं ही होती हैं। कई बार नृत्य से उत्साहित होकर बड़ी-बूढ़ियां भी इसमें शामिल हो जाती हैं। नृत्य के साथ गाया जाने वाला पहला लोकगीत ब्रपेडी (बरहेड़ी) होता है, जिसमें नवविवाहिता पर सास के अत्याचार की व्यथा होती है।

निर्शू-विशु (निरमण्ड)—'बल-चगाँव'

कुल्लू के निरमण्ड में आयोजित पर्व को 'निर्शू-बिशु' का नाम दिया जाता है। इसमें भी लोक-नाट्यों तथा स्वांगों से मनोरंजन किया जाता है।

किन्नौर जिला के 'चगाँव' नामक स्थान पर प्रत्येक चौथे वर्ष 'बीशू' के दिन 'बल' का आयोजन होता है। कुछ लोग 'बल' का अर्थ बलि लेते हैं, पर वास्तव में यह है 'शौर्य और वीरता का प्रदर्शन'। इस दिन प्रातः गांव के युवक देवता के मन्दिर के शस्त्रागार से सभी पुराने हथियार निकालकर अच्छी तरह चमकाते हैं, तलवारों की धार भी तीखी करते हैं। दोपहर को गांव के स्वस्थ युवकों के दो दल उन देव-हथियारों से भीषण संग्राम का नृत्याभिनय करते हैं। इस परस्पर युद्ध-अभिनय में प्राचीन युद्ध कला का कौशल स्पष्ट झलकता है।

योद्धाओं का रूप धारण करने वाले नर्तक देव-पालकी की ग्राम परिक्रमा में स्थान-स्थान पर युद्ध-नाट्य का प्रदर्शन करते हैं। कई बार भूत प्रेत तथा राक्षस का

अभिनय करने वाले नर्तक परिक्रमा में बाधक बनते हैं तो ऐतिहासिक शस्त्रों के युद्ध-नाट्य से उन्हें भगा दिया जाता है। इसी सन्दर्भ में श्री एन०डी० पुरोहित का कथन है—'बल की इस भावना के पीछे जनजातीय संस्कार सक्रिय देखे जाते हैं। खश राजपूतों के दो प्राचीनतम कबीलों 'शाठड' और 'पाठड' ने इस युद्ध-नाट्य के ब्याज से अपने प्राचीन जातीय-शौर्य तथा गौरव को आज तक सुरक्षित रखा है। उस दिन देवता के पुराने कारदारों का कार्यकाल समाप्त हो जाता है। नए करदार कार्यभार सम्भालते हैं। देवता के धातु निर्मित चेहरे की सफाई भी की जाती है।'[1]

सैरी

सैरी शरद ऋतु का त्यौहार है, जिसे गद्दी जनजाति के घुमक्कड़ लोग बड़े उत्साह से आश्विन संक्रांति को मनाते हैं। ये लोग अपने मूल स्थान भरमौर (गद्देरन) को छोड़कर चम्बा, भटियात, कांगड़ा, मंडी आदि की ओर प्रस्थान करते हैं। इस त्यौहार का स्वरूप 'विदाई-भोज' का है। रात को ये लोग शराब की मस्ती में नाचते-गाते हैं। प्रत्येक घर में विशेष पकवान बनते हैं—मटूरू तले जाते हैं, माश की दाल से 'पकोड़ू' तथा देसी अरबी के पत्तों के 'पतरोड़े' बनाए जाते हैं। हाथ-पांव का शृंगार मेहंदी से होता है। रात को गांव का नाई सैरी माता के प्रतीक 'गलगल' को सजाकर कुंकम, रोली, मेवे चढ़ाकर इसे घर-घर फिराता है। प्रत्येक घर में इसका स्वागत होता है। परिवार का प्रत्येक सदस्य शुद्ध तन तथा आस्था भाव से माता की पूजा करता है। बहुएं पूरे अलंकरण के साथ ससुराल तथा मायके जाती हैं। पुत्रियों को त्यौहार भेजने की प्रथा है। गांव में पकवानों का भी परस्पर वितरण होता है।

साजो

यह त्यौहार भी विदाई से सम्बन्धित है, परन्तु विदाई सामान्य जनों की नहीं, अपितु देवताओं की होती है। गांव में देव पालकी खोल दी जाती है। लोक विश्वास है कि देवता इन्द्रलोक गया होगा। मन्दिर के फर्श को धोया जाता है, विश्वास के साथ कि देवता इन्द्रलोक की कुछ सम्पदा यहां फैंकेगा। आमतौर पर यह त्यौहार माघ के अन्त या फागुन में आयोजित किया जाता है, पर कहीं-कहीं इसे नववर्ष से भी जोड़ दिया जाता है। नाना प्रकार के पकवान पकते हैं, देवता को भेंट किए जाते हैं तो स्वयं सेवन भी होता है। लोक विश्वास है कि इससे ये

1. हिमाचली लोक रंग : श्री एन०डी० पुरोहित

खाद्य पदार्थ समग्र वर्ष सुलभ होंगे।

इस त्यौहार से रोचक प्रसंग भी जोड़ा जाता है। देवता के देवलोक प्रस्थान के बाद राक्षस गांव वालों को तंग करते हैं। देवता ने अपने प्रस्थान से पूर्व ही रक्षा व्यवस्था कर दी, रक्षा का भार महासूत या रड़्नू के जिम्मे लगाया। ये लोग सिर पर खाल की टोपियां पहन, चेहरे पर राख थोपकर गांव में घूमते हैं। जहां से भी जो वस्तु मांगी जाती वह दी जाती है। राक्षसों की तृप्ति हेतु बलि भी दी जाती। ऐसा भी विश्वास है कि ग्राम देवता प्रत्येक परिवार में धूप पीने जाता है। घर की महिलाएं कलछी में धूप जलाकर देवता का स्वागत करतीं और फिर जलती हुई धूप गूर के कलछे में उंडेल देतीं। अन्न की भेंट भी दी जाती। यह दिन देऊचार या 'देऊखेल' का भी होता है, जब गूर (देवता का चेला) पर देवता उतरता है और अकाल-रोग की भविष्यवाणी करता है।

गोंछी पुत्र-प्राप्ति उत्सव

गोची, गोत्सी तथा गोछी आदि नामों से जाना जाने वाला यह पुत्र-प्राप्ति उत्सव चन्द्रभागा घाटी (लाहौल) में अत्यन्त लोकप्रिय है। बौद्ध धर्मानुयायी इस उत्सव को फरवरी मास में बड़े उल्लास के साथ मनाते हैं। उत्सव का आरम्भ उस घर से होता है, जहां नववर्ष में पुत्र ने जन्म लिया हो। गांव के लोग इस घर में इकट्ठे होते हैं और मोज-मस्ती के साथ 'छांग' का दौर शुरू हो जाता है। सत्तु का गुंधा आटा एक लकड़ी की थाली में रखा जाता है। इसे उठाकर गांव के चार लोग देव मूर्ति तक ले जाते हैं। देव मूर्ति पत्थर, लकड़ी या वृक्ष की टहनियों की होती है। आम तौर पर केलंग की पूजा का विधान है। गांव की एक कुंवारी कन्या, वस्त्राभूषण से अलंकृत हो, छांग-पात्र उठाए साथ चलती है। उसके पीछे दो व्यक्ति चलते हैं—एक के हाथ में देवदार की मशाल होती है तथा दूसरे के हाथ में भेड़ की खाल में बंधे देवदार के पत्ते होते हैं। प्रथम पुत्र को जन्म देने वाली महिला इनके साथ देवता की मन्नौती मानने जाती है। उसके बाद वे स्त्रियां होती हैं, जिन्होंने बाद में पुत्र जन्मा हो। भेड़ की खाल को किसी वृक्ष या झाड़ी से लटकाकर उस पर वाण-संधान किया जाता है। ढोल की धुन पर छांग का मजा लिया जाता है। महिलाएं तथा पुरुष नृत्य करते हुए घर लौटते हैं और मार्ग में एक-दूसरे पर बर्फ फेंकते हैं। इस उत्सव में एक विचित्र परम्परा का पालन होता है। अनुमान लगाया जाता है कि आगामी वर्ष कितने परिवारों में पुत्र का जन्म होगा। इसके लिए निशाना लगाने की रस्म अदा की जाती है। यदि पुत्र का आशावान कोई भी पुरुष

लक्ष्यबेध में सफल नहीं होता, तो समझा जाता है कि अगले वर्ष गांव में कोई पुत्र पैदा नहीं होगा। निशाना सफल रहे तो हर्षोल्लास का वातावरण बन जाता है।

लाहौल : त्यौहारों की विविधता

लाहौल घाटी के 'शिखारी-अया', 'कुंह', 'कुहयागु', 'दर्शे', 'शेंचुम' त्यौहार भी अपना निजी महत्त्व रखते हैं। इनके आयोजन का क्षेत्र चाहे सीमित हो, तथापि सांस्कृतिक परम्परा के निर्वाह में इनका योगदान नकारा नहीं जा सकता।

शिखारी अया

शिखारी की मान्यता धन-सम्पन्नता की देवी के रूप में है। यह जानने के लिए कि आगामी वर्ष क्षेत्र में फसल कैसी होगी, लोग घास के एक पूले को किसी सुरक्षित स्थान में छिपा देते हैं। कुछ दिनों बाद इस पूले को खोलककर देखा जाता है और इसमें से कोई शुभ वस्तु निकले, तो मान लिया जाता है कि वर्ष में धन-धान्य की दृष्टि से सम्पन्नता होगी। 'शिखारी आया' बौद्ध धर्म अनुयायियों की भी देवी है।

कुंह

लाहौल की 'पट्टन घाटी' में नववर्ष के रूप में यह अद्भुत त्यौहार मनाया जाता है। इसका फागली नाम भी है। इसका रूप-विधान किन्नौर के फागुली से भिन्न होता है। इस त्यौहार को मनाने के लिए गेंदे के सूखे फूलों तथा रंग-बिरंगे चमकदार कागजों से बनावटी फूल बनाए जाते हैं। इन्हें भेंट कर परस्पर शुभकामनाएं दी जाती हैं। लोग समूहों में अन्य परिवारों में जाकर बड़े-बूढ़ों से आशीर्वाद प्राप्त करते हैं। ये परिवार पकवानों तथा चाय से आवभगत करते हैं। कई स्थानों पर 'सरा' का दौर भी चलता है। लोग आप तो सजते ही हैं, घरों की लिपाई-पुताई तथा सजावट भी होती है।

कुहयागु

'कुंह' से एक दिन पूर्व 'कुहयागु' त्यौहार मनाया जाता है, जिसमें विशेष प्रकार के भटूरों का पकवान बनता है। एक किल्टे में बर्फ कूट-कूटकर भर दी जाती है और फिर इसे इस ढंग से उल्टाया जाता है कि बर्फ किल्टे का रूप धारण कर लेती है। इसकी पूजा-अर्चना की जाती है। इसी के आधार पर गांव के बुजुर्ग अनुमान लगा लेते हैं कि आगामी वर्ष स्थानीय लोगों के लिए कैसा होगा!

पट्टन घाटी का एक अन्य त्यौहार है—'दर्शे', जिसमें देवता की सामूहिक पूजा

का विधान है।

'शेंचुम' ग्रीष्म ऋतु का त्यौहार है। इस दिन ग्रामीण अपने पशुधन को समीप के चश्मे पर ले जाते हैं और वहां उन्हें सत्तु के लड्डू खिलाए जाते हैं, जो शुद्ध घी से बने होते हैं। इन्हें 'टोडु' की संज्ञा प्राप्त है। इस अवसर पर चश्मे की पूजा होती है और पशुधन की अभिवृद्धि की कामना की जाती है।

इन सभी त्यौहारों की विशिष्टता इसमें निहित है कि लोग साज-सज्जा के साथ उत्साहपूर्वक इनमें भाग लेते हैं। लाहौल में महिलाओं की आभूषण प्रियता सर्वविदित है। कुछ आभूषण बौद्ध धर्मानुयायी महिलाएं ही विशेष रूप से धारण करती हैं—इनमें पोशेल, डुन्की, किर-किरज़ प्रमुख हैं। सभी समुदायों की महिलाएं लौंग, फुली, कंठी, गुइथब तथा नङ नामक गहने पहनती हैं। इन आभूषणों में निखरा हुआ इनका सौन्दर्य देखते ही बनता है।

फुलायच-फूलों का कबायली त्यौहार

'फुलायच'—फूलों का त्यौहार, वैसे तो किन्नौर के लगभग सभी भागों में मनाया जाता है, परन्तु भौगोलिक तथा अन्य कारणों से अलग-अलग स्थानों पर उत्सव की तिथियों में भिन्नता रहती है। किन्नौर के निचले क्षेत्रों में इस त्यौहार को फुलायच तथा पूह उपमंडल में इसे 'मिन्थोलो' नाम से जाना जाता है। आम तौर पर यह त्यौहार सितम्बर मास में मनाया जाता है।

इन दिनों पर्वतों के शिखरों पर रंग-बिरंगे फूल खिलते हैं। लोकमत के अनुसार ग्राम देवता द्वारा गांव के कुछ लोगों का चयन कर उनको पर्वत शिखर से विशेष प्रकार के फूल लाने का आदेश दिया जाता है। ये लोग इस कार्य निमित्त त्यौहार से दो-तीन दिन पहले निकल जाते हैं। इसी दौरान गांव के लोग ग्राम देवता—'ओरमिग' का रथ, पूरी सज्जा के साथ दो-तीन कि०मी० ऊपर पर्वत के मध्य स्थित समतल भूमि पर ले जाते हैं, जहां देवता का लघु मन्दिर भी है। ग्रामवासियों के लिए यहां अस्थायी आवास व्यवस्था रहती है। अस्थायी दुकानें भी खोल दी जाती हैं। पांच दिन उत्सव होता है और लोग हंसते-गाते, नाचते तथा मस्ती करते देखे जाते हैं। किन्नरी परिधान में नृत्य करती कोकिल-कंठी महिलाएं उत्सव को नई रंगत देती हैं। वाद्य-यन्त्रों पर अठारह प्रकार की धुनें जनसमुदाय को भाव-विभोर कर देती है। उत्सव के समापन पर, देवता के संग ग्रामवासी गांव को लौटते हैं। देवता को पुनः मन्दिर में स्थापित कर दिया जाता है।

शेरकन त्यौहार (किन्नौर)

किन्नौर क्षेत्र के पूह उपमंडल में शेरकन उत्सव भव्य रूप में मनाया जाता है। कार्तिक मास में यह उत्सव पूह में चार से छह कार्तिक तक, लावरंग में सात से नौ कार्तिक तक आयोजित होता है। सर्दियों से पूर्व यहां के किसान फसल को 'कोठारो' में सुरक्षित कर 'शेरकन' उत्सव मनाते हैं। उत्सव में बड़े-बूढ़े, युवा तथा प्रौढ़ महिलाएं—हर वर्ग के लोग बढ़-चढ़कर भाग लेते हैं। पुरुष तो उत्सव की प्रथम रात ही 'रक' (स्थानीय शराब) के रंग में ऐसे रंगते हैं कि तीन दिन नशा उतरता ही नहीं। दूसरे दिन प्रातः से सायं तक नृत्यों की धूम रहती है। अन्तिम दिन गांव के लोग देव-संथड़े (प्रांगण) में पारम्परिक वेशभूषा में नृत्य करते हैं। 'शेरकन' सौभाग्य सूचक तथा आराम के क्षणों की शुरुआत का द्योतक है।

खेपा

खेपा का भाव है आटे का सिद्ध। यह भूत-प्रेत भगाने का त्यौहार है। यह त्यौहार किन्नौर के कुछ क्षेत्रों में ही आयोजित होता है। इसके दो रूप प्रचलित हैं। प्रथम में लोग नहा-धोकर शलजम की 'लफ्फी' बनाते हैं। छतों पर काँटेदार झाड़ी 'चो या ब्रेक लिंङ' लगाई जाती है। शलजम में जो तथा 'चीने' का आटा लगाकर 'सिग्रे' बनाया जाता है, जिसमें कांटे भी लगाए जाते हैं।

दूसरा रूप 'पुलखेपा' है, जिसमें बकरों के सिर तथा पोल्टू (तली हुई रोटी) पकाए जाते हैं। बकरे के कान, पोल्टू तथा सिग्रे के साथ 'ब्रेकलिंङ' के कांटे द्वारा डंडे से लटकाए जाते हैं। दो-तीन दिन के बाद इन्हें चौराहे पर तथा घर के भीतर रखा जाता है। पकवान सगे-सम्बन्धियों तथा मित्रों में बांटे जाते हैं। कहीं-कहीं भूत-प्रेत बाधा दूर करने हेतु बकरे के सींगों को भी जलाया जाता है।

रल्लियों का पर्व

कांगड़ा, बैजनाथ, पठियार आदि स्थानों पर वैशाख की दो से पांच तारीख तक नदी-तट पर मेले लगते हैं, जिनमें सजी-धजी कुंवारी कन्याएं अनेक गांवों से नाचती-गाती आती हैं और नदी में रल्लियां प्रवाहित करती हैं। यह पर्व भी अद्भुत है। दो मिट्टी की मूर्तियों को शिव-पार्वती के रूप में सजाया जाता है—नवविवाहित जोड़े की तरह, महीना-भर अनुष्ठान चलता है और फिर इन मूर्तियों का जल-प्रवाह होता है।

इस पर्व से एक किंवदंती जुड़ गई है। इसके अनुसार एक सुन्दर ब्राह्मण कन्या

जब विवाह योग्य हुई, तो माता-पिता ने योग्य वर खोजने का भरसक प्रयास किया। योग्य वर न मिला, तो कन्या के माता-पिता ने कन्या का विवाह शंकर नामक एक बालक से रचा दिया। लड़की इससे बहुत क्षुब्ध हुईं! उसने नदी के तट पर अपनी डोली रुकवाई और अपने भाई से कहा कि घर जाकर रल्ली और शंकर की दो मूर्तियां निर्मित करवाना, एक महीना इनकी पूजा करना और फिर नदी में प्रवाहित कर देना। ऐसा करने से कन्या को मनचाहा पति मिल जाएगा। तदुपरान्त रल्ली ने जल-समाधि ले ली। दूल्हे ने भी गहरे पानी में छलांग लगाकर अपनी जीवन-लीला समाप्त कर ली। तब से कन्याएं इस महाव्रत का अनुष्ठान करती हैं।

यह अनुष्ठान मार्च के दूसरे सप्ताह में शुरू हो जाता है। प्रातः लड़कियां एक टोकरी में घास, फल, फूल भरकर एक स्थान पर एकत्रित होती है। रल्लियों के गीत गाए जाते हैं—

सब सहेलियां बेबो—जुड़ी-जुड़ी आईयां
रलिये सहेलर भैनेर दूरों
होरना ते चुन्नियाँ बेबो।
होरना ते चुन्नियाँ चांड़ियां।
रल्लिये तां चुन्नी लम्मी गोत,
होरना तां गुंदियां, बेबो।

यह कार्यक्रम लगभग दस दिन चलता है। फिर दो मूर्तियां—एक महिला एक पुरुष की—रंगवाई जाती हैं। इनकी साज-सज्जा होती है और फिर इनका विवाह रचाया जाता है। आधी लड़कियां शंकर के पक्ष की हो जाती हैं और आधी रल्ली की ओर से। सारे गांव को धाम (सामूहिक भोज) पर आमन्त्रित किया जाता है। दोनों मूर्तियों की प्रथम वैशाख तक पूजा होती है। फिर इन मूर्तियों को गोदी में उठाकर या पालकी में डाल नदी तट पर लाया जाता है। वहां इन्हें जल में प्रवाहित कर दिया जाता है।

अनुष्ठान का विधान स्थान-स्थान पर अलग है। कहीं पर कन्याएं गोबर की मूर्ति बनाकर किसी स्थान पर दबा देती हैं। फिर कुम्हार से रल्ली तथा शंकर की मूर्तियां निर्मित करवाई जाती हैं और इन्हें पहली मूर्ति के स्थान पर रखकर सजाया जाता है। इससे पूर्व पहली मूर्ति की प्रातः सायं पन्द्रह दिन पूजा होती है। प्रथम वैशाख तक यह कार्यक्रम चलता है और अगले दिन पुरोहित मूर्तियों को विवाह बन्धन में बांध देता है। इस उपक्रम में शादी की सभी रस्में होती हैं—बारात सजती

है, मन्त्र पाठ होता है, 'फेरे' लगते हैं। बाद में होता है मूर्तियों का जल-प्रवाह! इस पर्व को शिव-पार्वती के विवाह के रूप में मनाया जाता है, पार्वती सर्व-सुहाग की प्रतीक जो है। वास्तव में यह पर्व अद्भुत है।

उख्याङ

हिमाचल प्रदेश के किन्नौर का 'अख्याङ' लोकपर्व वैसे तो अगस्त में होता है, परन्तु भिन्न-भिन्न गांवों में इसके आयोजन की अलग तिथियों के कारण यह नवम्बर तक चलता है। 'रूपी' गांव में अगस्त में तो 'जनी' गांव में अक्तूबर अन्त या नवम्बर आरम्भ में इसका आयोजन होता है। किन्नौरी बोली मे 'उ' का अर्थ है फूल और 'ख्यांङ' से भाव है झाँकना, इस प्रकार 'उख्याङ' हुआ—पुष्प संग्रह का पर्व। 'पुष्प-संग्रह के इस पर्व का 'उख्याङ' नाम एकदम सार्थक है। इसे 'फुलैच' भी कहा जाता है और किन्नौरी की कुछ उपबोलियों में 'नमांग' तथा 'मिंथको' भी—यह श्री राजेन्द्र राजन की मान्यता है। ('फुलायच' के रूप में पर्व की चर्चा इसी अध्याय में पहले की जा चुकी है)।

परम्परा के अनुसार हर परिवार का कम-से-कम एक व्यक्ति फूल इकट्ठा करने जरूर जाता है और फूल भी विशेष प्रकार के बीने जाते हैं—रोंगल, लोस कर्च, खसबल तथा ग्यालची। ये लोग फूल-मालाएं या गुलदस्ते बनाकर 'उदबरो' (गुफा) में रख देते हैं। इस पर्व की 'कमरू' गांव में प्रचलित प्रथा के अनुसार महासू देवता की ओर से भविष्यवाणी करने वाला विशेष व्यक्ति गुफा के बाहर इन लोगों की प्रतीक्षा करता है। सब एकत्रित होते हैं, तो देवी तथा भूत-प्रेतों को प्रसन्न करने के लिए बकरे की बलि दी जाती है। तब यह जनसमूह 'उखयाङ' के गीत गाता गांव को लौटता है। अगले दिन श्रद्धालु इकट्ठे होकर ग्राम देवता को मेला स्थल पर ले जाते हैं। कैलाश पर्वत तथा काली देवी को बकरे की बलि दी जाती है। 'ग्रोक्च' देवता का गूर पुष्प-संग्राहकों में से दो व्यक्तियों का चयन करता है, जो गुफा से फूल-मालाएं तथा गुलदस्ते लाकर 'गूर' के सामने रख देते हैं। 'गूर' कुछ लोगों को फूल देता है। कुछ वर्ष पहले फूल सर्वप्रथम बुशैहर नरेश को दिए जाते थे। फिर देवता 'गूर' के माध्यम से आगामी फसल सम्बन्धी भविष्य वाणी करता है। ग्रामीण कुछ फूल लेकर घर लौटते हैं, ग्राम देवता भी अपने मन्दिर को लौटता है। शाम को ग्रामीण 'संथांग' (मन्दिर प्रांगण) में इकट्ठे होते हैं, देव मूर्ति भी यहां लाई जाती है और जो लोग पुष्प संग्रह के लिए चयनित हुए थे, वे 'फुलैच' के गीत गाते देव-नमन करते हैं। तीसरे दिन 'संथांग' में 'उख्याङ' का समापन होता है। इसी

दौरान लोक-नृत्यों का कार्यक्रम चलता रहता है। लोक-गीत के बोल होते हैं—

जुगली उख्याङ, रूपि ते रासू, रूपि ते रासू, साई भादर।
बाराड़ उख्याङ, नीजा भदरंग, बंगश्या पवंग, यूता भाद्।।

— — — — — — — — — —

इस उत्सव में, प्रदेश के दूरस्थ गांवों के भी सहस्रों श्रद्धालु, बीहड़-वनों, बरसाती पानी, भू-स्खलन की चिन्ता किए बिना शामिल होते हैं।

प्रादेशिक सरकार द्वारा सन् 1987 से, विभिन्न परम्पराओं के समन्वित रूप 'जनजातीय उत्सव' का अक्तूबर मास में 'रीकोंगपो' में आयोजन शुरू किया गया है।

दीवाली

हिमाचल प्रदेश में त्यौहारों-पर्वों के विवरण का समापन 'दीपकों के उत्सव' के साथ करना ही संगत प्रतीत होता है। प्राचीनकाल में यह यक्ष-पूजन का उत्सव था, जब यक्षराज कुबेर (धन के देवता) की पूजा की जाती थी। वात्स्यायन के कामसूत्र में इस पर्व का नाम (यक्ष रात्रि) दिया गया है। हेमचंद्र कृत 'देशी नाम माला' में भी 'जक्ख रत्ती' नाम है, जो 'यक्ष रात्रि' का ही अपभ्रंश रूप है। शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में डॉ० नवरत्न कपूर का कथन है—'दीवाली' तद्भव शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत शब्द 'दीपावली' से हुई है। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से मूल संस्कृत शब्द दीप + अवली युगम पदों के 'दीप' शब्द में 'प' और 'अवली' में से 'अ' अक्षर का लोप हो गया। उधर 'अ' अक्षर स्थान च्युति (जगह बदलने) के कारण 'वा' बन गया। इस प्रकार लोकभाषा में प्रचलित 'दीवाली' शब्द संस्कृत के 'दीपावली' के अपभ्रंश रूप में आज उपलब्ध है।[1]

एक धार्मिक ग्रन्थ में उल्लेख है कि कार्तिक मास में पूजा स्थलों, सामान्य स्थलों, चौराहों आदि पर जलते दीपक सजाने से विष्णु लोक की प्राप्ति होती है—

उच्चे प्रदीपमाकाशे यो दधत् कार्तिके नरः।
सर्व लोकं समुद्धृत्य विष्णुलोकवाप्नुयात्।।

कोई अभागा ही होगा जो विष्णु लोक प्राप्ति की इच्छा न रखता हो। इस कारण देश-विदेश में प्रत्येक धार्मिक प्राणी इस पथ का अनुसरण करेगा!

---

1. उत्तर भारत के लोक पर्व : डॉ० नवरत्न कपूर (उत्तर क्षेत्र सांस्कृतिक केंद्र, पटियाला)

हिमाचल में यह पर्व् उसी श्रद्धा-आस्था तथा उत्साह से मनाया जाता है, परन्तु कहीं-कहीं परम्परा तथा स्वरूप अलग हो सकता है। ग्रामीण क्षेत्र में घर गोलू तथा गोबर से लीप-पोतकर शुद्ध किए जाते हैं। महिलाएं, अपनी मनोगत भावनाओं के अनुरूप, दीवारों पर बेल, पत्तियां—फूल, पशु-पक्षियों के चित्र बनाती हैं। शाम को पितरों को दीप समर्पित होते हैं, घर में दीप जगमगाते हैं, मिठाई बंटती है। कृषक वर्ग के बच्चे हाथ में 'टांहडू' (मक्की की सूखी छड़ें) जलाकर हवा में घुमाते हुए 'घ्योघालिए घा' गाते-नाचते हैं। चौपड़, छकड़ी, ताश, कौड़िया, जुआ खेल भविष्य परखा जाता है। बकरे कटते हैं, शराब की धूम मचती है। महिलाएं औलिया (छोटे बर्तन) गोलू से पोत, लाल रंग की उस पर चित्रकारी करती हैं। दो दिन बाद इन बर्तनों की धर्म-बहनों से अदला-बदली होती है।

'लाहौल' का 'खोगल' भी दीवाली का रूप ही है। कृषि मे व्यस्त होने के कारण ये लोग इस त्यौहार को दीवाली पर न मनाकर जनवरी मास में मनाते हैं। इसमें चन्द्रोदय् विचार कर पूर्णिमा का निर्णय होता है। लोग इकट्ठे होते हैं और चकरी (देसी शराब) पोते हैं। फिर किसी के घर जाते हैं जहां यही दौर चलता है, आधी रात को चाण (नगाराबादक) किसी छत्त पर बैठ नगारा तथा बांसुरीवादन करता है। यह 'खोगल' के समय का संकेत है। लोग मशालें जला घर की ओर भागते हैं, 'आ-हीं' ध्वनियां करते हैं। विश्वास है कि भयभीत होकर भूत-प्रेत पलायन कर जाते हैं। मशालें फिर एक स्थान पर इकट्ठी की जाती हैं और लोग नाचते-गाते हैं। घर में आकर पूजा, विशेषकर 'वाराजा' (स्थानीय देवता) की होती है।

□□□

हिमाचल की चित्रकला

कला एवं चित्रकला

कला मानव-संस्कृति की उपज है। निसर्ग से संघर्ष-रत मानव ने जो सौन्दर्य-बोध प्राप्त किया, 'कला' में उसका अन्तर्भाव है। कला के दो प्रकार हैं—उपयोगी कला, ललित कला। कला के इन दोनों रूपों का विकास साथ-साथ ही होता है, परन्तु ललित कला में विशिष्ट मानसिक सौन्दर्य की योजना रहती है, जो उपयोगितावाद से भिन्न है। कला का उद्‌गम सौन्दर्य की मूलभूत प्रेरणा से ही स्वीकारा जाता है। चित्रकला हो या मूर्तिकला या कला का कोई अन्य रूप—कला का धर्म से निकट का सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध में हरबर्ट रीड का सार्थक कथन है—"कला और धर्म का सम्बन्ध उन प्रश्नों में सबसे अधिक जटिल है जो हमारे सामने उठते रहे। हम अतीत में झांकते हैं तो दिखाई पड़ता है कि इतिहास पूर्व के या प्रागैतिहासिक धुंधले अन्तराल से कला और धर्म हाथ में हाथ डाले प्रकट होते मिलते हैं।"

कला के अनेक रूप हैं, परन्तु इन सबका ध्येय एक ही है—सौन्दर्य का अनुसन्धान या रसानुभूति। 'कला का निर्माण मन की जिस मधुमयी भूमिका से होता है, वह सर्वत्र एक है। प्रणय-वंचना की पीड़ा की अभिव्यक्ति चाहे नृत्याभिनय में हो, चाहे मूर्ति में, चाहे चित्र-संगीत में, अभिव्यंजना पद्धति भिन्न होने पर भी मूल सम्वेदना में कोई भेद नहीं होता। समस्त कलाए परस्पर सम्बद्ध हैं और उनका लक्ष्य समान है।[1] संगीत में स्वर प्रधान है तो काव्य में शब्द। शिल्प एक प्रकार से मूक काव्य है। चित्रकला की भाषा है रंग एवं रेखा। प्रत्येक कला का अपना-अपना वैशिष्ट्य है। शिल्प की साकारता चित्र में नहीं, तो चित्र का रंग वैशिष्ट्य शिल्प में कहां? इसी प्रकार नृत्य की गतिमयता शिल्प, चित्र तथा अन्य स्थिर कलाओं में नहीं।

भारतीय कलाओं के अन्तर्भाव और इसकी गौरवमयी परम्परा का समृद्ध इतिहास है और चित्रकला इससे अछूती नहीं। भारतीय चित्रकार रंगों एवं रेखाओं के माध्यम से जो प्रस्तुत करता है उसके पीछे उसकी आन्तरिक अनुभूति रहती है।

---

1. पंजाब का पर्वतीय साहित्य : मोहन मैत्रेय—कीर्ति प्रकाशन

श्री सी०सी० दत्त का कथन कितना सार्थक है—"What the Indian artist draws & paints is the soul-figure, the true figure behind the outer form which, to him' is but a travesty of the inner reality. What he seeks to depict in line & colour are the psychic lines & the psychic tints that he has visualized inside himself"[1] प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार चित्रकला के छह अवयव हैं—रूप भेद, प्रमाण, भाव, लावण्य, सादृश्य तथा वार्णिक भंग! भारतीय चित्रकार जहां 'भाव' को प्राधान्य देते हैं वहां श्री रामधारी सिंह दिनकर ने 'सादृश्य' को चित्र का आवश्यक गुण माना है। परन्तु भाव की उन्होंने अवहेलना नहीं की इसी संदर्भ में श्री दिनकर का उल्लेख है—"सादृश्य की उपलब्धि हो जाने पर भी, चित्र निष्प्राण रह सकते हैं। अतएव चित्र को जीता-जागता बनाने के लिए उसमें भाव की प्रतिष्ठा की जाती है। फलतः भारतीय चित्र में आकृति निश्चल होते हुए भी, निश्चल नहीं है। वह सवेग है, व्यापारपूर्ण है। इसकी उत्पत्ति के लिए चित्रकार दृश्य के उस चूडांत का अंकन करता है जिसमें सारे दृश्य की घटना शृंखला उसकी प्रत्येक इकाई, सुंपुटित होकर, बीज रूप में वर्तमान रहती है।[2]

डॉ० आनन्द कुमार के अनुसार चित्रकला का सूत्रपात वैदिक काल में हो चुका था। आपने अपनी पुस्तक आन् द स्टडी आव् इंडियन आर्ट' में लिखा है—'वेदों के समय में भी चित्रों का चलन भारत वर्ष में था। ऋग्वेद में अग्नि के चित्र का हवाला है जो चमड़े पर बना रहा होगा। जातकों में शिक्षा के जिन अठारह विषयों का उल्लेख है उनमें चित्रकला भी सम्मिलित थी। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में चित्र के षट-अंगों का उल्लेख चित्रों की प्राचीनता का बोधक है। 'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' में चित्रकला की सांगोपांग व्याख्या है तो बौद्ध एवं जैन साहित्य में भी इसी प्रकार के उल्लेख उपलब्ध हैं। जैन ग्रन्थ 'नायधम्म कला' में चित्रों की चर्चा है। श्री रामधारी सिंह दिनकर ने चित्रकला का इतिहास सिन्धु सभ्यता में खोज डाला है। उल्लेख है—"इस समय की रंगे भाण्डों एवं ठीकरों पर हुई चित्रकारी हमारे पूर्वजों के चित्र प्रेम की द्योतक है। अनेक प्रकार की ज्यामितिक आकृतियां मुख्य रूप से काले तथा फीरोजी रंग से निर्मित हैं। इन आकृतियों में वृक्ष तो शामिल हैं, परन्तु आमतौर पर पशु-पक्षी एवं मानव नदारद।[3]

---

1. The culture of India (As envisaged by Sh. Aurobindo), C.C Dutt—Bhartiya Vidya Bhavan (P. 129)
2. 'भारतीय संस्कृति के चार अध्याय' : श्री रामधारी सिंह दिनकर
3. —वही—

चित्रों के निर्माण हेतु मुख्यतः तीन प्रकार के फलकों का प्रयोग होता रहा है—भित्ति (दीवार), चमड़ा तथा वस्त्र एवं काष्ठ (लकड़ी)। इनके अतिरिक्त ताड़-पत्र, पत्थर तथा हाथी दांत का भी उपयोग होता था। भारत तथा इटली में भित्ति-फलक का उपयोग अधिक था तो जापान में चमड़े का फलक प्रमुख था। योरुप में 'कैनवस' को चित्रों का आधार बनाया गया। भारत में 'भित्ति' फलक के प्रयोग को इतनी मान्यता प्राप्त थी कि 'भित्ति-चित्र' ही चित्रों के लिए रूढ़ हो गया।

भारत में भित्ति-चित्रों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है और ये चित्र मुख्य रूप से धार्मिक थे। यहां पर्वतों को काट-काटकर चैत्यों, मन्दिरों तथा विहारों का निर्माण होता था और इनकी भीतियों पर गय (पलस्तर) लगाकर, घुटाई कर, चित्र बनाए जाते थे। मध्य प्रदेश की रामगढ़ पहाड़ी की जोगीमारा गुफा ईसा से एक सौ वर्ष पुरानी स्वीकार की जाती है। शुरू-शुरू में जब केवल तीन गुफाओं की ही जानकारी थी, तो इस भ्रान्त धारणा का प्रचार था कि भारत में चित्रकला का कोई ठोस आधार नहीं है। इसका विकसित रूप मुगल काल में ही सम्मुख आया। स्मरण रहे कि अब भित्ति-चित्रों वाली 27 गुफाओं का अस्तित्व प्रकाश में आ चुका है और कला समीक्षक अपनी पूर्व धारणा बदलने को विवश हुए हैं। पहली खोजी गई तीन गुफाओं में भव्य कलात्मक भित्ति-चित्र थे, नारी प्रस्तुतियां थीं तो भड़कीले चित्र भी। इसी संदर्भ में श्री सी०सी० दत्त का उल्लेख है—"There were only three caves known where old frescoes were to he seen—some splendid but fragmentary specimens of decorative painting in the Bagh cave, some female figures in the rock cut chambers at siguria and lastly, the gorgeous range of pictures on the walls & ceilings of the Ajanta Caves."[1] अजन्ता की गुफाओं के चित्र प्राचीन चित्रकला के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। एक ब्रिटिश सैन्य अधिकारी ने गत शती में इन चित्रों की खोज कर, इनमें से बारह के प्रारूप तैयार कर इंगलैंड में प्रदर्शित किए, तो वहां इनकी भरपूर सराहना हुई। शती के अन्तिम भाग में जब 'बाम्बे स्कूल ऑफ आर्ट' के श्री ग्रिफ्त ने अपने विद्यार्थियों के साथ यहां काम किया, तो उन्हें केवल सोलह गुफाओं में ही भित्ति-चित्र उपलब्ध हुए। समुचित देख-रेख के अभाव में इनका काल का ग्रास बन जाना स्वाभाविक ही था।

कालिदास, भवभूति, भास आदि की कृतियों में चित्रों एवं चित्र-दीर्घाओं का

---

1. The culture of India (As envisaged by Sh Aurobindo) : Sh. C.C Dutt)

उल्लेख है, जिससे यह ज्ञात होता है कि उस समय के लोग चित्रकला से भली-भान्ति परिचित थे। अजन्ता चित्र दीर्घा के दो चित्रों की विशेष चर्चा रही—राजकुमार विजय की लंका-विजय तथा पर्शिया के राजदूत का बादामी दरबार में आगमन। श्री गौरी शंकर हीराचन्द ओझा के अनुसार अजन्ता के चित्र महात्मा बुद्ध तथा बौद्ध धर्म से सम्बन्धित है। पर्सी ब्राऊन की मान्यता है कि नवीं तथा दशमी गुफाओं के चित्र प्राचीनतम है। इनका निर्माण काल प्रथम शती रहा होगा, पर इनके निर्माण के पीछे वर्षों की साधना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। बाघ (मध्य प्रदेश) के गुहाचित्रों तथा अजन्ता के चित्रों में साम्य परिलक्षित होता है। भारतीय चित्रकला के सही मूल्यांकन के लिए हमें लंका, जावा, वर्मा, नेपाल तिब्बत आदि की चित्रकला का भी सर्वेक्षण करना होगा क्योंकि वहां भी भारतीय संस्कृति, विशेष रूप से बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार से यह कला पहुंची। गुप्तकाल के बाद का समय भारतीय चित्रकला के ह्रास का काल है। वेरुल (हैदराबाद) तथा बादामी (बम्बई) के चित्रों में ब्राह्मणत्व की झलक है। इनमें अजन्ता चित्रों की सुकोमलता तथा माधुर्य नहीं। आठवीं शती के बाद निर्मित चित्रों में आकृतियां सजीव नहीं, तो रेखाओं का वेग भी दृष्टिगोचर नहीं होता। ग्यारहवीं शती के अन्त में जैन विषयों पर आधारित चित्रों का प्रचलन रहा। इन चित्रों की शैली को जैन शैली, गुजरात या पश्चिम भारतीय शैली की संज्ञा प्राप्त है, जिसे श्री रामधारी सिंह दिनकर ने अपभ्रंश शैली का नाम दिया है। सोलहवीं शती में भव्य एवं सजीव चित्रों का निर्माण होने लगा। इसका कारण शायद लोक शैली की निकटता थी। इस्लाम में मूर्ति तथा चित्र-निर्माण को 'कुफर' माना गया, परन्तु कालान्तर में ईरानी प्रभाव के कारण इस्लाम में अपेक्षाकृत उदारता का उदय हुआ, तो चित्रकला को भी नए आयाम मिले। 'मुगल कलम' इसी का नतीजा थी। श्री रामधारी सिंह दिनकर ने इस शैली के उद्गम के सन्दर्भ में लिखा है—'जब अकबर ने ईरान से चित्रकार बुलवाए, तब आरम्भ में तो, उनके चित्र भारतीय रहे, किन्तु धीरे-धीरे ईरान की पुस्तकालेखन और लघुचित्रकारी वाली परम्परा का मेल यहां की भित्ति-चित्र वाली परम्परा से बैठ गया और इसी सामंजस्य से मुगल कलम का जन्म हुआ![1] पहाड़ी या हिमाचल चित्रकला की सही पहचान के लिए यह पृष्ठभूमि जानना आवश्यक हो जाता है।'

---

1. 'भारतीय संस्कृति के चार अध्याय' : श्री रामधारी सिंह दिनकर

हिमाचल चित्रकला

पहाड़ी चित्रकला एक प्रकार से कांगड़ा चित्रकला ही है। श्री नान्हामल मेहता ने इसको हिमाचल 'चित्र शैली' का नाम दिया है। भारतीय कला के विशिष्ट पारखी श्री आनन्द कुमार स्वामी ने राजस्थानी चित्रकला के विवरण के अन्तर्गत कांगड़ा शैली के चित्रों की रसात्मकता एवं भव्यता की चर्चा की है। उल्लेख इस प्रकार है—"इन चित्रों में न केवल भारतीय हृदय की पूरी छाप है वरन् इनकी भाषा मनुष्य मात्र के लिए है। इस कारण यह चित्र शैली संसार की उन श्रेष्ठ कलाओं में स्थान पाने योग्य है, जो मनुष्य के हार्दिक भावों को रंग और रेखा के द्वारा अमर बनाने का प्रयत्न करती है।"[1] एक अन्य स्थान पर श्री कुमार स्वामी ने भाव प्रवणता, कवित्वमयता, विविधता, रसात्मकता आदि गुणों के कारण चित्रों की सम्पूर्णता की चर्चा की है। उल्लेख इस प्रकार है—"One can hardly exaggerate the charm of the kargra paintings, and this charm depends equally on the subjects, emotional & lyrical & the dainty & accomplished expressions."[2] विश्व की अनेकानेक चित्रशैलियों के विशेषज्ञ एवं समीक्षाकार तथा ब्रिटिश म्यूजिम में चित्र-विभागाध्यक्ष के रूप में कार्यरत रहे श्री लारेस विनियन कांगड़ा शैली के एक चित्र पर इस प्रकार मुग्ध हुए कि उन्हें इस शैली को विश्व-भर में बेजोड़ मानना पड़ा। उल्लेख इस प्रकार है—"वह अपूर्व सुख और थिरकन जो कांगड़ा प्रदेश के चित्रों को पहले पहल देखकर मैंने अनुभव की, मैं कैसे भूल सकता हूँ। कैसे यह बात सम्भव हुई कि इस मोहिनी चित्र राशि का परिचय पश्चिम में हमारे तक न पहुंचा। एक रेखाचित्र ने जिसमें तब तक रंग नहीं भरा गया था, विशेष रूप से मेरे मन को खींच लिया। चित्र में दो प्रेमी चांदनी रात में सरोवर के तट पर मण्डप के नीचे संगीत का सुख लूटते दिखाए गए थे। चित्र मन को माया के कान्तिमय जगत में लिए जाता था। वह देखने में सरल, पर मुक्तक गीत की भान्ति चुभता हुआ था। इस शैली के जो सर्वोत्तम चित्र हैं, उन्हें देखते हुए कहना पड़ता है कि कांगड़ा की कला ठेठ अह्लाद का रूप है—कांगड़ा के चित्रों में निष्कपट ढंग से मन के भाव उघड़े हुए मिलते हैं।"

महाभारत में कांगड़ा त्रिगर्त के रूप में चर्चित है—रावी, व्यास तथा सतलुज—तीन नदी घाटियों से निर्मित! इस भू-भाग का प्राकृतिक सौन्दर्य भी अनुपम है। एक

---

1. Rajasthani Paintings : Sh. Anand Commaraswami
2. — वही —

उल्लेख है—"कल-कल, छल-छल की ध्वनि से बहती हुई, सुन्दरियों के झूमरों का भ्रम देती हुई वारिधाराएं, फेनोज्जवल निर्झर, पक्षियों का कलरव—ये सब दर्शक को मन्त्रमुग्ध किए बिना नहीं रहते। प्रकृति की अनुपम छटा, मनोहारी दृश्य, रंग-बिरंगे पुष्प कवि को लेखनी तथा चित्रकार को तूलिका पकड़ने के लिए विवश कर देते हैं। यहां हिमाच्छादित पर्वत शृंग हैं, तपस्यालीन तपस्वी से स्थिर देवदारू वृक्षों के वन है, हरे-भरे खेत, फल तथा फूल हैं।"[1] यही सौन्दर्य कांगड़ा के चित्रों में मूर्तिमान हुआ है। कांगड़ा चित्रशैली का क्षेत्र लगभग 150 मील लम्बा तथा 100 मीटर चौड़ा—जम्मू से टिहरी और पठानकोट से कुल्लू तक विस्तृत है। कांगड़ा नरेश संसारचन्द्र ने अपने कार्यकाल 1774-1823 में परमप्रतापी नरेशों समुद्रगुप्त एवं विक्रमादित्य की भान्ति पहाड़ी चित्रकला को सरपरस्त के रूप में गति-मति दी। चित्रकारों ने जीवन के शायद ही किसी प्रसंग को दृष्टि विगत किया हो। रेखाओं और रंगों की मादकता एवं भव्यता चरम सीमा तक पहुंच गई थी।

प्रख्यात कला पारखी श्री एम०एस० रणधावा ने कांगड़ा चित्र शैली को मुगल कलम, वैष्णव प्रभाव, संस्कृत-काव्य प्रेरणा तथा कांगड़ावासियों के लावण्य की सामंजस्य पूर्ण अभिव्यक्ति माना है। उल्लेख इस प्रकार है—"The kangra school of painting grew out of a synthesis of 'the Mughal technique of painting, the inspiration of vaishnavism, the charm of Sanskrit poctry, the beauty of the people of kangra valley & the lovely Text landseape of the Punjab Hills" स्मरण रहे कि उस समय यह क्षेत्र पंजाब का भाग था। मुगल चित्र शैली वास्तव में स्वतन्त्र न होकर, दरबारी थी। इसी के उदाहरण है—'बाबरनामा' तथा 'अकबरनामा'! इस शैली के चित्र भारतीय अधिक हैं, रंगों तथा वाह्य नक्काशी में कहीं-कहीं ईरानी परम्परा का पालन हुआ है। जहांगीर के समय में यह शैली बारीकी तथा नफासत का पर्याय बनी। मुगल कलम तथा राजपूत कलम का समन्वय ही पहाड़ी कलम का उद्गम है। यह समन्वित शैली अधिक भारतीय हो गई। इस शैली में एक ओर मुगल कलम की परिपक्वता है तो दूसरी ओर भावपूर्ण चित्रण।

कांगड़ा शैली के चित्रों में पुरुष गौण हैं और नारी प्रधान। पुरुष तो मात्र नारी जीवन के विकास के माध्यम हैं। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने इन चित्रों को जीवन-लीलाओं के मुक्तक काव्य की संज्ञा देते हुए लिखा है—"कांगड़ा चित्र शैली का ध्रुवबिन्दु सुन्दर नारी है। उसी के चारों ओर इन चित्रों का जाल पूरा हुआ है।

1. पंजाब का पर्वतीय साहित्य : मोहन मैत्रेय—कीर्ति प्रकाशन (पृष्ठ 18)

नारी का जो अष्टयाम और बारहमासी जीवन है, उसी के ताने-बाने से पहाड़ी चित्र शैली का सुरम्य पट बुना गया है। प्रेम और शृंगार, संयोग और वियोग इस किमखाबी वस्त्र को सजावट प्रदान करते हैं। कांगड़ा चित्रों में नारी की दीप्तमूर्ति के अनेक चित्र मन पर छप जाते हैं—स्त्री की अपार सुषमा, अंग-प्रत्यंग की बहुविध सुन्दरता, शरीर के लावण्य और मुख कान्ति को सैकड़ों प्रकार से प्रकट करते हुए वे नहीं अघाते। शायद ही नारी-सौन्दर्य की इतनी सजग अनुभूति अन्य किसी चित्रकला में मिलती हो।"[1] मध्ययुगीन भक्ति साहित्य में भक्त कवि सूरदास द्वारा श्री कृष्ण की बाल-लीला तथा रासलीला का वर्णन विश्व साहित्य में बेजोड़ है। इसी को आधार बनाकर कांगड़ा के चित्रकारों ने अनेक भव्य चित्रों का निर्माण किया। सूरदास ने अपने भावपूर्ण चित्रों पर भक्ति की जो चादर ओढ़ाई थी, रीतिकालीन कवियों ने उसे उतार फेंका। उनका कहना था—'कविता की कविताइ, नहिं तो राधा-कृष्ण स्मरण को बहाना होत'। रीतिकालीन कवियों—बिहारी हों या देव अथवा मतिराम—के लिए राधा-कृष्ण सामान्य नायिका-नायक हो गए और इन्होंने नारी के अंग-प्रत्यांग वर्णन में भी संकोच नहीं किया। कांगड़ा शैली के चित्रों में जहां आदर्श प्रेम का चित्रण है तो रीतिकालीन दृष्टिकोण भी साकार होता है। प्रेम की जिस धूप-छांव को इन चित्रकारों ने उकेरा है उसे जीवन का सार स्वीकारते हुए डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल लिखते हैं—"देवोपम वैभव, सुन्दर स्वस्थ शरीर, भावुक तरंगित मन यदि किसी को प्राप्त हो सके तो उसके लिए जीवन में जो सबसे ऊँची साधना की वस्तु है—वह प्रेम है।"[2] यही प्रेम जब ईश्वरोन्मुख हो जाता है तो सार्थक बन जाता है। इसी सन्दर्भ में कांगड़ा शैली के चित्रों का विश्लेषण करते हुए श्री वासुदेव शरण अग्रवाल कहते हैं—"कांगड़ा के चित्रकार प्रेम की संचित तीव्र अनुभूति को श्री राधा-कृष्ण के जीवन में ढालकर उसके अनेक सुन्दर संस्करण सजाते हैं। श्री राधा-कृष्ण की लीला, दिव्य किशोर-किशोरी का जीवन इन चित्रों की मुख्य भाषा है।"[3] कांगड़ा के चित्रों में राधा-कृष्ण के विविध रूपों के सम्बन्ध में उल्लेख है—"किसी चित्र में रास-लीला का दृश्य है, किसी में राधा का मानिनी के रूप में रूठना, किसी में श्री कृष्ण का वेणु-वादन तो किसी में आनन्द पूर्ण मिलन! कुछ चित्र ऐसे भी हैं जिनमें श्री कृष्ण

1. कल्याण : हिन्दू-संस्कृति अंग : हिमाचल चित्रकला : डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल (पृष्ठ 712)
2. वही .
3. वही

के लोक-रक्षक रूप का चित्रण है परन्तु अधिकांश चित्र तो लोकरंजक रूप को ही दर्शाते हैं।"[1]

भागवत के दशम स्कन्ध में वर्णित श्रीकृष्ण की बाल-लीलाएं तथा उनका यौवनागत विलास भक्तकवियों के वर्णन का आधार बना। इसी विषय को लेकर कांगड़ा के चित्रकारों ने भव्य चित्र बनाए। रामायण, महाभारत, नल-दमयन्ती और सावित्री-सत्यावान् प्रसंगों को लेकर भी कांगड़ा शैली के चित्रों का निर्माण हुआ। दमयन्ती के स्वयंवर में पधारने का चित्र रेखांकन तथा तरलता के कारण सुन्दर बन पड़ा है। आदिकवि बाल्मीकि के आश्रम में महर्षि नारद के पधारने के प्रसंग को भी एक चित्र में भावपूर्ण सरलता से दिखाया गया है। लोककथाओं पर आधारित भी अनेक चित्र देखने को मिले हैं। 'गीत गोविन्द' के सचित्र संस्करण प्रस्तुत करने की जो परम्परा 15वीं शती में शुरू हुई उसका निर्वाह राजस्थानी तथा पहाड़ी शैली के चित्रों में भी मिलता है। राजस्थानी शैली के चित्रों में रागमाला तथा वारहमासा चित्रण की प्रचुरता है, परन्तु यह चित्रण कांगड़ा शैली में अपेक्षाकृत कम है। कांगड़ा चित्र शैली की एक विशिष्टता यह है कि प्रसंग कोई भी क्यों न हो, चित्रकारों ने इसे स्थानीय जीवन के सन्दर्भ में ही प्रस्तुत किया। उन्हें तो नित्यप्रति के जीवन में भी कविता की सरसता का आभास हुआ। इसी सन्दर्भ में डॉ० एम० एस० राणधावा का उल्लेख है—"In painting ancedotes from the Bhagvata Purana, the artists depicted everyday life in the villages of Kangra as they saw it. These artists realized that poetry is in everyday life, and it is the unregarded river of life which is interesting". श्री रणधावा का एक अन्य कथन भी अत्यन्त सार्थक है—"The background of poetry coupled with the flowing rhythmical line has given kangra painting a lyrical quality. It may be aptly deseribed as frozen music.

बसौली कलम

हिमाचल चित्रकला में बसौली शैली के चित्रों की निजी भूमिका है। आज का बसौली रावी के दाहिने तट पर एक छोटे-से गांव के रूप में स्थित है। कभी अपनी चित्र शैली के लिए प्रख्यात यह स्थान अपनी प्राचीन गरिमा खो चुका है। सन् 1790 में यह स्थिति चम्बा द्वारा बसौली पर हुए आक्रमण के कारण हुई। बसौली

1. पंजाब का पर्वतीय साहित्य : मोहन मैत्रेय

चित्रकला का निराला अन्दाज है। गुजरात तथा राजस्थान की चित्र शैली से इसकी समानता इस बात में है कि यहां के चित्रकारों को भी लाल, पीले, नीले आदि सादे रंग पसन्द थे। इन चित्रों की विशिष्टता इनकी विलक्षण स्फूर्ति है। कलापारखी श्री मेहता बसौली चित्रों की विलक्षणता की ओर संकेत करते हुए कहते हैं—"बसौली के चित्रकारों को जो कुछ कहना होता है, उसे सीधी-सादी दौड़ती हुई रेखाओं में, सादे फड़कते हुए रंगों से रंगीन आलेखन द्वारा कह देते हैं।" डॉ० मुल्खराज आनन्द ने तो बसौली कलम को ही वास्तविक माना है, हिमाचल की अन्य चित्र शैलियों ने तो इससे कुछ-न-कुछ ग्रहण किया है। उल्लेख इस प्रकार है—

"All the 'Kangra Kalams' of Paintings of Nurpur, Haripur, Guler, Kangra, Mandi Saket, Bilaspur, Doda Ciba, Chamba, Jasrota & Jammu, seemed to trace back to the original kalam of 'Basohli'."

श्री आनन्द का यह कथन सिद्ध करता है कि पहाड़ी अथवा हिमाचल की चित्रकला-धारा के अन्तर्गत अनेक धाराओं का प्रवाह था और 'बसौली कलम' ही पहाड़ी शैली का पर्याय थी। 17वीं-18वीं शती में हिमाचल शैली के चित्रों की धूम थी, परन्तु 19वीं शती के मध्य में यह गरिमा लुप्त-सी हो गई। इस दौरान पचास हजार के लगभग चित्रों का निर्माण हुआ होगा, जिनमें से अधिकांश आज भी कला प्रेमियों के पास तथा कला-दीर्घाओं में सुरक्षित है।

बसौली चित्रों की विशिष्टता तथा इनकी अलग पहचान को रेखांकित करते हुए डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने कहा है—"पहाड़ी चित्रों की अपेक्षा बसौली के चित्र ग्रामीण है, किन्तु इसी ग्रामीणता में इनकी विशेषता है। उनके बल और ओज का प्रदर्शन एक बलवती शैली द्वारा किया जाता है। इन चित्रों की रंग-विशेषता के अतिरिक्त मनुष्यालेखन में उत्फुल्ल कमल की तरह बड़ी-बड़ी आंखें, भरे हुए गाल, पीछे जाता ललाट, इस चित्र शैली के विशेष लक्षण हैं—इन चित्रों में एक विचित्र बात यह है कि स्त्रियों और पुरुषों के आभूषणों में गुबरीले के पंखों के चमकीले हरे रंग के टुकड़ों का उपयोग किया गया है।" एक अनुमान के अनुसार 17वीं शती में श्रीमद्भागवत, रामायण आदि पर आधारित इस शैली में सहस्रों धार्मिक चित्रों का निर्माण हुआ। इन चित्रों एवं पुराने भित्ति-चित्रों में पर्याप्त समानता है। कला-प्रदर्शिनी में इस शैली के एक चित्र से कलापारखियों का परिचय हुआ जिसमें भव्य रूप में एक राजकुमारी को वन में हिरन शावकों से प्यार करते दिखाया गया था। श्री खंडालावाला के संग्रह में इस शैली के एक ऐसे चित्र की पहचान हुई जिसमें श्री कृष्ण दावानल-पान करते हुए चित्रित हैं। श्री अग्रवाल के अनुसार ऐसे

प्राणवाण चित्र इस कलम की चित्रकौशल-पराकाष्ठा के द्योतक हैं।

कांगड़ा चित्र शैली गढ़वाल तक प्रचलित थी और मानकू, चैतू तथा भोलाराम इस शैली के विशिष्ट हस्ताक्षर स्वीकार किए जाते हैं। मनुष्य के हार्दिक भावों को रेखाओं एवं रंगों के माध्यम से अमर बनाने वाली पहाड़ी या हिमाचल चित्रकला विश्व के कला जगत में सिरमौर है। इस मुख्यधारा के अन्तर्गत जिन छोटी-छोटी धाराओं का प्रवाह है उनमें स्थानीय रंग तथा कलाकार की पैनी दृष्टि के दर्शन होते हैं। हिमाचल चित्रकला की बारीकियों से विदित होने के लिए परिश्रमजनक शोध अपेक्षित है। इस शोध से नई मान्यताओं एवं स्थापनाओं की संरचना होगी और चित्रकला को नए क्षितिज मिलेंगे।

❑❑❑

हिमाचल में पर्यटन

भारतीय संस्कृति का मूल स्वर है—गतिशील होना! वैदिक अवधारणा है कि जो व्यक्ति गतिशील है—चलता है, उसका भाग्य भी आगे बढ़ता है और जो बैठा रहता है, उसका भाग्य भी बैठ जाता है—सो जाता है। यह धारणा केवल हमारी ही हो, ऐसी बात नहीं। विश्व के अनेक धर्मों में इसी प्रकार का चिन्तन है। प्रख्यात साहित्यकार एवं चिन्तक मृणाल पाण्डे का कथन है—"लगभग सभी धर्मों में जड़ता-कामी घर-घुसेरू, यथास्थितिवादी मनुष्यों को लगभग धकेलते हुए तीर्थाटन कराने की व्यवस्था है, वह जापान का शिंटो धर्म हो या हिन्दुओं का आश्रम धर्म, हज का सवाव व्याख्यायित करने वाला हिजरत से जुड़ा इस्लाम हो, अथवा पटसन के वस्त्र पहनकर यरूशलम तक चलते जा‍ने का विधान देने वाले ईसाई और यहूदी धर्म।" भारत में धार्मिक यात्राओं का प्रचलन पूर्वकाल से ही रहा है और इनमें गंतव्य मुख्यतः तीर्थस्थल ही रहे हैं। तीर्थ यात्री जब धार्मिक यात्रा पर निकलता है तो सेवक और भक्त बनकर, यही मानसिकता अपेक्षित भी तो है।

पर्यटन, यद्यपि आधुनिक अवधारणा है, तो भी यह स्वीकार करना संगत प्रतीत होता है कि भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत आने वाली धार्मिक यात्राओं ने इस अवधारणा को प्रेरित और प्रोत्साहित किया होगा। यद्यपि हमारी 'यात्राएं' तीर्थों तथा धर्मस्थलों से ही जुड़ी थीं, तथापि इनका रूप व्यापक था। डॉ० विजय अग्रवाल का, इसी सन्दर्भ में, किया गया उल्लेख अत्यन्त सार्थक है—"यात्रा केवल पापों को धोने तथा मोक्ष प्राप्त करने का ही माध्यम नहीं थी, बल्कि अपने राष्ट्र के भौगोलिक स्वरूप को देखने, उसके लोक-जीवन को समझने तथा इन सबके सात्त्विक तत्त्वों को अपने अन्दर समेटने का भी माध्यम थी।" इस दृष्टि से यात्रा का रूप अत्यन्त व्यापक हो जाता है—बाह्य जगत तथा अन्तर्जगत की यात्रा! समूचे विश्व में आज सांस्कृतिक आदान-प्रदान का जो अभियान चलाया जा रहा है, उसके तहत राष्ट्र को संकुचित सीमाओं की परिधि में नहीं रखा जा सकता, इसे भी व्यापक अर्थ और आयाम देने होंगे।

पर्यटन के वर्तमान स्वरूप में यात्रा के संस्कार हैं या नहीं, इस सम्बन्ध में

अलग-अलग चिन्तन हो सकता है। यात्रा पर पर्यटन की कार्यप्रणाली पर प्रभाव तो पड़ा है, परन्तु शायद उद्देश्य संकल्प की भिन्नता ने ही, इसके समानान्तर प्रचलन को गति दी हो। किसी विद्वान् का यह चिन्तन ठीक ही है कि जब सच्चा तीर्थयात्री यात्रा पर निकलता है, तो सेवक और भक्त बनकर आधुनिक पर्यटक की तरह संग्रहकर्ता प्रभु बनकर नहीं। पर्यटन में भी, जहां तक कि भारत का सम्बन्ध है, सात्त्विक परम्परा का पालन अपेक्षित है। श्रीमती मृणाल पाण्डे का कथन अत्यन्त सार्थक है—"पर्यटन विश्व का बहुत बड़ा उद्योग बन गया है। भारत जैसे विकासशील देश के लिए तो यह विदेशी मुद्रा कमाने का कल्पवृक्ष जैसा है। लेकिन इधर पश्चिमी मानसिकता के दबाव में हमारे देश में पर्यटन का जैसा बेढंगा विकास-विस्तार किया जा रहा है उससे आक्रान्त हो गई है हमारे देश में तीर्थाटन की सात्त्विक परम्परा, हमारी समृद्ध संस्कृति और पर्यावरण।" आज के परिवर्तित परिदृश्य में पर्यटन को यात्रा तो नहीं बनाया जा सकता, परन्तु पर्यटन सही रूप में पर्यटन ही बना रहे, इसके प्रयास अवश्य होने चाहिए! विभिन्न पर्यटन स्थलों की यात्रा करने आए देशी-विदेशी पर्यटकों को केवल यातायात तथा आवासीय सुविधाओं के मायाजाल में न फंसाकर क्षेत्र की मूलभूत परम्पराओं तथा संस्कृति से जोड़ना भी आवश्यक हो जाता है। इसी सन्दर्भ में डॉ० विजय अग्रवाल का कथन महत्त्व रखता है—"मूल चेतना लोक-नृत्यों या दस्तकारी के सामान में ही नहीं होती, बल्कि जीवन की मिट्टी से जुड़ी भी होती है। विदेशी पर्यटक को देख, कुछ ऐंठने की भावना से स्वागत, नकारात्मक प्रतिक्रिया भी सृजित करता है। इनमें से अधिकांश लोग तो सांस्कृतिक विरासत से परिचित होने को ही मुख्य लक्ष्य मानते हैं।" श्री भारत डोगरा का कथन है—"ऐसे लोग यह भूल जाते हैं कि बहुत-से विदेशी पर्यटक भारत में यहां की सांस्कृतिक विरासत से कुछ ग्रहण करने के लिए भी आना चाहते हैं, पर उन्हें अनुकूल परिस्थितियां नहीं मिलती।" पर्यटन को बढ़ावा देने के उपायों एवं प्रयासों में इस दृष्टिकोण को भी अधिमान देना होगा।

पर्यटन को जब उद्योग के रूप में स्वीकृति मिल चुकी है तो इस उद्योग की दशा-दिशा पर भी सभी पहलुओं से विचार होना चाहिए। यातायात सुविधाओं का विकास-विस्तार अपेक्षित है तो उचित दर की सुविधाजनक आवास व्यवस्था भी जरूरी। धार्मिक यात्रा के सन्दर्भ में सम्बन्धित 'पंडा' को एक पत्र लिख दिया जाता था और वह सभी प्रबन्ध कर देता था। श्रीमती मृणाल पांडे ने 'पंडा' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'प्रज्ञा' (बुद्धि) शब्द से मानते हुए यह स्वीकार किया है कि ये लोग व्यावहारिक तथा व्यापारिक बुद्धि के स्वामी थे। आज इस क्षेत्र में टूरिस्ट

केन्द्रों, ट्रेवल एजेंसियों, गाईडों का उदय हुआ है, परन्तु उपभोक्तावादी वृत्ति ने घपला कर रखा है। गाईड शिक्षित होने के साथ-साथ प्रशिक्षित भी होने चाहिए। पर्यटक, विशषकर विदेशी पर्यटक, विशिष्ट धार्मिक-ऐतिहासिक स्थल की प्रामाणिक जानकारी के इच्छुक होते हैं। उन्हें मन-घडंत कहानियों से भरमाया नहीं जा सकता और फिर यह देश की संस्कृति, उसके इतिहास और क्षेत्र की गरिमा से भी अन्याय होगा। पर्यटन सम्बन्धी साहित्य में स्थल विशेष की 'लोकेशन' सम्बन्धी जानकारी तो उपलब्ध हो जाती है, परन्तु कहीं मीली-पत्थर ही नदारद मिलते हैं तो कहीं भाषीय-उन्माद तहत इन पर प्रादेशिक भाषा में जानकारी, जो विदेशी पर्यटकों की सहायक नहीं बनती।

देश के विविध क्षेत्रों में बहु-उद्देश्य पर्यटन के स्वरूपों का विकास हो रहा है। देश के विभिन्न क्षेत्रों को जोड़ती हुई सड़कें भी अनेक रोमांचक दृश्य उपस्थित करती हैं, 'हाईवेज टूरिज़्म' इसी का प्रतिफल है। धार्मिक पर्यटन, सांस्कृतिक विरासत मूलक पर्यटन, पारम्परिक पर्यटन (मेले एवं त्यौहार), ग्राम्य या लोक संस्कृति विषयक पर्यटन, खान-पान विषयक पर्यटन, व्यावसायिक पर्यटन आदि पर्यटन के अनेक रूप हैं, इनमें वृद्धि की भी अनेक सम्भावनाएं हैं। आज साहसिक पर्यन के प्रति भी विशेष रुचि जागृत हो रही है। इसके अन्तर्गत ट्रैकिंग, पर्वतारोहण, रिवर-राफ्टिंग, पैराग्लाइडिंग आदि आ जाते हैं।

हिमाचल पर्यटन की दृष्टि से काफी समृद्ध है और इस क्षेत्र में विकास की बहुत सम्भावनाएं हैं। कश्मीर को 'धरती का स्वर्ग' कहा जाता है। हिन्दी कवि श्रीधर पाठक ने यहां के प्राकृतिक सौन्दर्य पर मोहित होकर अपनी 'कश्मीर सुषमा' नामक कविता में कहा था–

प्रकृति यहां एकान्त बैठ निज रूप संवारती।
पल-पल पलटत वेष, नया निज रूप धारती।।

हिमाचल का नैसर्गिक सौन्दर्य किसी रूप में भी कम नहीं। यह कथन हिमाचल के सन्दर्भ में भी संगत है। जब से कश्मीर में आतंक की कालिमा छाई है, देशी-विदेशी पर्यटकों का अधिक रुख हिमाचल प्रदेश की ओर हो गया है। हिमाचल की सांस्कृतिक विरासत अत्यन्त समृद्ध है। यहां के प्राचीन स्मारक, दुर्ग, दुर्ग-प्रासाद, घाटियां, नदियाँ-झीलें तथा भौगोलिक दृश्य पर्यटकों के आकर्षण के केन्द्र हैं। वन्य प्राणी अभ्यारण्य, पार्क, मेले एवं त्यौहार भी पर्यटक को हर्षोल्लास की दुनिया में ले जाने के सार्थक माध्यम हैं।

हिमाचल देवभूमि है। यहां वैदिक-पौराणिक देवताओं की पूजा-अर्चना होती है, तो लोक देवता एवं ग्राम देवता भी उसी श्रद्धा-भाव से पूजित हैं। हिमाचल में असंख्य मन्दिर हैं—छोटे तथा बड़े—सन् 1993 के एक सर्वेक्षण के अनुसार इनकी संख्या 3259 थी। इनमें से 1374 मन्दिर तो कांगड़ा में ही हैं। एक अन्य रिपोर्ट के अनुसार छह विशिष्ट शैलियों में निर्मित मन्दिर संख्या में छह हजार से अधिक हैं। कतिपय अत्यन्त प्रसिद्ध मन्दिर हैं—राम मन्दिर, मसरूर (कांगड़ा), शिवधाम (बैजनाथ), बच्छरेटू मन्दिर (बिलासपुर), ममलेश्वर महादेव (मंडी), कमरू नाग, मंडी के शिवधाम, ब्रह्मा मन्दिर (भूंतर), विश्वेसर महादेव (बजौरा), मनु मन्दिर (मनाली), बिजली महादेव (कुल्लू), रघुनाथ मन्दिर (कुल्लू), चम्बा का मन्दिर समूह, भरमौर के चौरासी मन्दिर, व्रजेश्वर मन्दिर (सराहन), शिवधाम (काठगढ़), काली स्थान (नाहन), सत्यनारायण मन्दिर (बुशहर), शिवधाम (अर्की), शिव मन्दिर (मानगढ़), हनुमान मन्दिर (जाखू-शिमला) जुब्बल मन्दिर समूह, नारायण मन्दिर (किन्नौर) त्रिलोकीनाथ मन्दिर (उदयपुर) इत्यादि। इन देवस्थानों में से अधिकांश भगवान शिव को समर्पित हैं। हिमाचल में विश्वविख्यात शक्तिपीठ भी हैं—श्री चिन्तपूर्णी धाम (ऊना) श्री ज्वालामुखी मन्दिर (कांगड़ा), बज्रेश्वरी देवी (कांगड़ा), नयनादेवी (बिलासपुर), बाला सुन्दरी, भीमा काली मन्दिर (सराहन), तारादेवी मन्दिर (शिमला) इत्यादि। इसी प्रकार प्रख्यात बौद्ध मन्दिर (गोंपा) हैं—टाशी जौंग (कांगड़ा) ताबो विहार (लाहौल-स्पीति), 'की' विहार (स्पीति) किन्नौर के विहार, साग्जा गोंपा, रिम्पोचे मठ (रिवालसर), चारंग मन्दिर (कुल्लू), बौद्ध गोंपा (धर्मशाला) इत्यादि। इन धार्मिक स्थलों की यात्रा 'धार्मिक पर्यटन' के अन्तर्गत आती हैं। इस पर्यटन से जहां मन को शान्ति मिलती है, वहां आस्था में भी दृढ़ता आती है। पर्यटक मन्दिरों के स्थापत्य से भी प्रभावित होता है। इस प्रदेश में प्रचलित 'जातरा' प्राचीन 'यात्रा' का ही प्रतिरूप है।

हिमाचल घाटियों एवं झीलों का भी अद्भुत प्रदेश है। इसकी प्रमुख घाटियां हैं—लाहौल घाटी, स्पीति घाटी, पांगी घाटी, भंगाल घाटी, शोजा घाटी, सांगला घाटी। झीलों में प्रमुख हैं—रेणुका झील, पराशर झील, रिवालसर झील, सूरज ताल झील, चन्द्रताल झील, मणि महेश झील, डल झील इत्यादि। चश्मों का भी निजी आकर्षण है। यह पर्यटन व्यक्ति को प्रकृति के दोनों रूपों—सौम्य तथा रुद्र से परिचित करवाता है। घाटियों में व्यक्ति के साहस तथा दम-खम का भी परीक्षण हो जाता है।

हिमाचल के रीति-रिवाजों, यहां की परम्पराओं, रहन-सहन से परिचित होना

हो तो माध्यम है प्रदेश के मेले एवं त्यौहार। प्रदेश के प्रमुख मेले हैं—मिंजर मेला (चम्बा), रेणुका मेला (सिरमौर), छेश्चू मेला (रिवालसर), बंजार मेला (सिराज), पोरी मेला (लाहौल), नलसर मेला (मंडी), पटमेला (भद्रवाह घाटी), शूलिनी मेला (सोलन)! कुल्लू का 'दशहरा' तो समूचे विश्व में अपनी पहचान बना चुका है, जिसमें देशी-विदेशी पर्यटक हजारों की संख्या में शामिल होते हैं। लवी मेला (रामपुर) की पहचान व्यापार मेले के रूप में है, जिसमें हिमाचल के उत्पादों तथा यहां की कलाकृतियों को सहज पहचान मिल जाती है। इस प्रदेश में जहां राष्ट्रीय तथा ऋतु सम्बन्धी त्यौहारों की धूमधाम रहती है, वहां क्षेत्रीय त्यौहार यहां की लोक-संस्कृति की झलक प्रस्तुत करते हैं। इनमें प्रमुख हैं—चैत्रोल (सिरमौर), फागुली (किन्नौर), लोसर (तिब्बती त्यौहार), बीशु (जनजातीय क्षेत्र), निशू-विशु (निरमण्ड), सैरी (गद्दी जाति) शेरकन (किन्नौर), रल्लियों का पर्व (कांगड़ा, बैजनाथ आदि) इत्यादि! देशी-विदेशी पर्यटक भी यदि इन अवसरों पर प्रदेश में यात्रा-रत हों, तो वे भी स्थानीय निवासियों की मौज-मस्ती का भरपूर आनन्द उठाते हैं।

55, 673 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में विस्तृत हिमाचल प्रदेश का वास्तविक स्वरूप ग्रामीण ही है क्योंकि इसकी लगभग 90 प्रतिशत जनसंख्या गांवों में निवास करती हैं। इसी कारण प्रदेश में ग्रामीण पर्यटन के विकास की सम्भावनाओं में वृद्धि लक्षित हुई है। इसका लाभ यह होगा कि पर्यटक सही रूप में प्रदेश की सांस्कृतिक परम्परा एवं विरासत से परिचित हो सकेंगे, तो दूसरी ओर ग्रामीणों की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होगी और उनकी जीवन-शैली में सुधार होगा। इसी सन्दर्भ में किया गया उल्लेख अत्यन्त सार्थक होगा—"वास्तव में ग्रामीण क्षेत्रों में कला-संस्कृति, पुरातन रीति-रिवाज, परम्पराओं और प्राकृतिक धरोहरों का खजाना है। ग्रामीण रीति-रिवाज और परम्पराएं इतनी समृद्ध है कि यह स्थानीय लोगों के साथ-साथ देशी-विदेशी पर्यटकों के लिए भी आकर्षण का केन्द्र है।"[1] भारत सरकार के पर्यटन मन्त्रालय द्वारा 'बैंड एंड ब्रेक फास्ट', पर्यटन को बढ़ावा देने की योजना शुरू की गई है। हिमाचल सरकार ने ग्रामीण अंचलों में इसी प्रकार की योजना 'हिमाचल प्रदेश होमस्टे' का सूत्रपात किया है। हिमाचल के ग्रामीण अंचलों में पहले से ही अतिथि-सत्कार के भरपूर संस्कार हैं। यह कार्यक्रम पर्यटकों को आकर्षित करेगा, तो ग्रामीण विकास को भी नए आयाम देगा।

---

1. हिमाचल प्रदेश में होम स्टे : हिमाचल पर्यटन

हिमाचल में अनेक दुर्ग एवं प्रासाद हैं। कला में रुचि रखने वाले पर्यटकों के लिए इनका वास्तुशिल्प अध्ययन का विषय है। अखंड चंडी प्रासाद (चम्बा), पद्मम प्रासाद (रामपुर) जुब्बल प्रासाद, अर्की प्रासाद, नग्गर प्रासाद आदि अनेकानेक विरासती भवन हैं, जिनमें हिमाचल की काष्ठकला, चित्रकला, भित्ति-चित्रों के अनुपम नमूने उपलब्ध हैं, जो भारतीय ललित कलाओं के इतिहास में अपना विशेष स्थान रखते हैं। कुछ राज-प्रासादों को तो पर्यटकों की सुविधा के लिए 'हैरिटेज होटलों' का रूप दे दिया गया है। इनका इतिहास भी प्रेरणा एवं अध्ययन-शोध का विषय है।

नई पीढ़ी के पर्यटकों की साहसी कार्यकलापों में अधिक दिलचस्पी रहती है। उनके लिए इस प्रदेश में ट्रैकिंग, पर्वतारोहण, रिवर-राफ्टिंग, पैराग्लाइडिंग आदि साहसिक पर्यटन की सुविधाएं उपलब्ध हैं। हिमाचल प्रदेश जड़ी-बूटियों का भण्डार है। औषधीय पौधों की विभिन्न प्रजातियां प्रदेश की शिवालिक पर्वतमालाओं से लेकर शीत मरुस्थल क्षेत्रों तक फैली हैं। इस प्रकार हिमाचल में औषधीय राज्य बनने की भी प्रचुर सम्भावना है। लोगों को आज वैसे भी आयुर्वेदिक उपचार में अधिक रुचि होने लगी है। किसी विद्वान् का कथन कितना सार्थक है—"Ayurveda, being an off-shoot of our cultural Heritage, is greatly suited to Indian Conditions and, more than a science of healing, it lays down a way of life, designed to developmental & physical potentialities." इस स्थिति में यहां, केरल की भान्ति 'मेडिसनल टूरिज़्म' का भी विकास किया जा सकता है।

हिमाचल प्रदेश के विभिन्न पर्यटन स्थलों तथा पर्यटन गतिविधियों का परिचय प्राप्त करना अत्यन्त संगत होगा।

प्राचीन धार्मिक, ऐतिहासिक तथा नैसर्गिक सुरम्यता के पर्याय स्थलों के लिए विख्यात चम्बा में डल्हौजी, खज्जियार, चम्बा, भरमौर प्रमुख पर्यटन स्थल हैं। चम्बा कला-संस्कृति एवं धरोहरों के लिए विश्वविख्यात है, तो 'चम्बा रुमाल' यहां की विशिष्ट पहचान है। पर्यटक यहां के लोक-नृत्यों घुरई, डंडारस, मुसादा का आनन्द ले सकते हैं तो यहां के व्यंजन खमोद, मदरा और तेली माश उनके लिए चिर-स्मरणीय हो सकते हैं। चम्बा के उत्तर-पूर्व साल नदी स्थित गांव 'साहो', सेब बागीचो का घर गांव 'जुम्हार', प्रकृति का शृंगार 'उदयपुर' भी दर्शनीय है। 'चुराहघाटी' में प्राकृतिक सौन्दर्य की अनुपम छटा है तो गांव छतराड़ी और भरमौर के 84 मन्दिर आध्यात्मिक शान्ति के प्रदाता।

हिमाचल प्रदेश में कांगड़ा ही ऐसा क्षेत्र है जो वर्ष-भर पर्यटकों का स्वागत करने की स्थिति में है। इस क्षेत्र में प्रसिद्ध शक्तिपीठ हैं तो विश्व-स्तर पर अपनी पहचान बना चुके पर्यटन स्थल—परागपुर, गरली, मसरूर, धर्मकोट, अंदरेटा, बैजनाथ इत्यादि। धरोहर गांव परागपुर—गरली की पहचान इसकी प्राचीन हवेलियों, भवनों एवं स्लेटनुमा कच्चे घरों के कारण हैं। दिसम्बर, 1997 में घोषित होने वाले धरोहर गांव परागपुर को देश का प्रथम धरोहर गांव होने का सम्मान प्राप्त है। परागपुर का समीपस्थ गांव 'डाडासीबा' राधाकृष्ण के प्राचीन मन्दिर और भित्ति-चित्रों के कारण प्रख्यात है। पौंग जलाशय के निकट स्थित मसरूर गांव के पंद्रह मानोलिथिक-रॉक-कट मन्दिर इसे 'उत्तर भारत के ऐलोरा' का सम्मान दिलवाते हैं। पौंग झील (नगरोटा सूरियां गांव) तथा 'सलोल' गांव के समीपस्थ तत्तवानी के औषधिवर्द्धक गर्म पानी के चश्मे भी पर्यटकों के लिए आकर्षण का केन्द्र है। पौंग झील में पक्षियों की किलौलें अक्तूबर से मार्च तक सुनी जा सकती है। धर्मकोट का नैर्सिक सौन्दर्य अत्यन्त लुभावना है, तो यहां से कांगड़ा घाटी, पौंग झील तथा धौलाधार पर्वत शृंखला का दृश्य अवलोकन एक सुखद अनुभव है। बड़ोह गांव (कांगड़ा से 33 कि०मी०) का संगमरमरी राधा-कृष्ण मन्दिर भक्तों के लिए रुचिकर है। पालमपुर चाय बाग़ीचों के लिए प्रख्यात है तो अंदरेटा गांव की पहचान 'कलानगरी' के रूप में है। पालमपुर से धर्मशाला मार्ग पर पंद्रह कि०मी० दूर गोपालपुर गांव का 'वन्य प्राणी नेचर पार्क' हिमालयन प्रजाति के दुर्लभ वन्य प्राणियों के लिए ख्यात है। शक्तिपीठ चामुंडा नंदिकेश्वर तथा बैजनाथ का प्राचीन शिव मन्दिर भक्तजनों की आस्था के केन्द्र हैं। बैजनाथ से 13 कि०मी० दूर गांव चायबागीचों तथा बौद्ध मठ के कारण प्रसिद्ध रहा। अब यह साहसिक खेल पैराग्लाइडिंग के कारण विश्व-भर में इतिहास रच चुका है। इसकी मान्यता ग्रामीण पर्यटन स्थल के रूप में है।

हमीरपुर-ऊना क्षेत्र के पर्यटन स्थलों में सुजानपुर टीहरा, दियोट सिद्ध, शाहतलाई तथा चिन्तपूर्णी प्रख्यात हैं। ब्यास नदी के तट पर स्थित ऐतिहासिक सुजानपुर टीहरा के नर्वदेश्वर मन्दिर की पेंटिंग्ज तथा गौरीशंकर मन्दिर की अष्टधातु मूर्तियां बहुचर्चित हैं। दियोट सिद्ध (हमीरपुर से 45 कि०मी०) में बाबा बालकनाथ का प्रसिद्ध धाम तथा शाहतलाई में बाबाजी की तपोस्थली जाने-माने तीर्थस्थल और देशी-विदेशी श्रद्धालुओं की आस्था के केन्द्र हैं। चिन्तपूर्णी शक्तिपीठ जगत प्रसिद्ध है, जहां के नवरात्रों का विशेष महत्त्व है।

मंडी-बिलासपुर क्षेत्र की पहचान धार्मिक-साहसिक पर्यटन स्थलों के कारण है,

तो यहां प्रकृति की भी अनुपम छटा है। मंडी तो प्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों के रीति-रिवाजों, परम्पराओं, सांस्कृतिक उपक्रमों का केन्द्र है। मंडी क्षेत्र की लोक-संस्कृति की पहचान बांठड़ा, लोक-गीत और सेपु व्यंजन में निहित है। जोगिन्द्रनगर से चालीस कि०मी० की दूरी पर स्थित है रमणीय 'बरोट'। 'बरोट' ट्रैकिंग के लिए अच्छा स्थल है, तो 'हॉलेल ट्राली' से यात्रा साहसिक-रोमांचक अनुभव है। जोगिन्द्रनगर का हर्बल गार्डन तथा हर्बल संग्रहालय पर्यटन की नवीन दिशा का संकेत है। मंडी से पच्चीस कि०मी० दूर रिवालसर हिन्दू, सिख एवं बौद्ध धर्म का सांझा तीर्थस्थल है। यहां पवित्र झील है और फरवरी-मार्च में आयोजित होने वाला 'छेश्चू' मेला यहां की पहचान है। जाजैहली की ख्याति एक सुन्दर ग्रामीण पर्यटन स्थल के रूप में है। यहां से पंद्रह कि०मी० दूर पहाड़ पर अवस्थित है शिकारी देवी का छत-विहीन मन्दिर। करसोग घाटी का भव्य पर्यटन स्थल चिंडी घने जंगलों तथा सेब के बागीचों के लिए पर्यटकों को प्रिय है। करसोग घाटी में ही है 'खजानों की झील' विशेषण प्राप्त कमरूनाग झील। कमरूनाग मन्दिर तथा यहां प्रतिवर्ष जून में लगने वाला मेला भी पर्यटकों को आकर्षित करता है। बिलासपुर में आकर्षण का केन्द्र हैं—शक्तिपीठ नयना देवी, गोबिन्द सागर झील तथा बहादुरपुर दुर्ग। 'बंदला घाटी', 'पैराग्लाइडिंग' के लिए प्रख्यात है।

देवताओं की घाटी कुल्लू व्यक्ति के तन और मन—दोनों की भूख मिटाती है—सेबों से तन की तो नाटी लोक-नृत्य से मन की। पर्यटक यहां के उत्पादों—कुल्लू शाल, टोपी, पूला की खरीद भी नहीं भूलता! यह क्षेत्र ट्रैकिंग, कैंपिंग, व्हाइट वाटर रिवर राफ्टिंग, स्कींइग तथा पैराग्लाईडिंग के लिए भी आदर्श है। इस घाटी के ट्रैकिंग मार्ग, साहस की परीक्षा लेते हैं। कुल्लू से 69 कि०मी० दूर और समुद्र-तल से 2692 मीटर की ऊंचाई पर स्थित शोजा गांव प्रकृति प्रेमियों को प्रिय है। यह स्थल ट्रैकिंग के लिए आधार शिविर है। यहां से जलोड़ी पास, टकरासी, खनाग तथा सरयोलसर के लिए ट्रैकिंग रूट शुरू होते हैं। ब्यास नदी का तटस्थ गांव नग्गर अपनी सांस्कृतिक विरासत के लिए विश्वविदित है। यहां रूसी कलाकार निकोलस रोरिक की आर्ट गैलरी है। इस गैलरी की पेंटिंग्ज ऐतिहासिक तथा अनुपम है। गांव में पत्थर-लकड़ी से निर्मित परम्परागत शैली के मन्दिर हैं। नग्गर दुर्ग भी स्थापत्य की दृष्टि से अनुपम है। सोलंग गांव की प्रख्याति भी साहसिक पर्यटन के कारण है—ये साहसिक खेलें हैं—पैराग्लाईडिंग, स्कीइंग तथा ट्रैकिंग! यहां पानी के चश्में भी चित्ताकर्षक हैं। कुल्लू घाटी का छोटा-सा गांव मलाणा प्रजातंत्रात्मक प्रणाली का आदर्श है। यहां का मुख्य देवता जमलू है। ट्रैकिंग के

शौकीन मलाणा में मनाली से नग्गर—चंद्राखणी दर्रे से भी पहुँच सकते हैं।

सिरमौर क्षेत्र में अनेक सुरम्य, ऐतिहासिक तथा पर्यटन स्थल हैं। यहां की राजगढ़ घाटी 'पीचवैली' के नाम से प्रख्यात है। यहां का 'स्टोन-फ्रूट' भी बहुचर्चित है। राजगढ़ ट्रैकिंग-कैंपिंग का उचित स्थल है। समुद्र-तल से 6770 फीट की ऊंचाई पर स्थित, सेब तथा आड़ू के लिए ख्यात, हाब्बन गांव 'धरती पर स्वर्ग' सा दीखता है। शिया गांव का 'शिरगुल देव' मन्दिर भी दर्शनीय है। इस क्षेत्र के अन्य सुरम्य पर्यटन स्थल हैं—चूड़धार, रेणुकाजी, नौहराधार तथा हरिपुरधार। यहां का लोक-नृत्य 'सीटू' अत्यन्त लुभावना होता है।

सोलन में चायल तथा अर्की दर्शनीय स्थल है। 'पहाड़ों की रानी' के नाम से विदित शिमला से 22 कि०मी० की दूरी पर है फागू! सर्दियों में यहां की बर्फवारी मोहक होती है। सेब के बागीचों की भी अपनी शोभा है। एक पर्यटक स्थल है चौपाल, जहां से 24 कि०मी० दूर 'बीजट देवता' का दर्शनीय मन्दिर है। यह मन्दिर पहाड़ी शैली का है और इसके तथा भीम काली मन्दिर (सराहन) के वास्तुशिल्प में काफी साम्य है। नारकंडा में सेब के बागीचों का आनन्द है, तो स्की ढलानों की सुलभता। कोटगढ़ तथा थानाधार—प्रमुख सेब उत्पादन क्षेत्र, नारकंडा से अधिक दूर नहीं। सराहन में सेब के बागीचों की भरमार है। यहां का भीमा काली मन्दिर तथा वन्य प्राणी पार्क भी दर्शनीय है। शिमला क्षेत्र में हाटकोटी, चिड-गांव, चांशल भी दर्शनीय स्थल है।

हिमाचल के जनजातीय क्षेत्र किन्नौर के ग्रामीण पर्यटन स्थल नैसर्गिक सौन्दर्य के पर्याय हैं। किन्नौर की संस्कृति के दो रूप हैं—निचले भाग में हिन्दू संस्कृति तथा परम्पराएं, तो ऊपरी भाग में बौद्ध परम्पराएं। यहां के पारम्परिक व्यंजन हैं—चिल्टा, फाफरा, ओगला तथा सत्तू! किन्नौरी शाल, टोपी, पट्टी, दोड़ू प्रमुख उत्पाद हैं। सांगला घाटी का 'बटसेरी' आदर्श गांव घोषित हुआ है। लकड़ी के घर सुन्दर लगते हैं। 'चितकुल' इस घाटी का अन्तिम गांव है। सितम्बर मास में आयोजित होने वाला 'फुलैच' उत्सव विशेष आकर्षण का कारण बनता है।

जनजातीय क्षेत्र लाहौल-स्पीति प्रदेश के शीत मरुस्थल के रूप में जाना जाता है। यहां के अधिकांश लोग बौद्ध धर्मानुयायी हैं। बौद्ध परम्पराएं ही, इसी कारण यहां प्रचलित है। यहां विश्व प्रसिद्ध 'गोंपा' है। लाहौल और स्पीति घाटी को जोड़ते हैं—रोहतांग तथा कुंजम दर्रे। यहां जून से सितम्बर तक ट्रैकिंग का लुत्फ उठाया जा सकता है। स्पीति घाटी के दर्शनीय स्थल हैं—ताबो, ढंकर, काजा, क्यी, किब्बर, लोसर! लाहौल में ऐसे ही स्थल हैं—गोंधला, सिस्सु, तांदी, त्रिलोकीनाथ

इत्यादि।

सम्पूर्ण विश्व में बदलती हुई जीवन-शैली तथा राजस्व वृद्धि के सन्दर्भ में भी पर्यटन पर विचार करना आवश्यक होगा। आय के साधनों में वृद्धि होने से भारतीय जीवन-शैली में भी परिवर्तन आया है। दुनिया आज सिकुड़ती जा रही है तो भारतीय विदेश में भी पर्यटन को अपना रहे हैं। एक अनुमान के अनुसार प्रत्येक वर्ष 55 करोड़ भारतीय पर्यटन से जीवन को सुरभित करते हैं। इस संख्या में 55 लाख भारतीय भी शामिल हैं, जिन्होंने विदेशी पर्यटन की चाह पूरी की। सुविधा तथा सामर्थ्य अनुसार देशों का चयन हुआ। भारत में सकल घरेलू उत्पाद में पर्यटन का 6.23 प्रतिशत योगदान है। रोजगार में योगदान 8.78 प्रतिशत का है। सन् 2008 में भारतीय पर्यटन उद्योग ने सौ अरब अमेरिकी डॉलर (45 खरब रुपये) का कारोबार किया। हिमाचल में बहुउद्देश्य पर्यटन की सम्भावनाएं हैं। इस बदलते परिदृश्य का प्रदेश को भी लाभ मिलना चाहिए।

हिमाचल के निवासी अपेक्षाकृत भोले-भाले तथा सीधे-सादे हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में अतिथि-सत्कार की परम्परा है। प्रदेश में पर्यटकों की सुरक्षा-सुविधा की कोई समस्या नहीं। कहीं हैरिटेज होटल हैं, तो कहीं पर्यटन विभाग की आवासीय सुविधा। 'होम-स्टे' ने तो समूची व्यवस्था को नव-आयाम दिए हैं इस व्यवस्था तथा अन्य आवासीय प्रबन्धों में पर्यटकों, विशेषकर विदेशी पर्यटकों एवं महिलाओं के लिए समुचित 'जन-सुविधाएं' अत्यावश्यक हैं। हिमाचल में पर्यटन का भविष्य निश्चित ही स्वर्णिम है।

□□□

हिमाचल : औषधीय राज्य

प्राचीन ग्रन्थों में इस प्रकार के कई उल्लेख उपलब्ध हैं कि वैदिक काल में ऋषि-मुनि हिमाचल क्षेत्र में प्राकृतिक रूप से पाई जाने वाली जड़ी-बूटियों से सामान्य तथा विकट प्रकार के रोगों का उपचार करते थे। हमारे देश में लगभग पन्द्रह सौ प्रजातियों के औषधीय पौधे उगाए जाते हैं। विकासशील देशों में आज यह धारणा प्रबल होती जा रही है कि अंग्रेजी दवाइयों की अपेक्षा जड़ी-बूटियों से निर्मित औषधियां अधिक सुरक्षित तथा लाभकारी हैं। इनसे उपचार में, अंग्रेजी दवाइयों की अपेक्षा, समय अवश्य अधिक लग सकता है, परन्तु इनके सेवन से स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता।

पहले जड़ी-बूटियां प्रकृति से ही प्राप्त की जाती थीं, परन्तु इनकी उपयोगिता के दृष्टिगत, छोटे-बड़े स्तर पर इनकी खेती के प्रयास होने लगे हैं। दैनिक प्रयोग में आने वाली औषधियों के लिए सामान्य स्तर के 'हर्बल गार्डन' स्थापित करने की सोच में वृद्धि हुई है। सामान्यजन भी समझता है कि 'लैमन-ग्रास'-गंध तरना—पेट के अफारे, बुखार, जोड़ों के दर्द के लिए उपयोगी हैं। 'सर्पगंधा'—रक्तचाप, महिलाओं के रोग, पागलपन के उपचार में सहायक है। 'अश्वगंधा'—सर्वोत्तम टॉनिक है। ब्रह्मी बूटी मस्तिष्क का टॉनिक है। 'आमला—दिल-दिमाग को ताकत देता है तथा टी०बी० में लाभकारी है। 'अर्टिमिसिया साईना'—पेट के कीड़ों को मारने में रामबाण का काम करता है। इसी प्रकार अन्य जड़ी-बूटियों का भी निजी उपयोग है।

हिमाचल प्रदेश, अपने प्राकृतिक रूप में, जड़ी-बूटियों का भण्डार है। प्रदेश की शिवाल्कि पहाड़ियों से लेकर शीत मरुस्थल क्षेत्र तक औषधीय पौधों की विभिन्न प्रजातियां पैदा होती हैं। जड़ी-बूटियों की खेती के दृष्टिगत प्रदेश का विभाजन चार क्षेत्रों में किया जा सकता है—कम ऊंचाई वाला शिवालिक क्षेत्र, मध्य पहाड़, ऊंचे पहाड़ तथा अधिक ऊंचाई वाला शीत मरुस्थल क्षेत्र! हिमाचल की 93 प्रतिशत जनता प्रत्यक्ष या पारेक्ष रूप से कृषि पर निर्भर है। प्रदेश के 55.7 लाख हेक्टेयर क्षेत्र में से केवल 6.21 लाख हेक्टेयर भूमि पर कृषि होती है। प्रदेश में कुछ ऐसे

बड़े-बड़े क्षेत्र हैं, जो कृषि के लिए नहीं, बागवानी के लिए ही उपयुक्त हैं। इसमें दो लाभ हैं—एक तो फलों की बागवानी मिट्टी का कटाव तेज नहीं करती और दूसरे बागवानी से कृषि की अपेक्षा रोजगार सृजन की क्षमता अधिक है। कोटगढ़, कोटखाई, जुब्बल और कुल्लू के उन क्षेत्रों में जहां सेबों की बागवानी हुई है, वहां उत्पादकों की आय में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। अब राज्य में प्रतिवर्ष चार लाख टन फलों का उत्पादन होता है। राज्य को 'सेब तश्तरी' तथा 'भारत के सेब उत्पादक राज्य' का सम्मान मिला है। सेबों की 'डिब्बाबंदी' में पर्यावरण की समस्याओं में वृद्धि हुई है। बाग से सड़क तक उत्पाद को लाना, यातायात व्यवस्था, समय से मंजिल पर उत्पाद को पहुँचा पाना आदि कुछ विकट समस्याएं हैं। इस स्थिति में जड़ी-बूटियों की खेती एक लाभकारी विकल्प है।

प्रदेश के अनेक क्षेत्रों में औषधीय तथा सुगन्धित पौधों की खेती की अपार सम्भावनाएं हैं। कुत्थ, काला जीरा, चिकोरी तथा हॉप्स के उत्पादन में अच्छी पहल हुई है। केसर की खेती में भी वृद्धि हुई है। डायोस्कोरिया, कुटकी, अतीस, सालमपंजा, सोमलता, धूप, सुगन्ध बाली बणककड़ी, दारुहल्दी, रतनजोत, वनक्शा तथा गुच्छी आदि के एकत्रण एवं निस्सारण की दृष्टि से प्रदेश का राष्ट्रीय मंडी पर काफी समय तक आधिपत्य रहा। आवश्यकता इस बात की है कि बहुमूल्य जड़ी-बूटियों के उत्पादन क्षेत्र में वृद्धि की जाए। साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि इनका अनधिकृत दोहन सख्ती से रोका जाए। घरेलू उपचार के लिए जड़ी-बूटियों के उपयोग की प्रदेश में परम्परा रही है। नकद आय तथा दैनिक प्रयोग की वस्तुओं की खरीददारी के लिए इनकी बिक्री आम बात है। अज्ञानतावश इस प्रक्रिया में कई प्रजातियों को हानि पहुंच जाती है। एक अनुमान के अनुसार प्रदेश में तीन हजार प्रजातियों की जड़ी-बूटियों में से पांच सौ से अधिक औषधीय गुणों से युक्त है। सावधानीपूर्वक दोहन न होने से 75 के लगभग प्रजातियां संकटग्रस्त हो गई हैं।

चम्बा रियासत के अन्तिम शासक राजा लक्ष्मण सिंह ने अपनी रियासत में जड़ी-बूटियों के संरक्षण के हित में 'चम्बा स्टेट माएनर फारैस्ट प्रोडियूसर एक्सप़्लाएटेशन एंड एक्सपोंट एक्ट' सन् 1946 में बनाया और इसे 21 मार्च, 1947 से लागू किया। थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ यह कानून चम्बा जिला में आज भी लागू है। इस कानून के अंतर्गत ऐसी व्यवस्था है कि बहुत ऊंची धारों तथा गोहरों में उगने वाली बहुमूल्य जड़ी-बूटियों का दोहन इस प्रकार से हो कि प्रजातियों पर संकट न आए। इस कानूनी व्यवस्था से रियासत की आय में वृद्धि

करना भी लक्ष्य था। रियासती दिनों में लोग कानून के उल्लंघन का साहस नहीं करते थे, परन्तु आज तो कानून से खिलवाड़ हो रही है। इसी का यह नतीजा है कि आज वनों, वन्य प्राणियों तथा जड़ी-बूटियों पर संकट गहराया है। पांगी घाटी इसी संकट का शिकार है।

पांगी की धरवास धार, किलाड़ धार, किरथूनी धार, कुमार धार, बियाना गाहर, बगोटू गाहर, मिंथल गाहर, परमार धार, उड़ीन धार, टवान धार, शरऔणी धार, शौर धार, कडूनाला धार, ठुठियाला गाहर में पौदा होने वाली बहुमूल्य जड़ी-बूटियां इस प्रकार हैं—कौड़, धूप, मिट्ठी पतीस, कड़वी पतीस, कुठ, सालम पंजा, वन काकड़ी, काला जीरा, किनस, शिलाजीत पुडेई, चुकरी, रत्नजोत, चौंरा, पितकलू, घिणाणा, गुरणु, सेसकी, जंथु, सुणैण, ठप्पर इत्यादि। इनमें से कौड़, धूप, मिट्ठी पतीस, कौड़ी पतीस, कुठ, किनस, गुच्छी, शिलाजीत का पहले से ही व्यवसाय चल रहा है। पांगी घाटी इन जड़ी-बूटियों के उत्पादन के लिए अपेक्षाकृत बेहतर क्षेत्र है, क्योंकि यहां जुलाई से लेकर सितम्बर के अन्त तक आम तौर पर मौसम खुश्क रहता है। ऐसे मौसम में इन जड़ी-बूटियों को निकालने तथा सुखाने की सुविधा रहती है। विश्वस्त सूत्रों के अनुसार ये जड़ी-बूटियां उस स्थान से, यहां वृक्ष पैदा होने बन्द हो जाते हैं, काफी ऊंचे पैदा होती हैं। धूप 3335 से 4270 मीटर की ऊंचाई के मध्य पाया जाता है। डाइसकोरिया या किनस 2135 से 3202 मीटर की ऊंचाई पर, चौरा 2200 मीटर से ऊपर पैदा होता है तो सालम पंजा तीन हजार मीटर के ऊपर। अफसोस की बात तो यह है कि इस घाटी में उत्पन्न होने वाली अनेक जड़ी-बूटियों की अभी तक पहचान भी नहीं हो पाई। जड़ी-बूटियों का 'एक्सपोर्ट परमिट' की मात्रा से अधिक चोरी-छिपे निर्यात भी चिंता का विषय है।

पांगी के अतिरिक्त चम्बा के अन्य वन्य क्षेत्रों में भी ये जड़ी-बूटियां काफी संख्या में हैं। सर्वाधिक जड़ी-बूटियां धुराह वन मंडल में हैं। दूसरा स्थान भरमौर का और तीसरा डलहौजी का। जिन जड़ी-बूटियों का गत कई वर्षों से व्यवसाय हो रहा है वे हैं—मुशकबाला, धूप, कौड़, कुठ, वन काकड़, गच्छी किनस, मिट्ठी तथा कौड़ी पतीस, ककड़सिंगी, वनक्शा, तुलसी पतर चुकरी, पटालयां, बारबेरी जड़, सालम, मिशरी, भूतकेसी, निहानी, कपूर-कचरी, बजरदंती, पत्थर तोड़, चुरैता इत्यादि।

जड़ी-बूटियों की सम्भावनाओं के पूर्ण दोहन हेतु प्रदेश को जिन चार क्षेत्रों में विभाजित किया गया है, वहां जड़ी-बूटी उद्यान-स्थापन की व्यवस्था है। जोगिंद्र नगर (मंडी) में प्रदेश के आयुर्वेद विभाग ने एक हर्बल गार्डन स्थापित कर रखा है। नेरी (हमीरपुर), सरीवेस (शिमला) तथा सांगला घाटी में ऐसे ही उद्यान विकसित

किए गए हैं। सोलन के डॉ० यशवंत सिंह परमार बागवानी व बानिकी विश्वविद्यालय ने प्रदेश के लिए एक हजार से भी अधिक जड़ी-बूटियों को अभिलेखित किया है। विश्वविद्यालय के मुख्य परिसर नौणी, राहला तथा जाच्छ में जड़ी-बूटी उद्यान स्थापित है। विश्वविद्यालय ने जड़ी-बूटी खेती को प्रोत्साहित करने हेतु प्रयोगशालाएं तथा अनुसन्धान केन्द्र स्थापित कर रखे हैं। समूचे प्रदेश में ऐसे केन्द्रों की स्थापना से व्यावसायिक स्तर पर जड़ी-बूटियों की खेती को प्रोत्साहित किया जा सकता है। प्रदेश के पिछड़े तथा कबायली क्षेत्रों में, जहां लोग चोरी-छिपे जड़ी-बूटियों का दोहन कर अपनी रोजी-रोटी की व्यवस्था करते हैं, वहां यह खेती आजीविका का वैकल्पिक आधार बन सकता है। इस क्षेत्र में होने वाले अनुसंधान का उपयोग पर्यटन विकास में भी सहायक सिद्ध होगा।

एक रिपोर्ट के अनुसार सन् 1991 में जड़ी-बूटियों से देश में लगभग सौ करोड़ रुपयों की दवाइयों का उत्पादन हुआ था और अब यह राशि चार सौ करोड़ तक पहुंच चुकी है। अंतर्राष्ट्रीय मार्केट में औषधीय पौधों की मांग दिन-प्रतिदिन बढ़ रही है। हमारा पड़ौसी देश चीन लगभग 18 हजार करोड़ वार्षिक की राशि इन औषधीय पौधों से प्राप्त कर रहा है। हमारे देश में सम्भावनाएं काफी हैं। हिमाचल प्रदेश को इस क्षेत्र में अग्रणी होना है। प्रदेश के यह हित में होगा कि इसकी औषधीय राज्य के रूप में पहचान बने।

□□□

हिमाचल में साहसिक खेलें

हिमाचल देव भूमि है। समूचे देश में इसे 'सेब तश्तरी' अर्थात् 'सेब उत्पादन वाले प्रदेश' का गौरव प्राप्त हुआ है। यह प्रदेश अब पर्यटकों के आकर्षण का भी केन्द्र बन रहा है। प्रतिवर्ष यहां दो लाख से अधिक पर्यटक आते हैं। साहसिक खेलों ने यहां पर्यटन को नए आयाम प्रदान किए हैं। हिमाचल की झीलें, अपने सौन्दर्य के कारण पर्यटकों को पल-पल आकर्षित करती हैं, वहां राफ्टिंग का आनन्द तो निजी अनुभूति है। पर्वतारोहण, बर्फ पर स्कीइंग, पानी के खेल, हाइकिंग, ट्रेकिंग, हैङग्लाइडिंग, ऐरो स्पोर्ट्स उधमी पर्यटकों के आकर्षण केन्द्र हैं।

सिरमौर की रेणुका झील लगभग तीन कि०मी० क्षेत्र में है और यह समुद्र-तल से ढाई हजार फीट की ऊंचाई पर स्थित है। रिवालसर झील समुद्र-तल से 1350 मीटर की ऊंचाई पर है। यह मन्दिरों के नगर मंडी से चालीस कि०मी० दूर है। मणि महेश झील 3950 की ऊंचाई पर, चम्बा से 45 कि०मी० दूर, भरमौर में स्थित है। तश्तरीनुमा खजियार झील, विशालकाय देवदार के वृक्षों के मध्य, सौन्दर्य की अनुपम छटा बिखेरती है। राफ्टिंग के लिए इनसे बढ़िया स्थल भला विश्व में कहां मिलेंगे?

स्कीइंग आजकल सामान्यजनों, विशेषकर पुरुष-महिला पर्यटकों में, अत्यन्त लोकप्रिय है। नारकंडा तथा कुफरी की बर्फीली ढलानें स्कीइंग के लिए विश्व-भर में विख्यात है। नारकंडा प्रदेश की राजधानी शिमला से, उत्तरपूर्व में राष्ट्रीय मार्ग पर 64 कि०मी० की दूरी तथा समुद्र-तल से नौ हजार फीट की ऊंचाई पर स्थित है। अंग्रेजों ने इस स्थल को पर्यटकों के लिए खोला परन्तु अब तक यह उपेक्षा का शिकार ही रहा है। यहां पर सन् 1980 में, योजनाबद्ध तरीके से, 'इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ स्कीइंग एंड माउंटेनियरिंग' तथा हिमाचल पर्यटन के सामूहिक प्रयास से स्कीइंग प्रशिक्षण शिविरों का आयोजन हुआ। अधुना, वेस्टर्न माउंटेनियरिंग इंस्टीट्यूट, मनाली द्वारा स्थापित उप-केन्द्र द्वारा ऐसे कार्यक्रमों की व्यवस्था है। 'हाई लैंड स्कूल ऑफ ऐडवेंचर' का इस क्षेत्र में योगदान सराहनीय रहा है। नारकंडा से तिब्बत का सीधा मार्ग है। दिसम्बर-जनवरी में बर्फ पड़ने पर यहां

स्कीइंग का लुत्फ उठाया जा सकता है। 'हट्टू-पीक' हाइकिंग के लिए प्रख्यात है।

शिमला से सोलह कि०मी० दूर, राष्ट्रीय उच्च मार्ग पर अवस्थित, कुफरी को स्कीइंग गतिविधियों में अग्रणी माना जाएगा। चारों ओर से पहाड़ियों से घिरे कुफरी का सौन्दर्य सर्दियों में अधिक ही बढ़ जाता है। इस रमणीक स्थल के प्राचीन भीमा काली मन्दिर के समीप एक तलाई (तालाब) है। स्थानीय भाषा में 'तलाई' को 'कुफरी' सम्बोधन प्राप्त है। यही कारण इस स्थल के नामकरण का रहा होगा। समुद्र-तल से 2623 मीटर की ऊंचाई पर स्थित इस ऐतिहासिक स्थल को कभी 'चीनी बंगला' नाम से भी जाना जाता था। अब तो चीनी बंगला एक कैफेटेरिया मात्र है, जिसके प्रांगण में भोज पत्र के तीन दुर्लभ वृक्ष हैं।

'बर्फ के खेलों' के लिए विख्यात 'कुफरी' को ही प्रदेश में सर्वप्रथम स्कीइंग शुरू करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। बर्फबारी के दिनों में तो यहां स्कीइंग प्रेमियों की अपार भीड़ देखने को मिलती है। स्कीइंग के दृश्य का रोमांच श्री गुरमीत बेदी ने इस प्रकार व्यक्त किया है—"यहां पर महासू से कुफरी बाजार तक जाती तीन किलोमीटर लम्बी स्कीइंग स्लोप पर फिसलते हुए, पहला पड़ाव 'कुबेर' के पास आता है। वहां से 'जंप' लगाकर स्कीयर कुफरी बाजार तक फिसलता हुआ पहुँच जाता है। हेलिकॉप्टर सुविधा उपलब्ध न होने पर स्कीयर 'स्नो शू' पर लगी विशेष चपटी के बल पर फिर से बर्फीली ढलानों पर चढ़ता हुआ हिमशिखर, यानी महासू चोटी पर जा पहुंचता है और वहां से बर्फीली ढलानों पर फिसलने का रोमांच फिर से पा लेता है।" 'शिमला आइस स्केटिंग क्लब' द्वारा इस स्थल को स्कीइंग के उपयुक्त स्वीकार करने पर यहां 1951-52 में स्कीइंग का शुभारम्भ हुआ। स्वर्गीया प्रधानमत्री श्रीमती इंदिरा गांधी के प्रयास से जब 1954 में 'हिमाचल विंटर स्पोर्ट्स क्लब' की स्थापना हुई, तो मानो 'कुफरी' का भाग्य खुल गया। स्मरण रहे कि श्रीमती इंदिरा गांधी इस क्लब की संरक्षक थी और प्रदेश के प्रथम मुख्यमंत्री डॉ० यशवन्त सिंह परमार इसके अध्यक्ष! इन्हीं के प्रयासों से यहां 'स्की लिफ्ट' स्थापित हुई, विदेशों से आवश्यक उपकरणों का भी आयात हुआ। सन् 1955 में यहां प्रथम 'स्कीइंग फेस्टिवल' आयोजित हुआ और 1968 की स्कीइंग प्रतियोगिताएं ऐतिहासिक बनीं। दस हजार दर्शकों ने इस आयोजन का आनन्द लिया। जब यहां बर्फबारी कम हुई तो प्रतियोगिताओं को 'नारकंडा' में शिफ्ट कर दिया गया। जिन लोगों की 'स्कीइंग' में दिलचस्पी नहीं, वे स्लेज, द्वारा बर्फ पर फिसलने का आनन्द ले सकते हैं। इंदिरा टूरिस्ट पार्क तथा याक की सवारी यहां के अन्य आकर्षण हैं। रोहतांग दर्रा में भी स्कीइंग स्लेज सुविधा है।

वैसे तो समूचा हिमाचल ही ट्रैफिंग के लिए उपयुक्त है, परन्तु सर्वाधिक मार्गों के कारण मनाली क्षेत्र इस साहसी कार्यक्रम के लिए अनुकूल है। मनाली के आसपास ट्रैकिंग के आठ मार्ग रेखांकित हैं—मनाली-रोहतांग-वारालाचाला-मनाली मार्ग—266 कि०मी० के इस दुर्गम ट्रैक को पार करने के लिए इक्कीस दिन चाहिए। रायसन—जाणाधारी-मणिकर्ण मार्ग—इस 135 कि०मी० दुर्गम मार्ग को पार करने में पन्द्रह दिन का समय लगता है। जिस ट्रैक के प्रमुख आकर्षण हैं—बिजली महादेव, मणिकर्ण, मलाणा, वह ट्रैक है मनाली-रवनाल—चन्द्रखाणी-मनाली। लाहौल घाटी का सबसे बड़ा हिमखंड 'बड़ा शिगरी' खतरनाक तो है, परन्तु पर्वतारोहण में दिलचस्पी रखने वालों के आकर्षण का केन्द्र है। साहसिक रुचि के पर्यटकों को शोजा घाटी में अनेक आकर्षण उपलब्ध हैं। सांगला घाटी का स्विट्ज़रलैंड कहलाने वाला गांव 'छितकुल, ट्रैकिंग, स्कीइंग तथा 'वाइल्ड लाइफ एडवेंचर' के लिए सर्वोत्कृष्ट स्थल है।

हिमाचल में ट्रैकिंग का अत्यधिक उपयुक्त समय अप्रैल से सितम्बर तक का है। अपना अभियान शुरू करने से पूर्व 'ट्रैकर' को ट्रैक की संपूर्ण जानकारी प्राप्त कर लेना अत्यावश्यक है। पगडंडी के अभाव में ट्रैकर को मार्ग का अनुमान स्वयं ही करना होता है। उसे अपने सामान में हल्के गर्म कपड़े, भोजन पकाने का सामान तथा अन्य अपेक्षित सामग्री—वाटरप्रूफ विस्तर, कैमरा, दूरबीन, नोकदार छड़ी, टैंट आदि सहेजना आवश्यक है। ट्रैकिंग भी प्रत्येक व्यक्ति के वश का रोग नहीं। इसके लिए दम-खम दरकार है। मार्ग में आने वाली दिक्कतों का वर्णन एक ट्रैकर की लेखनी ने इस प्रकार किया है—"राहला प्रपात में अभी तक बर्फ जमी हुई है—कई मीटर बर्फ की मोटी परत।—बर्फ के नीचे से पानी का झरना बह रहा है। जल-प्रपात से कुछ दूर आगे जाकर एक तीखी ढलान से हम ऊपर चढ़ रहे हैं, सीधी प्राचीर के समान। पग-पग पर सांस रुकता है, धड़कन तेज होती है, नीचे देखने से आंखों के सामने अंधेरा छा जाता है। सभी ऊपर पहुंच गए तो कुछ शांति मिली। सुख का सांस लिया। भगवान का लाख-लाख शुक्रिया जो सही-सलामत इस मौत के कुएं से बाहर आए।[1]

हिमाचल में ट्रैकिंग में दिलचस्पी रखने वाले व्यक्तियों के लिए सभी प्रकार के विकल्प खुले हैं—कहीं सुविधा है, तो कहीं भरपूर जोखिम भी, कहीं ऊंचाई कम है तो कहीं अधिक, ट्रैकिंग अवधि में भी विविधता है—निर्णय तो ट्रैकर को ही लेना

1. व्यास तीरे : इन्द्रनाथ चावला—प्रवेश प्रकाशन, पटियाला (मैं पुनः रोहतांग गया)

है। इस सम्बन्ध में उल्लेख है–"Himachal offers the most amazing & variegated trekking opitions to the adventurous minded, cold deserts, high mountains, dense forests, alpine pastures. The degree of difficulty can range from moderate to strenuous to extremely difficult and the elevations from 200 mtrs. to 5500 mtrs. The duration can stretch from 2days to eight days.—Although every district of the state can lay claim to popular treks, the prime trekking areas lie in kulu, kangra, chamba, kinnaur, lahul & spiti & upper simla."[1]

हिमाचल में ऐरो स्पोर्ट्स की शुरुआत तो हुई, परन्तु उस दिशा में बहु-प्रयास अपेक्षित है। यहां 1993 में पैराग्लाइडिंग शुरू हुई, जब इस कार्य हेतु विदेशी पायलटों की सेवाएँ प्राप्त की गईं। प्रदेश के कतिपय साहसी सेवानिवृत्त लोगों ने इस खेल को लोकप्रिय बनाने के प्रयास किए। प्रशिक्षण का पारिश्रमिक भी प्रदान किया गया। प्रयास करने वालों में सर्वश्री शक्तिसिंह चंदेल, रामपाल गौतम, मनाली के पायलट रोशन ठाकुर तथा बिलासपुर के सोनू भारद्वाज के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री रोशन ठाकुर ने विदेश में प्रशिक्षण भी प्राप्त किया और मनाली के निकट सोलंग नाला से ढलान से उड़ानें भरकर कीर्तिमान स्थापित किया। श्री ठाकुर तथा ब्रूस मिल्ज़ (न्यूजीलैंड) के अनुसार बंदला (बिलासपुर) तथा बीड़ की विलिंग चोटी (पालमपुर) उड़ानों के लिए आदर्श स्थल हैं। हिमाचल पर्यटन विभाग के प्रयास से कई युवक प्रशिक्षित हुए तथा बिलासपुर, कुल्लू, मनाली में पैराग्लाइडिंग क्लब पंजीकृत हुए। अनुभवी प्रशिक्षकों ने काजा, रोहड़ू, हमीरपुर, राजगढ़ के युवकों को प्रशिक्षित किया। कई उड़ानें भरी गईं। यह अनुभव किया गया है कि इस दिशा में बार-बार आरम्भिक शिविरों की बजाय सघन ट्रेनिंग की व्यवस्था की जाए। इस साहसिक क्रीड़ा का यथोचित प्रचार भी अपेक्षित है। सन् 1999 में भी बिलासपुर की बंदला पहाड़ी से लुहणू मैदान तक अनेक उड़ानें भरी गईं। इस क्रीड़ा का भविष्य प्रदेश में काफी उज्ज्वल है।

हिमाचल में लगभग तीन हजार कि०मी० क्षेत्र में प्रवाहमान नदियों एवं जलस्रोतों में जल-क्रीड़ा का रोमांच भी अनुभव किया जा सकता है। लगभग बारह सौ कि०मी० का क्षेत्र ट्राउट के लिए लक्षित है, परन्तु ट्राउट-शिकार के लिए प्रसिद्ध है रोहड़ू। सोलांग नाला (मनाली) तो खेलों का स्वर्ग स्वीकार किया गया है।

---

1. Trekking in Himachal : Himachal Tourism

इस सन्दर्भ में उल्लेख है–"A beautiful valley, surrounded by white crested mountains & tall deodar trees, solang is known for adventure sports like sking, paragliding, trekking etc. The Nallah has been developed as a sports heaven for tourists & also hosts state & national level winter sports."[1]

साहसिक खेलों के साथ-साथ प्रदेश में पारम्परिक तथा वर्तमान में लोकप्रिय खेलों का भी विकास हुआ है। सरकार ने 'पोलो' के प्रोत्साहन की व्यवस्था की है, तो देश-विदेश में लोकप्रिय 'क्रिकेट' के खेल को नए आयाम दिए हैं। धर्मशाला में निर्मित अत्याधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के क्रिकेट 'स्टेडियम' में, कुछ समय पूर्व आई०पी०एल० की सराहनीय व्यवस्था का श्रेय हिमाचल क्रिकेट एसोसिएशन के अध्यक्ष एवं हमीरपुर के युवा सांसद श्री अनुराग ठाकुर को जाता है। नादौन का नव-निर्मित क्रिकेट स्टेडियम भी बहुचर्चित उपलब्धि है।

श्री अनुराग ठाकुर ने खेलों के क्षेत्र में बुनियादी ढांचा तैयार कर, प्रदेश को खेलों में अग्रणी बनाने का संकल्प किया है। प्रदेश में हिमालियन इन्स्टीट्यूट ऑफ स्पोर्ट्स का शीघ्र शुभारम्भ होगा और यह संस्थान अन्यान्य पारम्परिक तथा आधुनिक खेलों का विकास करेगा। प्रदेश की क्रिकेट एसोसिएशन की ओर से संस्थान को प्रतिवर्ष पन्द्रह लाख का अनुदान मिलेगा। इतनी ही राशि प्रादेशिक उद्योगों की ओर से मुहैया की जाएगी। 'चौपाल' के स्टेडियम पर भी सरकार 45 लाख खर्च करेगी। खेल जगत में यह नव-प्रभात होगा।

□□□

1. Manali-Kulu-Mandi : Alaya Himachal : Himachal Tourism

हिमाचल : ऐतिहासिक-सांस्कृतिक स्थल

हिमाचल एक पर्वतीय राज्य है, जिसका नैसर्गिक सौन्दर्य इसके पहाड़ों में ही दृष्टिगोचर होता है। प्रदेश की लगभग 90 प्रतिशत जनता गांवों-पर्वतों में निवास करती है। प्रदेश का वास्तविक स्वरूप ग्रामीण ही है, परन्तु इससे दस प्रतिशत जनसंख्या वाले नगरों का महत्त्व कम नहीं हो जाता। नगर एवं ग्राम एक-दूसरे के पूरक होते हैं। प्रदेश में अनेक ऐसे नगर हैं, जिनका इतिहास गरिमामय है, तो अन्य अपनी सांस्कृतिक पहचान बनाए हुए हैं। ये सांस्कृतिक इतिहास के गौरवपूर्ण अध्याय हैं और प्रदेश के सन्दर्भ में इनकी चर्चा आवश्यक है।

शिमला—उपनिवेशवादी इतिहास

हिमाचल प्रदेश में ऐसे अनेक स्थल हैं, जिनका इतिहास उपनिवेशवादी शासन के यौवनकाल से जुड़ा है। ये स्थल हैं—कसौली, डलहौज़ी, पालमपुर, धर्मशाला और इनमें विशिष्ट है शिमला! उत्तर-पश्चिम हिमाचल के आगोश में स्थित, अपने प्राकृतिक वैभव के कारण पर्यटकों के आकर्षण का केन्द्र शिमला नगर पहाड़ की चोटी और इसकी दोनों ओर की ढलानों पर अवस्थित है। यह नगर जिस पहाड़ी पर फैला है उसका क्षेत्र लगभग 12 वर्ग कि०मी० है। इस अर्धचन्द्राकार पहाड़ी से निकली पहाड़ियों पर इसके उपनगर बसे हैं। शिमला जिला 5131 वर्ग कि०मी० क्षेत्र में विस्तृत है और इसकी सीमाएं उत्तर में मंडी, कुल्लू तथा किन्नौर, दक्षिण में जिला सिरमौर, पूर्व में जिला किन्नौर तथा उत्तर प्रदेश और पश्चिम में सोलन जिला से मिलती हैं।

शिमला की पहचान इसके विरासती भवनों, देवदार के पौराणिक वनों तथा इसके उत्तर-पश्चिम में बर्फ से ढकी पहाड़ी चोटियों से है। सब मिल-जुलकर ऐसा मनमोहक दृश्य बनता है कि इससे नजर हटाने का संकल्प भी कठिन है। शिमला का दृश्य मौसम के साथ-साथ बदलता है और इसी में बार-बार शिमला की ओर लौटने की पुकार छिपी रहती है। प्राकृतिक परिवेश को रेखांकित करते हुए कहा गया है—"Shimla has a rare range of built heritage & is surrounded

by thick forests of pine, Himalayan oak, flowering rhododendron & tall cedars—the 'almost-legendary' deodar trees. This magnificent setting & picture of idyllic retreat in the mid-ranges of the Himalaya mountains is framed by high peaks that trace a snowclad line across the north.[1]

शिमला का अपना इतिहास है तो ऐतिहासिक महत्त्व भी, परन्तु केवल इतिहास के आधार पर ही तो वर्तमान नहीं जिया जा सकता। शिमला की विशिष्टता यह है कि इसने अपना एक विलक्षण जीवन-दर्शन अपना लिया है, सांस्कृतिक विरासत को संजोया है तो वर्तमान के आलोक में अपने को संवारकर समृद्ध किया है। अपने अनेक आकर्षणों के कारण अपनी राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय पहचान बनाई है। इसी संदर्भ में निम्न पंक्तियां कितनी सार्थक हैं—"Today's shimla retains a substantial measure of a distinct life style that had grace, leisure & elegance as its hallmarks. But unlike a place that lives on memories alone, the town also has a youthful vigour in its step and its well developed facilities and numerous attractions".[2]

शिमलू, सेमला, शुमला, शेमला, श्यामला आदि अनेक नामों से जाना जाने वाला शिमला मां श्यामला का पुण्यधाम स्वीकार किया जाता है। इस नगर की स्थापना विषयक एक रोचक वृत्त प्रकाश में आया है। ब्रिटिश सरकार के पर्वतीय क्षेत्र अधीक्षक लै० रोज अपने मित्रों के साथ शिवालिक पर्वत माला के भ्रमण को आए थे। उन्होंने अचानक पहाड़ी की ओर से रंगीन धुआं आकाश की ओर उड़ता हुआ देखा। कौतूहलवश उन्होंने अपने घोड़ों को उसी दिशा में मोड़ दिया। सघन वनों के पार, जब वे लोग पहाड़ी के निकट पहुंचे तो उन्हें देवदार के वृक्षों के मध्य धूनी जलाकर तपस्या-लीन एक साधु मिला! घोड़ों की टाप सुन, साधु ने अपने नेत्र खोले, तत्काल घोड़े से उतर अंग्रेज अधिकारी ने साधु को प्रणाम किया। साधु ने अधिकारी को आशीर्वाद के स्वर में कहा कि मैं यह छोटा-सा ग्राम तुम्हें सौंपता हूँ। कुछ समय बाद यह गांव विश्व में प्रसिद्धि को प्राप्त होगा। यह कहकर साधु अन्तर्धान हो गया। साधु की खोज हुई, परन्तु सफलता हाथ न लगी। सुरम्य परिवेश ने उस अंग्रेज को वहीं रहने का न्योता दिया। पहाड़ी राजाओं से सन्धि कर, अंग्रेजों ने 1815 में, इस स्थान को गोरखों से मुक्त करवा लिया। मां श्यामला की मूर्ति अब भी 'काली बाड़ी' में सुरक्षित है और यह स्थल 'श्यामला' से शिमला

1. Alaya Himachal : Himachal Tourism
2. —Do—

बन गया।

मैदानी धूप से बचाव के लिए ब्रिटिश शासकों ने हिल स्टेशनों की शृंखला शुरू की। समुद्र-तल से सात हजार फीट की ऊंचाई पर स्थित शिमला, इसी क्रम में दुनिया का सबसे बड़ा 'हिल स्टेशन' बन गया। चार करोड़ रुपये की लागत से कालका-शिमला को 'नैरो गेज रेल लाइन' से जोड़ा गया। यह यात्रा आज भी कम आश्चर्यजनक नहीं। शिमला के इस प्रकार बने 'ब्रिटिश चरित्र' पर प्रकाश डालते हुए श्री हरिकृष्ण मिट्टू ने लिखा है—"हालांकि पूरे हिमालय, बल्कि छोटी पर्वतश्रेणियों में भी, हिल स्टेशन बनाए गए मगर गरिमा में कोई भी शिमला से आगे न जा सका, जो राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों की आयोजन स्थली थी। आज भी शिमला का अच्छा-खासा ब्रिटिश चरित्र है तथा उसके अधिकांश घरों, उपनगरों और सड़कों के अंग्रेजी नाम हैं।"[1]

शिमला में किसी योरुपीयन द्वारा निर्मित पहला आवास 'कैनेडी हाऊस' था, जिसे सन् 1822 में मेजर चार्ल्स प्रैट कैनेडी ने बनवाया था। मेजर कैनेडी पर्वतीय रियासतों के राजनीतिक अधिकारी नियुक्त हुए थे। सन् 1827 में गवर्नर जनरल लार्ड एम्हर्स्ट, श्री कैनेडी के निमन्त्रण पर, शिमला पधारे। अगले वर्ष सेना प्रमुख लार्ड काम्बरमियर की भी शिमला यात्रा हुई और इस प्रकार नगर के विकास के कार्यक्रम की शुरुआत हुई। सन् 1864 में, जब जॉन लॉरेंस भारत के वायसराय थे तो शिमला को भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की ग्रीष्मकालीन राजधानी घोषित किया गया और यह स्थिति भारत के सन् 1947 में स्वतन्त्र होने तक रही।

आम तौर पर सरकारी राजधानी का कामकाज शिमला में अप्रैल मास में शुरू हो जाता और नवम्बर के आरम्भ तक यही स्थिति रहती। इसी सन्दर्भ में शिमला में विशिष्ट अंग्रेजी नामों तथा शिल्प-विशेष के आवास निर्मित होने लगे। बड़े भवनों का निर्माण ब्रिटिश महलों की शैली में हुआ तो छोटे आवासों में निर्माण शैली स्काटलैंड के देहाती मकानों जैसी थी। देश के स्वतन्त्र होने पर कुछ समय तक शिमला की स्थिति दयनीय ही बन गई। यह नगर विभाजित पंजाब का सन् 1953 तक मुख्यालय रहा। सन् 1966 में हिमाचल के एकीकरण से शिमला को नवजीवन मिला। भवन निर्माण की गतिविधियां जो थम सी गई थीं, हिमाचल के एकीकरण तथा उसके अनन्तर 'पूरे राज्य का दर्जा' मिलने पर अनेकानेक नई योजनाओं एवं प्रकल्पों के रूप में सम्मुख आई हैं।

---

1. हिमाचल प्रदेश : हरिकृष्ण मिट्टू—नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

स्वतंत्रता के इतने वर्ष बाद भी हिमाचल प्रदेश सचिवालय, राजभवन, मुख्यमंत्री का सरकारी निवास क्रमशः Ellerslie (इलरसलि), Barnes Court (बारनस कोर्ट) तथा Oak over (ओक ओवर) के नाम से ही जाने जाते हैं। इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि पत्थर तथा लकड़ी से निर्मित इन भवनों का वास्तु-शिल्प अनुपम है। मुख्यमन्त्री निवास कभी महाराजा पटियाला की सम्पत्ति थी। सिडार, क्राईस्ट चर्च, गेयटी थियेटर आदि भवन भी बहुचर्चित रहे हैं। माल रोड से तारघर की ओर चलें, तो भवनों का विचित्र वास्तु-शिल्प दृष्टिगोचर होगा। पत्थर या ईंटों से बनी सांझी दीवारें छत्त से कुछ फीट ऊपर निकल जाती हैं। रिज मैदान तथा 'स्कैंडल पव्यांट' का इतिहास तो है ही, इनसे जुड़े अनेकानेक वृत्त हैं। रिज मैदान कितनी ही राजनीतिक सभाओं, सांस्कृतिक आयोजनों का प्रत्यक्षदर्शी रहा है। 'स्कैंडल पव्यांट' शिमला के सामाजिक जीवन की धुरी है। इस स्थान का यह नाम क्यों पड़ा—जनश्रुति के अनुसार इस स्थल से ब्रिटिश सेनापति की कन्या पटियाला नरेश के साथ भाग गई थी। इस सम्बन्ध में वैसे कोई प्रमाणिक सूत्र उपलब्ध नहीं। शायद यह नाम इसलिए प्रचलित हुआ कि यहां बहुत समय से लोग परस्पर बातचीत और गप्प-शप के लिए इकट्ठे होते आए हैं।

शिमला का एक ऐतिहासिक भवन है—पूर्व 'वायसरीकॅल लॉज', जिसमें इस समय 'इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ एडवांसड स्टडी' केन्द्रित है। भारत के वायसराय लार्ड लिटन ने 1876-1880 में इस स्थल का चयन किया था और लार्ड डफरिन के कार्यकाल (1884-88) में इस 'लॉज' का निर्माण प्रसिद्ध वास्तुकार हेनरी इरविन द्वारा करवाया गया था। इस भवन में लकड़ी की नक्काशी अत्यन्त भव्य है। यह शिमला का प्रथम भवन था जिसमें बिजली की सप्लाई हुई थी। भारत के स्वतन्त्र होने पर इस भवन को 'राष्ट्रपति भवन' का सम्मानजनक नाम दिया गया। अब यह अत्यन्त प्रतिष्ठित अध्ययन तथा शोधकेन्द्र है। माल रोड, लोअर बाजार, लक्कड़ बाजार तथा तिब्बती मार्केट से, आवश्यकता तथा बजट के अनुरूप दैनिक उपयोग की सामग्री मिल जाती है। लक्कड़ बाजार में हिमाचल की कलात्मक वस्तुएं भी उपलब्ध हैं।

शिमला की स्थापना एक पर्यटन केन्द्र के रूप में हुई थी। प्रदेश की राजधानी बनने से यह नगर सरकारी कर्मचारियों, अधिकारियों, राजनेताओं तथा सम्बन्धित वर्गों का कार्यस्थल बना। जनसंख्या में वृद्धि हुई तो इसके साथ बिजली, पानी, यातायात आदि की समस्याओं ने जन्म लिया, तो योजनाबद्ध ढंग से निर्माण न होने का भी संकट गहराया। नए आवासीय क्षेत्र भी अस्तित्व में आए हैं। पर्यटन

की अवधारणा को नए रूप में क्रियाशील करने हेतु पर्यटन संकुल शिमला-चैल तथा कुल्लू-मनाली विकास के पथ पर अग्रसर हैं। शिमला पर्यटन संकुल लगभग 64-65 कि०मी० क्षेत्र में विस्तृत है, जिसमें कुफरी, चैल, फागू, नारकंडा, नालडेरा आदि शामिल हैं।

चैल संसार का सबसे ऊंचा क्रिकेट मैदान है। शिमला से 16 कि०मी० दूरी पर स्थित कुफरी केंद्रीय आलू अनुसन्धान संस्थान के कारण विख्यात है, तो स्की मार्गों के कारण साहसिक पर्यटकों के आकर्षण का केन्द्र है। स्की मार्ग की ढाल से तीन कि०मी० की दूरी पर 'वाइल्ड फ्लावर हाल' है, जो कभी भारत के सर्वोच्च सेनापति लार्ड किचनर का आंवास था। पास ही 'रिट्रीट' है, जो लार्ड कर्जन का सप्ताहांत विश्राम स्थल रहा। 'वाइल्ड फ्लावर' तथा 'रिट्रीट' के मध्य 'डेन्स फोली' (हेम कुंज) है, जो पंजाब के गवर्नर का ग्रीष्मकालीन विश्राम घर है।

शिमला से नारकंडा 64 कि०मी० है और यह यात्रा सुरम्य दृश्यों से भरपूर है, यहां की 'हट्टू पीक' हाइकिंग के लिए आदर्श है। मशोबरा तथा नालडेरा लोकप्रिय पिकनिक स्थल हैं। ये स्थल गर्म झरनों के लिए भी विख्यात हैं। 'फागू' मे प्रकृति की सुन्दर दृश्यावली है। जुंगा में पुराना प्रासाद दर्शनीय है। धामी कभी रियासत की राजधानी रही। यह ब्रिटिश वायसरायों की प्रिय शिकारगाह थी।

चैल (चायलो) : सर्वोच्च क्रिकेट मैदान

समुद्र-तल से 2150 मीटर की ऊंचाई पर स्थित, भूतपूर्व पटियाला रियासत का ग्रीष्मकालीन मुख्यालय, चैल, शिमला से 72 कि०मी० की दूरी पर है। चैल की कहानी वास्तव में शिमला से शुरू होती है। शिमला के स्कैंडल पाईंट से जुड़ा पटियाला महाराजा भूपिन्द्र सिंह और भारत में ब्रिटिश सेना के सर्वोच्च सेनापति की लड़की का वृत्त, यद्यपि कुछ सूत्र प्रमाणिक नहीं मानते, परन्तु इसकी धमक चैल (चायल) तक सुनाई देती है। कहते हैं कि पटियाला रियासत की ग्रीष्मकालीन राजधानी शिमला से निष्कासन के बाद महाराजा भूपिन्द्र सिंह ने आहत होकर, ऐसे स्थान की खोज की, जो शिमला से नजर आ सके, परन्तु ऊंचाई में उससे अधिक ऊंचा हो। यह खोज इस स्थान पर ग्रीष्मकालीन राजधानी स्थपापित करने के लक्ष्य से थी। चायल चारों ओर से देवदार के वृक्षों से ढका हुआ तथा शिमला की औसत ऊंचाई से लगभग सौ मीटर ऊंचा, महाराजा को भा गया। इस क्षेत्र के बहुत सारे भाग पर पहले ही महाराज पटियाला का अधिकार था।

महाराजा पटियाला ने चायल को आबाद किया। इससे पूर्व यह एक वीरान

स्थल मात्र था। महाराजा भूपिन्द्र सिंह ने यहां एक भव्य महल का निर्माण करवाया और इस क्षेत्र को साधन-सम्पन्न बनाने में उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। महाराजा का एक प्रकार से यह पग, ब्रिटिश शासकों के उपेक्षा पूर्ण व्यवहार का उत्तर भी था। सन् 1972 में लगभग 75 एकड़ क्षेत्र में फैली यह सारी सम्पदा—क्षेत्र में आने वाली कुटियाएं, जंगल, फलों के बाग, मनोरंजन सुविधाएं इत्यादि—हिमाचल पर्यटन विभाग को प्राप्त हो गई। अब यहां पैलेस होटल है जिसका शुमार भारत के उच्च श्रेणी के होटलों में होता है। इसी संदर्भ में उल्लेख है—"This is now the Palace Hotel and this has the distinction of being one of the earliest hotel resorts in the country. It retains many elements of its princely past and a large elegant lawn, complete with pavilion & fountain, adjoins the hotel.[1]

चायल का निर्माण तीन पहाड़ियों पर हुआ है—पैलेस होटल राजगढ़ पहाड़ी पर है, सिद्ध पहाड़ी पर सिद्ध बाबा का मन्दिर स्थित है तो पंधेवा पहाड़ी पर वह आवास है, यहां ब्रिटिश रेजीडेंट किसी समय रहते थे। चायल में एशिया का सबसे ऊंचा क्रिकेट मैदान है, जिसका राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व है। 1893 में निर्मित यह क्रिकेट मैदान अपने में एक आश्चर्य है—पहाड़ की चोटी को समतल करके इसका निर्माण हुआ। यह विश्व का सवोच्च क्रिकेट तथा पोलो मैदान है। चायल क्रिकेट प्रेमियों के लिए तो आकर्षण का केन्द्र है ही पर्यटकों को भी अत्यन्त प्रिय है। क्रिकेट प्रेमियों को अब धर्मशाला में निर्मित भव्य क्रिकेट स्टेडियम का उपहार मिल चुका है। गत दिनों यहां आई०पी०एल० मैच की धूम रही। हिमाचल का तो मानो यह स्वर्ग हो। पर्यटकों को यहां पहुंचकर यह अहसास होता है कि वे भारत में नहीं, स्विट्जरलैंड, लन्दन या पेरिस में हैं। चायल के घने जंगल, जो कवि महाराजा पटियाला की शिकारगाह थे, अब पशु-पक्षी विहार स्थल है, जिनमें भिन्न-भिन्न प्रजातियों के पक्षी, पशु एवं जंगली जानवर देशी-विदेशी पर्यटकों के सम्मुख नयनाभिराम दृश्य उपस्थित करते हैं। यह 'वन्य जीव सेंचुरी' भी चायल की विशिष्टता है।

सपाटू (सुबाथु) : अलग-सा पर्यटन स्थल

जब मैदानों में धुंध फैली हो तथा कंपकंपाती सर्दी हो, शिमला, मनाली, चायल से भी जी भर गया हो, खिली हुई धूप में मौज-मस्ती से छुट्टी मनाने का मन हो, तो सपाटू से अच्छा अन्य कोई विकल्प नहीं होगा। कालका-शिमला राष्ट्रीय

---

1. Alaya Himachal : Himachal Tourism

राजमार्ग पर स्थित धर्मपुरा से 15 कि०मी० की दूरी पर शान्त स्थल सपाटू है। समुद्र-तल से 4500 फीट की ऊंचाई पर स्थित स्पाटू एक ऐसा पर्यटन स्थल है, जहां पर्यटक सभी प्रकार के मौसम में सहज अनुभव करते हैं। जैसे ही हम सर्पाकार चक्करदार सड़क पर आगे बढ़ते हैं हमें ऊंची-नीची पहाड़ियों, उनके मध्य संकुचित मार्गों एवं पगडंडियों तथा प्रकृति के मनोरम दृश्यों का साक्षात्कार होता है।

सपाटू एक प्राचीन स्थल है, जिसका सम्बन्ध पाण्डवों से बताया जाता है। सन् 1815 से यह एक सैनिक छावनी थी और वर्तमान में यहां 14 गोरखा ट्रेनिंग सेंटर है। सपाटू वास्तविक रूप में तो एक 'हिल स्टेशन' नहीं और न ही इसका विकास एक पर्यटन स्थल के रूप में हुआ है, परन्तु इसकी भूमिका प्रकृति के एक सुरम्य एवं शान्त स्थल में निहित'है। 'हिल स्टेशन' न भी हो, पर्यटकों की भीड़-भाड़ से दूर प्रकृति के एक शान्त कोने की गरिमा कम तो नहीं होती। चील-चक्कर सड़क तथा गमभेर नदी का आकर्षण किसी रूप में कम नहीं। यहां का सुरम्य प्राकृतिक परिवेश फिल्मांकन के लिए भी अत्यधिक उपयुक्त पाया गया और यहां अनेकानेक प्रकार का फिल्मांकन भी हुआ है।

स्मारकों का नगर : ऊना

हिमाचल प्रदेश का छोटा-सा जिला है ऊना, जिसका मुख्यालय ऊना नगर है। इस छोटे-से नगर में प्रवेश करते ही बाईं ओर टीले पर स्थित भव्य-सा किलेनुमा निर्माण बरबस अपनी ओर आकर्षित करता है। बेदियों के किले के नाम से जाना जाने वाला यह भवन अपने गर्भ में गौरवपूर्ण इतिहास छिपाए है। बाबा साहिब सिंह बेदी जिनका सम्बन्ध इस किले से जोड़ा जाता है, गुरुनानक देव के ग्यारहवें वंशज थे। एक जनश्रुति के अनुसार अंग्रेजी शासन से पूर्व यहां के पुराने लंगर में भोजन तैयार करने के लिए पैंतीस मन नमक का प्रयोग होता था। राज्य विस्तार की लालसा से अंग्रेजों ने इस सारे क्षेत्र का ध्वंस कर दिया। बाद में बाबा साहिब सिंह ने अपने एक सेवक बाबा वीरसिंह नोरंगाबाद के सहयोग से इस क्षेत्र के पुर्नोद्धार का प्रयास किया।

इस किलेनुमा भवन परिसर में बाबा कलाधारी जी का स्मारक है, जिसका निर्माण बाबा जी की स्मृति में 18वीं शती में हुआ था। यह अष्टभुजीय स्मारक बाबा जी के पौत्र बाबा साहिब सिंह बेदी द्वारा निर्मित करवाया गया था। इस प्रकार बाबा कलाधारी भी श्री गुरुनानक देव के वंशज थे। एक लोकवृत्त के अनुसार जब दशम गुरु श्री गोविन्द सिंह जी मुगलों के विरुद्ध संघर्षरत थे, तो

बाबा कलाधारी जी उनकी सहायतार्थ डेरा बाबा नानक से यहां आए थे। इनकी धार्मिकता से प्रभावित होकर तत्कालीन राजा रामसिंह ने इन्हें यहां स्थायी आवास हित भूमि प्रदान की। कहा जाता है कि 1827 में महाराजा रणजीत सिंह ने सारा ऊना ताल्लुका ही इनके पौत्र को सौंप दिया। बाबा साहिब सिंह का अष्टभुजीय स्मारक सुन्दर भित्ति-चित्रों एवं जालीदार नक्काशी के कारण कला पारखियों के भी आकर्षण का केन्द्र है। बाबा जी की वर्षगांठ पर हर वर्ष मार्च मास में यहां मेला लगता है, जिसमें बाबा जी के श्रद्धालु बड़ी संख्या में शामिल होते हैं। ऊना में दो अन्य अष्टभुजाकार स्मारक भी आकर्षक हैं।

डलहौजी : आठ के आकार की पहाड़ियों पर बसा

पठानकोट (पंजाब) से 80 कि०मी० दूर चम्बा रोड पर स्थित डलहौज़ी एक स्वास्थ्यवर्धक पर्यटन स्थल के रूप में विख्यात है। हरी-भरी पहाड़ियों की गोदी में बसे डलहौली के आसपास देवदार तथा ओक के सुन्दर पेड़ हैं। इसके नैसर्गिक सौन्दर्य से मोहित होकर विश्वकवि रविद्रनाथ टैगोर ने 1873 में यहां कुछ दिन ठहर, अपनी लोकविख्यात कृति 'गीतांजलि' की कुछ पंक्तियां लिखी थीं। इतिहासकारों के अनुसार इस स्थल को सर्वप्रथम अंग्रेज अधिकारी नेपियर ने खोजा था। ब्रिटिश गवर्नर लार्ड डलहौज़ी के नाम पर नगर का यह नामकरण हुआ। यह पर्यटन स्थल उत्तर भारत के लोगों को अत्यन्त प्रिय है। इसका एक कारण तो यह है कि अन्य 'हिल स्टेशनों' की अपेक्षा यह कम दूरी पर है। दूसरा कारण यह भी है कि यह नगर अपेक्षाकृत प्रदूषण से कम प्रभावित है।

उपनिवेशवादी वास्तुशिल्प से प्रभावित यह नगर पांच पहाड़ियों पर बसा है। ऐसा भी स्वीकारा जाता है कि यह आठ के आकार की दो पहाड़ियों पर अवस्थित है--एक पहाड़ी पर गांधी चौक है, जहां कतिपय होटल तथा तिब्बती बाजार हैं, और दूसरी पहाड़ी पर सुभाष चौक है, जहां नेताजी सुभाष चन्द्र बोस की प्रतिमा स्थापित है। चम्बा घाटी तथा बर्फ से ढकी धौलाधार की चोटियों का दृश्य यहां से देखने पर अनुपम लगता है। यहां का प्राकृतिक सौन्दर्य भी बेमिसाल है। कथन है--"Its marvelous forest trails overlook vistas of wooded hills' water falls, springs & rivulets. Like a silver snake finding its way out of the mountains, the twists and turns of river Ravi are a treat to watch from many vantage points.[1] तिब्बत संस्कृति की परत ने इस शान्त

1. Alya Himachal : Himachal Tourism

स्थल को अपना विदेशी स्पर्श प्रदान किया है। सड़क के किनारे-किनारे की बड़ी चट्टानों पर तिब्बत नक्काशी की झाँकी सहज ही मिल जाती है। मार्च से जुलाई तथा अक्तूबर से जनवरी तक का समय डलहौजी में सैर-सपाटे के लिए उपयुक्त माना जाता है। 'बकरौटा हिल्स' पर बर्फबारी के दृश्य से आनन्दित होने के लिए पर्यटक अवश्य आते हैं।

डलहौजी की सुभाष बाऊली तथा नगर से दो कि०मी० दूर सतधारा भी दर्शनीय स्थल है। 'सतधारा' का औषधीय महत्त्व भी है। यहीं एक अन्य दर्शनीय स्थल है, जहां पांच पुलों के नीचे प्राकृतिक स्रोत से जल प्रवाहित होता है। डलहौजी से लगभग 20 कि०मी० दूर चम्बा रोड पर खजियार है, जिसे मिनी स्विट्ज़रलैंड का नाम दिया जाता है। हरे-भरे घास के मैदानों के चारों ओर चीड़ तथा देवदार के वृक्षों व उनसे उतरते बादलों के सृजित दृश्य को देख ऐसा भासता है मानो प्रकृति ने अपनी सम्पूर्ण सम्पदा यहीं लुटा दी हो। खजियार झील के चारों ओर मखमली घास का मैदान है। यहां पर्यटक घुड़सवारी का मजा उठा सकते हैं। पंजकूला में ट्रैकिंग का शौक पूरा किया जा सकता है। खजियार के मार्ग में 'काला टोप' नामक स्थल हे। यहां देवदार के घने जंगल के कारण दिन भी अंधेरा होता है। शायद इसीलिए स्थान का नाम 'काला टोप' है। यहां की वन्य जीव सेंचुरी भी आकर्षक है।

धर्मशाला : वर्षा का नगर

'सौन्दर्य की देवी', 'पहाड़ों की रानी', 'भारत का मिनी ल्हासा' आदि अनेक नामों से गौरवान्वित धर्मशाला समुद्र-तल से लगभग तेरह सौ मीटर की ऊंचाई पर स्थित है। यह स्थल बर्फीली धौलाधार पर्वतमालाओं तथा देवदार के घने वनों से तो घिरा है ही, अपने दामन में भी सौन्दर्य छटकाए है। इस सुरम्य स्थल से अनेक अंग्रेज अधिकारी इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने इसे अपना स्थायी निवास ही बना लिया। ब्रिटिश काल में इस नगर का काफी विकास हुआ। सन् 1905 में आए भूकम्प ने ध्वसं का क्रूर खेल खेला, परन्तु उसका विनाशकारी पंजा यहां खरोंच भी नहीं लगा पाया।

जिला कांगड़ा के मुख्यालय धर्मशाला का एक नाम है 'सिटी ऑफ रेन' यानी पावस नगरी। वैसे तो देश में सर्वाधिक वर्षा चेरापूंजी (आसाम) में होती है। दूसरा स्थान धर्मशाला का है, जहां 269.4 सेंटीमीटर वर्षा रिकार्ड की गई है! जुलाई शुरू हुआ तो आकाश पर बादलों के घुमड़ने की शुरूआत भी, सफेद पर सलेटी ओर

सलेटी पर सुरमई पर्त्तें, बिजली की लगातार चमक एवं गड़गड़ाहट। वैसे ये दिन सुहावने होते हैं, क्योंकि आम दिनों में धर्मशाला का अधिकतम तापमान 32.6 डिग्री सेल्सियस होता है। मैदानी क्षेत्रों में यह तापमान अधिक नहीं माना जाता, परन्तु इस तापमान में धर्मशाला तपता है—प्रातः नौ बजे ही धूप तपतपाने लगती है।

धर्मशाला में भागसूनाय, मेकलाडगंज, डल झील, करेरी झील, त्रिपुंड, शहीद स्मारक, चामुंडा, प्राचीन संग्रहालय आदि अनेक दर्शनीय स्थल हैं। शहीद स्मारक चीड़ के घने जंगल के मध्य एक एकड़ भूमि क्षेत्र में है, जिसकी संगमरमर की काली दीवारों पर हिमाचल के उन 1042 वीर सपूतों के नाम अंकित हैं, जिन्होंने स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से लेकर 1971 तक देश की रक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति दी। इस स्मारक के निकट उपवन में विकसित गुलाबी, लाल एवं सफेद गुलाब मानो जन्म, यौवन तथा मृत्यु के प्रतीक हों। स्मारक के समीप प्रवाहमान 'पिंगल नाला' से भी अनेक ऐतिहासिक वृत्त जुड़े हैं।

नगर से लगभग दस कि०मी० दूर देवदार के सघन पेड़ों के मध्य सुन्दर अंडाकार 'झील डल' है। कहते हैं कि झील के तट पर कभी महादेव ने तप किया था। इस झील के आगे 'करेरी' नामक झील भी है, जो गद्दियों की आस्था का प्रतीक है। 'हैंग ग्लाइडिंग' के लिए विख्यात स्थल 'त्रियुंड' 2827 मीटर ऊंचाई तथा 17 कि०मी० की दूरी पर है। यहां से ग्यारह कि०मी० दूर 'भागसूनाथ' का मन्दिर एवं चश्मा भी दर्शनीय है। गद्दी जनजाति के लोग इनके प्रति विशेष आस्थावान हैं। सामने की पहाड़ी पर स्लेटों की खानें भी हैं।

धर्मशाला का मुख्य बाजार कोतवाली बाजार है। धर्मशाला नगर काफी तंग है और यहां सफाई की भी उचित व्यवस्था नहीं। लोअर धर्मशाला तथा मैकलोडगंज के मध्य धर्मशाला छावनी अवस्थित है। धर्मशाला में मैकलोडगंज विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसको 'लामानगर' कहना अधिक उपयुक्त होगा। यहां ऐसा लगता है मानो हम तिब्बत की राजधानी 'ल्हासा' पहुंच गए हों। मैकलोडगंज ने 'मिनी ल्हासा' का रूप उस समय धारण किया जब चीन द्वारा तिब्बत को हथिया लेने के बाद सहस्रों तिब्बतियों ने, महामहिम दलाई लामा के नेतृत्व में, इस स्थान को अपना आवास बनाया।

मैकलोडगंज बाजार के अन्त में एक टेकड़ी है, जहां सड़क दो भागों में बंट जाती है। दाहिनी ओर जाने वाली सड़क का नाम है खड़ा डंडा मार्ग। प्रत्यक्षदर्शियों के अनुसार यहां एक बोर्ड लटका हुआ था—'वेल्कम टू लिट्ल ल्हासा, बट बाइकाट

चाइनीज़ गुड्स'। इस क्षेत्र में छोटे-बड़े शिक्षण संस्थान, पुस्तकालय, तिब्बत मेडिकल इंस्टीट्यूट, 'खंचिंग किशुंग' (निर्वासित तिब्बती सरकार का सचिवालय) आदि स्थित है। यहां से 'तिब्बत बुलेटिन, तिब्बतन रिव्यू, डायलोमा, तिब्बत जर्नल' आदि का प्रकाशन भी होता है। खड़ा ठंडा मार्ग के गोंपा के सामने वाले भवन में दलाई लामा रहते हैं। इनका आवास भव्य एवं विशाल है और पास में एक बाग भी है। इस क्षेत्र में 'ओऽम् मणि पद्मे हुम' मन्त्र का जाप निरन्तर चलता है। तिब्बत के लोग धार्मिक वृत्ति के हैं। दिन की शुरुआत वे पूजा-अर्चना से करते हैं। वे दिन में कम-से-कम एक बार बौद्ध मन्दिर जाकर प्रार्थना चक्र अवश्य घुमाते हैं। मैकलाडगंज बौद्ध धर्म का केन्द्र बन गया है, जहां देश-विदेश से सहस्रों बौद्ध धर्म अनुयायी आकर अध्ययन तथा धार्मिक ज्ञान प्राप्त करते हैं।

खड़ा ठंडा मार्ग के गोंपा का पांडाल काफी विशाल तथा सुसज्जित है। इसकी प्राचीरों पर, महात्मा बुद्ध के जीवन के दृश्य कपड़े पर पेंट हुए, लटके हुए हैं। इन्हें तिब्बती भाषा में 'थांगा' कहा जाता है। अलमारियों में 'कंजु' (लामा धर्म की शिक्षा कें ग्रन्थ) सुन्दर जिल्दों में रखे हुए हैं। बौद्ध परम्परा के अनुसार बौद्ध लामाओं के लिए सर्वोच्च उपाधि 'गीशे' है (डाक्ट्रेट समान)। 'गीशे' के चार प्रकार हैं—हरम्पा गीशे, थोकरम्पा गीशे, घोरम्पा गीशे तथा लिंग्से गीशे। महिला लामाओं का आवास गोंपा के काफी नीचे बस्ती में है। पहले महिला लामाओं में अधिकांश निरक्षर थीं, परन्तु अब इनमें शिक्षा का प्रचार हो रहा है। इन्हें 'जम्मों' कहा जाता है। मैकलाडगंज में चार पंक्तियों वाला छोटा-सा बाजार है, जहां दैनिक उपयोग की वस्तुएं, आयातित सामान तथा तिब्बती हैंडीक्राफ्ट उपलब्ध है। यहां विशेष प्रकार के तिब्बती जूते भी उपलब्ध हैं, जिन्हें धारण कर, मुखौटों के साथ लामा लोग नृत्य करते हैं।

धर्मशाला का सेंट जॉन चर्च भी प्रसिद्ध है। यह चर्च धर्मशाला छावनी तथा मैकलाडगंज के मध्य सड़क से कतिपय हटकर स्थित है। चर्च की ऊंची खिड़कियों के कांच पर सुन्दर रंगीन चित्रकारी है। चर्च के बाहर, खुले में, लकड़ी के मोटे चौखटे के सहारे अष्टधातु से निर्मित एक विशाल घंटा लटकता है। यह घंटा 1915 में लन्दन से लाया गया था और इस पर अंग्रेजी में सन्देश खुदा था—"ईसा मसीह के सैनिको उठो, और शस्त्र धारण करो।" इस चर्च के निकट कब्रिस्तान में भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड एल्गिन (मृत्यु 20 नवंबर, 1863) को दफनाया गया था।

लोअर धर्मशाला में हरियाली कम है। ऊपर छावनी तथा मैकलाडगंज का क्षेत्र

अधिक हरा-भरा हैं। यहां देवदार, ओक तथा रोडोडेनड्रैन के वृक्ष हैं। मैकलाडगंज से भागसूनाथ के लिए अलग मार्ग है। यहां भागसूनाथ जलकुंड एवं शिव मन्दिर है। यह जलकुंड काफी विशाल है और इससे जल निचले कुंड में जाता है। इसमें तैराकी भी होती है, परन्तु जल ठंडा होने के कारण अधिक समय तक नहीं। धर्मशाला से कांगड़ा शिला मार्ग से जाएं तो मार्ग में खनियारा गांव है, जिसमें खरोष्ठी लिपि में शिलालेखों पर महात्मा बुद्ध की शिक्षाएं अंकित हैं। धर्मशाला से ट्रैकिंग करके त्रिपुंड पहुंचा जा सकता है। समुद्र-तल से 9382 फीट ऊंचा यह स्थान ठंडा एवं सुहावना है। धर्मशाला से 18 कि०मी० दूर देश का प्रसिद्ध शक्तिपीठ चामुंडा देवी है तथा बीस कि०मी० दूर कांगड़ा में व्रजेश्वरी देवी मन्दिर! श्रद्धालुओं तथा पर्यटकों—दोनों के ये स्थल आकर्षण के केन्द्र है। दस कि०मी० की दूरी पर स्वामी चिन्मयानन्द द्वारा स्थापित 'चिन्मय तपोवन' तप-साधना का अनूठा शान्त स्थल है। हिमाचल पर्यटन निगम द्वारा धर्मशाला को 'हिल स्टेशन' के रूप में प्रचारित तो किया जाता है, परन्तु उसके अनुरूप यहां सुविधाएं नहीं।

चम्बा : स्थापत्य-चित्र कला का पर्याय

रावी नदी के तट पर वर्मन वंश की राजकुमारी चम्बा के नाम पर स्थापित चम्बा मनोरम नगरी है, कला नगरी है और मन्दिरों की नगरी भी। इस नगरी के बहुआयामी आकर्षण के दृष्टिगत ही डच विद्वान् डॉ० बोगल ने तो 'चम्बा' को 'अचम्बा' कहकर इसके महत्त्व को प्रतिपादित किया था। इस नगर का यह सौभाग्य ही कहा जाएगा कि इसे एक-से-एक बढ़कर ऐसे शासक मिले, जो प्रजावत्सल एवं धार्मिक तो थे ही, कलाप्रिय भी सिद्ध हुए! इन नरेशों में राजा रामसिंह (1873), राजा श्री सिंह (1844) तथा राजा भूरी सिंह (1904) विशेष उल्लेखनीय है। जहां चित्रकला के क्षेत्र में 'चम्बा कलम' विशेष रूप से चर्चित रही, वहीं काष्ठकला, मूर्तिकला तथा स्थापत्य में भी चम्बा का योगदान कम महत्त्वपूर्ण नहीं। चम्बा में ढलानदार छतों वाले मकान हैं, शिखर शैली के मन्दिर है और 'अखंड चंडी महल' जैसा स्थापत्य-चित्रकला का अद्भुत संसार!

रंगमहल तथा अखंड चंडी महल केवल सुन्दर तथा भव्य निर्माण ही नहीं, राजाओं की शान-शौकत के प्रतीक तथा इतिहास के मौन साक्षी भी हैं। नगर के उत्तरी भाग में किलानुमा निर्माण—रंगमहल मुगल स्थापत्य का अनुपम नमूना है। अखंड चंडी महल से पूर्व चम्बा नरेशों का आवास रहे 'रंगमहल' की नींव 1755 में चम्बा के शासक उमेदसिंह ने रखी थी, परन्तु इसका निर्माण पूरा हुआ राजसिंह

के कार्यकाल (1764-1794) में। रंगमहल के कमरों, बरामदों, भीतरी छत्तों आदि का शृंगार पहाड़ी शैली के चित्रों से किया गया। इन चित्रों की कलात्मकता तथा सजीवता से प्रभावित होकर विख्यात कला मर्मज्ञ श्री रामकृष्ण दास ने सहसा टिप्पणी कर दी कि अजंता युग के बाद पहाड़ी शैली में ही भारतीय कला एक ऐसी ऊंचाई तक पहुंची है, जहां पहुंच पाना खिलवाड़ नहीं। इन चित्रों के विषय अनेक महाकाव्यों से लिए गए हैं। राजा चढ़त सिंह (1804-1844) ने इस भवन का विस्तार करते हुए इसके साथ इसी परिसर में एक और भवन निर्मित किया। कलाप्रिय नरेश ने इस भवन को भित्ति-चित्रों से अलंकृत करवाया। 1965 के अग्निकांड ने इस बहुमूल्य विरासत की काफी क्षति की।

रंगमहल के क्षतिग्रस्त होने पर, चम्बा नरेशों का आवास स्थल हुआ 'अखंड चंडी राजप्रासाद'। यह राजप्रासाद केवल एक ऐतिहासिक स्मारक ही नहीं, वास्तु एवं चित्रकला की दृष्टि से अपूर्व तथा देश-भर में विख्यात है। इस राज-प्रासाद के निर्माण का श्रेय किसी एक राजा को नहीं दिया जा सकता। 1641 में राजा पृथ्वी सिंह ने भवन का शिलान्यास कर निर्माण शुरू करवाया। कई दशकों तक निर्माण कार्य चला और सभी कलाप्रिय नरेशों ने योगदान किया। राजा उमेद सिंह तथा चढ़तसिंह का भरपूर सहयोग रहा, तो चम्बा रियासत में नियुक्त ब्रिटिश कूटनीतिज्ञों ने भी निर्माण कार्य में दिलचस्पी ली। फलस्वरूप राजमहल तथा परिसर का यूरोपियन तथा मुगल स्थापत्य के माध्यम से नया रूप सम्मुख आया। राजा श्री सिंह तथा राजा शामसिंह ने महल को अधिक सुन्दर बनाने में कोई कसर नहीं रखी। सुन्दर दरबार हाल, बैंकट हाल, कंसर्ट हाल, दीर्घाओं, बावड़ियों तथा फव्वारों के निर्माण ने प्रासाद को भव्यता प्रदान की। दरबार की भव्यता में पश्चिमी यूरोप के निर्माण का भ्रम होता है। केवल बनावट ही नहीं, सजावट भी अपना उपमान आप है। हाल का निर्माण राजा भूरी सिंह के शासनकाल में वायसराय के सलाहकार के परामर्श से हुआ, इसी कारण इसका नामकरण मार्शल हाल हुआ।

रंगमहल तो क्षतिग्रस्त हुआ, परन्तु विशेष प्रयास से विशेषज्ञों के दल ने, बहुमूल्य चित्रों को यहां से उखाड़कर चम्बा के भूरी सिंह संग्रहालय, शिमला के राज्य संग्रहालय तथा दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में सुरक्षित कर दिया ताकि कलाप्रेमी ऐतिहासिक विरासत से परिचित हो सकें। पुरातात्विक महत्त्व के 'अखंड चंडी महल' का समुचित रख-रखाव प्रादेशिक सरकार का दायित्व है।

चम्बा का सम्बन्ध उदासीन सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य बाबा श्री चन्द महाराज से भी है! 1643 ए डी में 149 वर्ष की आयु में आचार्य श्री यहां पधारे।

अपने अनुयायियों को अन्तिम सन्देश दिया, पत्थर की शिला पर चम्बा नदी पार कर अन्तर्धान हो गए।

केलांग : बर्फीली चोटियों का सौन्दर्य

लाहौल और स्पीति जिला का मुख्यालय केलांग समुद्र-तल से 10,988 फीट की ऊंचाई पर अद्भुत बर्फीली पर्वतमालाओं के शिखर पर स्थित है। केलांग के पूर्व में 'लेडी ऑफ केलांग' नामक चोटी है, जो किसी श्यन-लीन महिला का आभास देती है। पश्चिम में विशाल पर्वत शृंखलाएं हैं। शिखर पर बसे केलांग के ऊपर 'कियार क्योकस' चोटी है, जो समुद्र-तल से 19,500 फीट ऊंची है। केलांग तक पहुंचना सरल कार्य नहीं। यहां आने के लिए तीन मार्ग हैं—मनाली मार्ग से आना हो तो 13,050 फीट ऊंचे रोहतांग दर्रे को पार करना होता है। शिमला से लाहुल-स्पीति घाटी में प्रवेश अपेक्षित हो तो 14,770 फीट की ऊचाई पर स्थित कुंजम दर्रे का मार्ग है। तीसरा मार्ग लेह की ओर से है, जिसमें 16,040 फीट ऊंचा बारांचला दर्रा पार करना होता है। गगनचुम्बी शिखरों से घिरा केलांग वर्ष में आठ मास बर्फ से ढका रहता है, जिससे यातायात अवरुद्ध हो जाता है।

केलांग का नामकरण केलांग देवता के नाम पर रखा गया है। केलांग को 'देवताओं का घर' कहा जाता है और 'केलांग' शब्द का अर्थ भी यही है। इस क्षेत्र में देवी-देवताओं की विशेष रूप से पूजा-अर्चना की जाती है। इस नगर के समीप कारदंग 'गोंपा' है, जो हिंदुओं तथा बौद्धों—दोनों की आस्था का केन्द्र है। यहां प्रभाव तो बौद्ध धर्म का भी है, परन्तु लोगों में सभी धर्मों के प्रति आस्था का भाव है।

केलांग में डाकघर, टेलीफोन केन्द्र, अस्पताल, स्कूल-कॉलेज, विश्रामगृह, होटल आदि की सुविधा है। छह कि०मी० की दूरी पर हवाई अड्डा भी है। सर्दियों एवं बर्फबारी में डाक हैलीकॉप्टर से आती है। स्थान-स्थान से समाचार उपलब्ध करवाने का माध्यम है, डाकिया, जिसको यहां विशेष सम्मान प्राप्त है। जिला मुख्यालय होने पर भी केलांग की जनसंख्या अपेक्षाकृत कम है। यहां कानून व्यवस्था की कोई समस्या नहीं। शान्तिप्रिय जिला में पुलिसकर्मियों के पास कोई अधिक काम नहीं।

केलांग से अनेक स्थानों पर ट्रेकिंग मार्ग है। इनमें मनाली, मणि महेश—आशगली पास, कुगती पास, पांगी घाटी शामिल हैं। यहां से चम्बा, किश्तवाड़ और जम्मू-कश्मीर के ट्रेकिंग मार्ग है। इस क्षेत्र में चार घाटियां हैं—चंद्रा घाटी, भागा घाटी, पाटन घाटी तथा लिंगटी घाटी। इनमें कृषि कम, जड़ी-बूटियां अधिक होती

है। लोग मानसाहारी हैं! नमकीन चाय इन्हें भाती है। यहां गोची, फागुली तथा गोत्सी नामक मेलों-त्यौहारों का आयोजन होता है। केलांग की अपनी सामाजिक-सांस्कृतिक परम्पराएं हैं। यहां की बर्फीली चोटियों का सौन्दर्य पर्यटकों का मन मोह लेता है।

काष्ठकला में झांकता खजुराहो

हिमाचल प्रदेश अपने नैसर्किक सौन्दर्य के कारण ही विश्व में सिरमौर नहीं, इसकी कला, सांस्कृतिक विरासत भी विलक्षण है। हिमाचल की लोककलाओं में शायद काष्ठकला प्राचीनतम है। लकड़ी को भव्य कलाकृति का रूप देना कलाकार की कला सम्बन्धी चेतना और उसके स्वयं के चिन्तन का परिचायक है। हिमाचल के देवालय कलाकारों के कलाबोध के उत्कृष्ट नमूने हैं। कला स्रष्टा बेजान लकड़ी तथा पत्थर के टुकड़ों को भी अपने समर्थ हाथों के स्पर्श से सजीव कर देते हैं। चित्रकला की भान्ति हिमाचल की काष्ठकला का भी रोचक इतिहास है।

हिमाचल प्रदेश में पांच हजार से ग्यारह हजार फीट की ऊंचाई पर स्थित देवालय भी काष्ठकला के चमत्कार को साकार करते हैं। इस सम्बन्ध में श्री मुरारी शर्मा का कथन है—"देवदार की महक भरी लकड़ी पर शास्त्रीय शैली पर आधारित गणों व गणिकाओं की मूर्तियां, देवी-देवताओं तथा युद्ध शैलियों का चित्रण इन देवालयों में बखूबी किया हुआ है। जहां तक कि खुजराहों की तरह कामशास्त्र पर आधारित मूर्तियों का चित्रण भी बड़ी सूक्ष्मता से किया गया है।" हिमाचल के जनजातीय क्षेत्रीय तथा सतलुज एवं ब्यास घाटी के मन्दिरों में इस कला के अनुपम नमूने हैं। उदयपुर स्थित मृकुला देवी मन्दिर, मगरू महादेव (मंडी) तथा लक्षणा देवी मन्दिर, भरमौर में इस कला में जो निखार देखने को मिलता है, वह समूचे देश में अन्यत्र कहीं भी नहीं। 'कश्मीरी-कन्नोज' शैली में निर्मित मृकुला देवी मन्दिर का निर्माण कई चरणों में हुआ।

लाहुल क्षेत्र की पनघाटी में चन्द्रभागा नदी के तट पर अवस्थित उदयपुर का मृकुला देवी मन्दिर काष्ठकला का पर्याय है। आठवीं शती में निर्मित यह मन्दिर बाहर से तो सामान्य ही लगता है, परन्तु दर्शक मन्दिर के भीतर पग धरते ही कला-सौन्दर्य से सम्मोहित हो जाता है। यह सम्मोहन उसे एक अलग ही संसार में ले जाता है। मूर्तियों की मुद्रागत सूक्ष्मता कलाकार की कल्पनाशीलता से परिचित करवाती है। मन्दिर की छत पर महाभारत के पात्र भव्य रूप में प्रस्तुत हैं। महाभारत की घटनाएं भी बारीकी से काष्ठफलक पर सहेजी गई है। दरवाजों पर

की गई नक़्काशी भी अनुपम है। योग की विभिन्न मुद्राओं में प्रस्तुत गंधर्व, वेदों-उपनिषदों के संदर्भ काष्ठ में मूर्तिमान हुए हैं। कहीं वनवासी राम, लक्ष्मण और सीता तो कहीं शिव-पार्वती—लकड़ी के विभिन्न स्वरूपों क़ा प्रस्तुतिकरण विलक्षण है। मन्दिर में भक्ति, साधना, योग, कला, सौन्दर्य की बेमिसाल अभिव्यक्ति है और माध्यम है काष्ठ।

चम्बा के जनजातीय क्षेत्र भरमौर के 'चौरासी' सिद्ध पीठ परिसर में स्थित सातवीं शती में निर्मित भगवती लक्षणा का मन्दिर भी काष्ठकला का अनुपम उदाहरण है। भरमौर की स्टेट कोठी में भी काष्ठकला नक्काशी कम चमत्कारी नहीं। चम्बा के भूरी सिंह संग्रहालय में भी इस कला के कुछ प्रतिरूप सुरक्षित हैं। कुमार सेन (रामपुर बुशहर) के प्राचीन राजमहल में भी काष्ठकला दर्शनीय है।

मंडी जिला के छतरी नामक स्थान में पुरातात्विक महत्त्व का मन्दिर है—मगरू महादेव। यह मन्दिर भी काष्ठकला का जो रूप प्रस्तुत करता है, वह अन्यत्र दुलर्भ है। यह मन्दिर जनमानस की श्रद्धा-आस्था का ही प्रतीक ही नहीं, कला पारखियों का भी स्वर्ग है। पंद्रहवीं शती में निर्मित इस मन्दिर का इतिहास चाहे मौन हो, परन्तु कलाधर्मिता कलाकारों की कल्पना, उनके सौन्दर्य बोध तथा अवलोकन एवं प्रस्तुतिकरण की सूक्ष्मता का सारगर्भित बखान करती है। काष्ठकला का यह चमत्कार किसी रूप में भी खजुराहो से कम महत्त्वपूर्ण नहीं।

अन्द्रेटा : कलाकारों की नगरी

हिमाचल प्रदेश का नगर पालमपुर सैलानियों, कलाकारों, वैज्ञानिकों के लिए आकर्षण का केन्द्र रहा है। श्री गुरमीत बेदी ने ठीक ही कहा है कि धौलाधार की नयनाभिराम शृंखलाओं, देवदार-चीड़ के विशालकाय दरख्तों और चाय-बागानों से घिरा यह स्थान किसी कवि की कल्पना से बढ़कर है। इसी पालमपुर से 13 कि०मी० की दूरी पर है कलाकारों का गांव अन्द्रेटा। कभी मूर्धन्य चित्रकार सरदार सोभा सिंह तथा प्रख्यात नाटककार नौरा रिचर्ड को प्रिय रहा यह गांव आज कलाकारों के लिए तीर्थ-स्थली से बढ़कर है। इन कलाकारों के वंशज एवं मित्र एक ओर इनकी कला-विरासत को संजोने एवं समृद्ध करने में प्रयासरत हैं, तो अन्य कलाकार इस गांव की मिट्टी को प्राणवान मान, इससे स्फूर्ति तथा नवोत्साह पाने की धुन में मग्न हैं। इस गांव की माटी में कला की सुगन्ध बहुत गहरे रच-बस गई है। किसी-न-किसी समय इस कलाग्राम से पद्मश्री सोभा सिंह, पद्मविभूषण बी०सी० सान्याल, पद्मश्री गुरचरण सिंह, नौरा रिचर्ड, पृथ्वीराज कपूर, कबीर बेदी

की माता तथा अन्य शीर्ष कलाकार जुड़े रहे हैं।

प्रख्यात नाटककार एवं रंगमंच कर्मी नौरा रिचर्ड 1935 में यहां आईं और 4 मार्च, 1971 को यहां ही अपने जीवन की अंतिम सांस ली। आयरलैंड में जन्मी नौरा रिचर्ड धौलाधार के सम्मोहन में ऐसी बंधी कि यहां ही मिट्टी का घर बना लिया—पहाड़ी आवासों की भान्ति बांस की बल्लियों पर घास-फूस की छत के नीचे खुला थियेटर निर्मित हुआ। यही पर लोक-नाट्यों का प्रशिक्षण तथा मंचन हुआ। पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला ने इस खुले थियेटर का थोड़ा-बहुत संस्कार किया, परन्तु विरासत की सम्भाल के नाम पर साल-भर में एक-दो नाटकों का मंचन करवा, औपचारिकता ही निभाई जा रही है। प्रो० ए०के० सक्सेना ने अवश्य नौरा रिचर्ड के मूल निवास की गरिमा को स्थायित्व प्रदान करने हेतु इसे अपना बसेरा बना लिया।

स्वनाम धन्य सरदार सोभा सिंह, नौरा रिचर्ड के निमन्त्रण पर, 1948 में अन्द्रेटा पधारे और यहां अठतीस वर्ष कला की साधना की—अनेक विश्वविख्यात कृतियों का सृजन किया। 'दारजी' के नाम से लोकप्रिय इस महान चित्रकार की अत्यन्त ख्याति प्राप्त कृति 'सोहनी-महिवाल' थी, जो कलाप्रेमियों के घर का शृंगार है। आपने सर्वप्रथम यह चित्र अपने कनाट सर्कस, दिल्ली स्थित स्टुडियो में 1937 में बनाया। 1942 में अमृतसर में पुनः इस पेंटिंग का सृजन हुआ—फिर 1951, 1956 तथा 1979 में इस सृजन ने नव-चोला पहना। दारजी की सुपुत्री गुरुचरण कौर के अनुसार उन्होंने इस पेंटिंग पर लगातार बीस-बीस घंटे काम किया। कला के क्षेत्र में श्री सोभा सिंह के अभूतपूर्व योगदान के लिए 1974 में पंजाब सरकार ने उन्हें 'स्टेट आर्टिस्ट अवार्ड' से नवाज़ा। 1988 में उन्हें पद्मश्री से अलंकृत किया गया और 1985 में पंजाब विश्वविद्यालय ने उन्हें 'डी० लिट्०' की मानद उपाधि से सम्मानित किया। सरदार सोभा सिंह का कला आश्रम अनेक कलाकारों का प्रेरणा-स्रोत बना।

श्री सोभा सिंह के अन्द्रेटा आगमन ने कलाकारों की यहां कला यात्रा का द्वार खोल दिया। पोट्री के जाने-माने शिल्पी पद्मश्री सरदार गुरचरण सिंह ने दारजी का अनुसरण करते हुए अन्द्रेटा को एक नई पहचान प्रदान की। सरदार गुरचरण सिंह के सुपुत्र हरिसिमरण सिंह तथा उनकी पत्नी मैरी यहां के स्थायी निवासी बन गए। इनके द्वारा 1984 में 'अन्द्रेटा पोट्री एण्ड रूरल मार्केटिंग सेंटर' की यहां स्थापना की गई। देश के अनेक नगरों—दिल्ली, मुंबई, अहमदाबाद, चण्डीगढ़, बड़ौदा, हैदराबाद, बैंगलोर, चैन्नई आदि में 'अन्द्रेटा पोट्री' की सफल प्रदर्शनियाँ लग चुकी हैं। अन्द्रेटा एक अच्छा पिकनिक स्थल तो है ही, परन्तु समूचे विश्व में इसकी पहचान 'कलाकारों के गांव' के रूप में ही हुई है। □□□

हिमाचल : ज्ञात-अज्ञात आकर्षण

मलाणा गांव : विश्व का प्राचीनतम गणतन्त्र

कुल्लू से लगभग 50 कि०मी० दूर, उत्तर-पूर्व में साढ़े आठ हजार फीट की ऊंचाई पर स्थित मलाणा, जहां अपनी अनूठी परम्पराओं के लिए विख्यात है, वहां इसे विश्व का प्राचीनतम गणतंत्र होने का भी सम्मान प्राप्त है। यहां पहुंचने का मार्ग भी अत्यन्त दुर्गम है। कुल्लू से नग्गर के मार्ग से यहां आना हो तो 25 कि०मी० बस-यात्रा होती है, तो 30 कि०मी० पैदल चलना पड़ता है।

मलाणा गांव कब अस्तित्व में आया और इसके मूल निवासी कौन हैं, यह अभी तक रहस्य बना हुआ है। इतिहासकारों, भाषाविदों तथा पुरातत्ववेताओं के प्रयास भी अभी तक कोई सर्वसम्मत निष्कर्ष नहीं दे पाए। एक विद्वान् के अनुसार इस गांव के निवासी यूनानी सम्राट सिकन्दर के सैनिकों के वंशज हैं। निरन्तर युद्ध से तंग आकर सिकन्दर के कई सैनिक इस दुर्गम पहाड़ी घाटी में, पहचान छिपाने हेतु बस गए थे। यहां की भाषा भी विचित्र है। अनुमान यह है कि भाषा 'कनाशी' भाषा का अपभ्रंश रूप है।

इस गांव की शासन प्रणाली भी प्रदेश के अन्य भागों से अलग है। यहां के अपने नियम-कायदे हैं, सरकारी कानून को मान्यता नहीं। गांव में 'जमलू' देवता पूजित है, वही सर्वोच्च हैं, यहां के सार्वभौम शासक हैं। शासन व्यवस्था हेतु देवता के तीन प्रतिनिधि होते हैं—कारदार, गूर तथा पुजारी। पुजारी पूजा-पाठ का धर्म निभाता है। 'जमलू' देवता के आदेश तथा निर्णय 'गूर' के माध्यम से लोगों तक पहुंचते हैं। कारदार इन दोनों के कार्यों की व्यवस्था को देखता है। यहां की शासन व्यवस्था दो सदनों पर आधारित हैं—ज्येष्ठांग (ऊपरी सदन) तथा कनिष्ठांग (निचला सदन)! 'ज्येष्ठ' के ग्यारह सदस्य होते हैं, जिनमें गूर, कारदारी तथा पुजारी भी सम्मिलित होते हैं। शेष आठ सदस्यों का निर्वाचन आठ घरानों से होता है। किसी सदस्य के देहान्त पर रिक्त स्थान के लिए चुनाव करवाया जाता है। 'ज्येष्ठ' सदन की अवधि सदस्यों की आयु पर निर्भर रहती है। 'कनिष्ठ' सदन में गांव के प्रत्येक परिवार का एक व्यक्ति सदस्य होता है। यह व्यक्ति घर का

मुखिया या कोई वयस्क पुरुष होता है। पहले गांव में सौ के लगभग घर थे, परन्तु अधुना इनमें वृद्धि हो चुकी है।

यदि दोनों सदन किसी विवाद का निपटारा न कर सकें तो अन्तिम निर्णय देवता का होता है, जो 'गूर' के माध्यम से व्यक्त होता है। निर्णय लेने की स्थिति भी विचित्र होती है। अपने स्थान पर विराजे 'गूर' के शरीर में कंपकपी छिड़ जाती है, हाव-भाव विचित्र हो जाते हैं। धीरे-धीरे कम्पन घट जाता है और 'गूर' बुदबुदाने लग जाता है। फिर वह जो भी बोलता है, उसे 'देव वाणी' के रूप में स्वीकार किया जाता है। 'गूर' की विश्वसनीयता संदिग्ध हो जाए, तो दोनों पक्ष दो बकरे मंगवाते हैं। बकरे की टांग चीरकर, उसमें विष भर दियां जाता है। जिस पक्ष का बकरा मर जाए, वह पक्ष अपराधी माना जाता है। देवता का निर्णय स्वीकार न करने वाले का सामाजिक वहिष्कार होता है।

गांव के अपने रीति-रिवाज हैं। गांव में किसी की मृत्यु हो जाए तो तीन दिन शोक मनाया जाता है। विधवा एक वर्ष तक आभूषण नहीं पहनती। एक वर्ष के बाद विधवा पुनः विवाह कर सकती है। पति अथवा पत्नी—दोनों में से कोई दूसरे को तलाक देना चाहे, तो दूसरे पक्ष को निश्चित राशि देय होती है। इस सामाज में दहेज प्रथा का रोग नहीं। प्रेम-विवाह को मान्यता प्राप्त है। महिलाएं घर-बाहर दोनों जगह परिश्रम करती हैं, पुरुष निठल्ले रहते हैं। लोगों में कुछ अन्धविश्वास भी प्रचलित है। भौतिक सुविधाएं प्राप्त न होने पर भी यहां के निवासी शान्त तथा सन्तुष्ट रहते हैं।

इस गांव में पूजित तथा सर्वोच्च सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित 'जमलू' देवता के बारे में जानना भी आवश्यक हो जाता है। लोकविश्वास है कि महाभारत काल में जब ऋषि जमदग्नि अपनी पत्नी रेणुका के साथ यहां विहार को आए, तो उन्हें यह स्थान भा गया। उन्होंने यहीं रहने का निर्णय ले लिया। यहीं पर दोनों ने परलोक गमन किया। यहां के लोगों का विचार है कि कालान्तर में जमदग्नि का नाम ही बिगड़कर 'जमलू' पड़ गया। जमदग्नि ऋषि और ऋषि पत्नी की स्मृति में यहां मन्दिरों का निर्माण हुआ। माता रेणुका के मन्दिर को तो आज भी इसी नाम से जाना जाता है।

जमलू देवता का मन्दिर चार मंजिला है। मन्दिर के चारों ओर सुन्दर नक्काशी है। जमलू देवता का मुख्य चिह्न एक विशाल पेड़ के नीचे स्थापित एक लम्बा पत्थर है। इस पेड़ के पचास फीट के घेरे में प्रवेश वर्जित है। माता रेणुका का मन्दिर अपेक्षाकृत छोटा है। इसमें भी कोई मूर्ति स्थापित नहीं। जमलू देवता की अनुमति

के बिना कोई भी बाहर का व्यक्ति यहां प्रवेश नहीं कर सकता। मलाणा गांव की अपनी संस्कृति है। गांव के लोगों का दावा है कि उन्होंने कभी कोई बाहरी हस्तक्षेप स्वीकार नहीं किया और अपनी मूल संस्कृति को जीवित रखा है।

किब्बर : संसार का सर्वोच्च गांव

समुद्र-तल से 14,885 फीट की ऊंचाई पर स्थित स्पीति घाटी का गांव किब्बर संसार-भर में सर्वाधिक ऊंचाई पर बसा गांव है। यहां निवास करने वाले सौ से भी कम परिवारों की जनसंख्या एक हजार से भी कम होगी, परन्तु आधुनिकतम सुविधाओं के कारण इस गांव ने अन्तर्राष्ट्रीय मानचित्र पर अपना स्थान बना ही लिया है। गांव के मकानों की छतों पर दिखने वाले टेलीविजन एंटीना ग्राम के विकास के द्योतक हैं। गांव में माध्यमिक विद्यालय हैं, स्वास्थ्य चिकित्सालय तथा पशु औषधालय हैं। बिजली-पानी की सुविधा है तो खेतों के लिए सिंचाई सुविधा उपलब्ध। हिमाचल प्रदेश की राजधानी से यहां बस द्वारा पहुँचने के लिए लगभग पच्चीस घंटे का थकान-भरा सफर करना पड़ता है। बर्फबारी के कारण लगभग आठ मास यह गांव विश्व से कटा अवश्य रहता है।

यहां उपजाऊ भूमि कम ही दीखती है फिर भी मुख्य फसल जौ की होती है। सिंचाई सुविधा होने से बेमौसमी सब्जियों, विशेषकर, मटर की खेती होने लगी है। यहां के मुख्य व्यवसाय पशु-पालन तथा हथखड्डियों पर ऊनी वस्त्रों की बुनाई है। यहां प्रत्येक परिवार में भेड़-बकरियों का पालन होता है। इनसे ऊन तथा मांस की व्यवस्था होती है। भेड़-बकरियों के व्यवसाय, गर्मियों में ऊनी वस्त्रों तथा 'याक' की खाल से निर्मित वस्त्रों से लोगों को काफी आय हो जाती है। लोग व्यर्थ के विवादों में नहीं उलझते।

बर्फबारी की लगभग आठ मास ही अवधि यहां के निवासी घरों में ही व्यतीत करते हैं—उनकी प्रिय साथिन होती है छांग, स्थानीय शराब! हथखड्डी का भी साथ रहता है। घरों में मांसाहारी भोजन के साथ नृत्य-गायन का भी कार्यक्रम रहता है। 'दक्कांग' प्रथा के अन्तर्गत एक-दूसरे के घरों में इकट्ठे होकर इसी प्रकार की व्यवस्था की जाती है। जौ के सत्तू, युपा बनाकर भोजन किया जाता है। 'कंग' से प्यास बुझाई जाती है।

किब्बर निवासी बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं और दलाई लामा के भक्त। ये लोग उठते-बैठते, चलते-फिरते माला फेरते हैं। गांव के 'की' नामक मठ में लामा नियमपूर्वक 'ओह्म् मणि पद्मे हुँ' का जाप करते हैं। स्पीति उपमंडल में 'की' मठ

के अतिरिक्त चार अन्य मठ हैं। इनके निर्माण का विवरण उपलब्ध नहीं। इनमें महात्मा बुद्ध की विशाल प्रतिमाएं स्थापित हैं। 'की' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मठ है, जो बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार को समर्पित है। यह मठ समुद्र-तल से 12500 फीट की ऊंचाई पर स्थित है। नीचे ढलान पर लामाओं के निवास स्थान हैं। इनमें लोचन रिपोचे का निवास भी है, जो लोचन लामा के 18वें अवतार स्वीकार किए गए। जुलाई मास में 'किब्बर लादर्चा' तथा 'की', 'गोथर' मेले का आयोजन धूम-धाम से होता है। 'गोथर' में लामा लोग मुखौटे पहन नृत्य करते हैं। लोक विश्वास है कि ऐसे नृत्य से भूत-प्रेत भाग जाते हैं। 'किब्बर' गांव विकास के पथ पर है, परन्तु फिर भी कई प्रकार से आज भी दुर्गम! विश्व में इस गांव की निजी पहचान अवश्य ही है।

कसौली : अंग्रेजों ने खरीदा पांच हजार में

चंडीगढ़ से 67 कि०मी० दूर, समुद्र-तल से लगभग साढ़े छह हजार फीट की ऊंचाई पर स्थित, कसौली को पहले जो मान-सम्मान प्राप्त था, समय के थपेड़ों ने उसे काफी आघात पहुँचाया है। यह शान्त तथा मनमोहक स्थल धीरे-धीरे अपना आकर्षण खो रहा है। किसी समय कसौली पटियाला रियासत की गर्मियों की राजधानी थी। आसपास के क्षेत्र का मुख्य स्थल होने के कारण यह मुख्य व्यावसायिक केन्द्र भी रहा।

भारत में ब्रिटिश शासन स्थापित होने पर, सन् 1842 में अंग्रेजों ने जंगलों से घिरे इस क्षेत्र में सैनिक छावनी स्थापित करने हेतु, इसे बघाट रियासत के राजा से पांच हजार रुपये में खरीद लिया। साथ ही नरेश को पांच सौ रुपये, तीन आने ग्यारह पैसे का वार्षिक भत्ता भी स्वीकृत हुआ। बाद में वेजा रियासत के दो गांव भी इसके साथ जोड़ दिए गए। वर्तमान मुख्य बाजार पहाड़ी को काटकर सन् 1920 में बनाया गया।

यह स्थल ठंडी हवा तथा शीतल जल के कारण तपेदिक से पीड़ित रोगियों के लिए आरामदायक माना गया और यहां इस रोग के निदान हेतु एक बड़ा अस्पताल बनाया गया। कालान्तर में इसे धर्मपुर स्थानांतरित कर दिया गया। अब कसौली में थल एवं वायुसेना का राडार, ऐशिया का सबसे ऊंचा टी०वी० टावर, ब्रिगेड, केन्द्रीय अनुसन्धान केन्द्र आदि स्थित है। इन सबसे नगर को अलग पहचान मिली थी।

यहां की ऊंची पहाड़ी पर स्थित हनुमान मन्दिर तथा 'मंकी पॉयंट' पर्यटकों

के आकर्षण का केन्द्र है। यहां से चारों ओर का दृश्य अत्यन्त रमणीय लगता है। यहां का सुहावना मौसम फिल्म जगत को भी रास है। यहीं पर किसी समय 'माया मेम साहब' फिल्म की शूटिंग हुई थी। कई बहुचर्चित लोगों ने इस नगर को निवास-स्थान भी बनाया था। अब लोगों का आकर्षण कम हुआ है, कसौली पहले की भान्ति व्यावसायिक केन्द्र भी नहीं रहा।

ऐसा कहा जाता है कि जब यहां भारी बर्फ पड़ती थी, तो पर्यटकों की भीड़ जुटती थी। अब लगता है कि प्रकृति ने भी इस नगर से मुंह मोड़ लिया है। पहले बर्फबारी कम हुई, अब तो जैसे बर्फ का नाता ही टूट गया। सैलानी अब शिमला को अधिमान देने लगे हैं, जहां दिसम्बर की बर्फबारी सैलानियों के लिए उत्सव का माहौल बना देती है। हिमाचल में स्थापित होने वाली भिन्न-भिन्न दलों की सरकारों ने, समय-समय पर प्रदेश में पर्यटन स्थलों के विकास का दावा किया। कुछ प्रयास भी हुए, परन्तु कसौली के भाग्य में यह न था। इसे पर्यटन स्थल के रूप में विकसित करने में शायद यहां स्थित छावनी बाधक रही हो। इसी कारण नगर की जनसंख्या में विशेष वृद्धि नहीं हो पाई। सन् 1901 में यह केवल दो हजार एक सौ बानवे थी। कश्मीर में आतंकी साया घना होने के कारण पर्यटक हिमाचल की ओर रुख करने लगे हैं, परन्तु कसौली को इसका विशेष लाभ नहीं हुआ। इस ऐतिहासिक नगरी के प्राचीन गौरव को बहाल करने की जरूरत है।

मनाली : पहले मनुआलय था

मनाली किसी समय हिमाचल के दामन में स्थित, सुन्दर प्राकृतिक छटा से सम्पन्न, एक छोटा-सा गांव था। पचास के दशक में कम ही लोगों को इसकी जानकारी रही होगी। आज से पच्चीस-तीस वर्ष पहले भी यही स्थिति थी। कुल्लू की यात्रा करने जो लोग आते, उनमें से कुछ प्रतिशत ही प्रकृति की सुरम्य स्थली का सुख-आनन्द अनुभव कर पाते। कंकरीट के बढ़ते हुए जंगलों, लोगों की भीड़, वाहनों के बढ़ते प्रदूषण एवं चारों ओर पसरे कचरे के ढेरों ने आज मनाली के चेहरे को दागदार कर दिया है।

मनाली अनेकानेक पौराणिक मान्यताओं से जुड़ा होने के कारण लोगों की आस्था एवं श्रद्धा का केन्द्र रहा है। लोक विश्वास है कि पाण्डव कुछ समय इधर रहे। भीम-हिडिम्बा की प्रणय भूमि भी यही बताई जाती है। यह आदि मनु का स्थान रहा है, इसी कारण इसका वास्तविक नाम था मनु + आलय (मनु का स्थान या घर) और यह मनुआलय ही कालान्तर में मनाली का रूप धारण कर गया। यहां

पर पहाड़ी शैली में निर्मित मनु का एक प्राचीनतम मन्दिर भी था, जिसे जीर्णोद्धार के नाम पर, प्राचीन से हटकर नया रूप ही दे दिया गया। कुल्लू वादी के अनेकानेक स्थान ऋषि-मुनियों एवं तपस्वियों से सम्बन्धित रहे हैं। इन स्थानों को तीर्थ या आश्रम की संज्ञा दी गई। केवल मनु के साथ ही आलय शब्द जुड़ा है।

आदि मनु 'स्वयंभुव' का जन्म ब्रह्मा जी से बताया जाता है। स्वयंभुव की सन्तान स्वरोचिष को दूसरा मनु कहा गया है। इस श्रृंखला में कई मनु हुए। मनाली का सम्बन्ध किस मनु से रहा, यह कहना कठिन है। वर्तमान मन्वन्तर वैवस्वत है, और विवस्वान् के पुत्र होने के कारण इस मनु को वैवस्वत कहा गया है। यही मनु वर्तमान मानव जाति के पूर्वज स्वीकार किए जाते हैं। मनु ने जब सूर्य में प्रवेश किया तो उनके पुत्र इक्ष्वाकु को मध्य देश का शासनाधिकार प्राप्त हुआ। मनाली (मनु + आलय) का सम्बन्ध इसी मनु से मानना उचित होगा। प्रख्यात विद्वान् राहुल सांकृत्यायन ने यही स्वीकार किया है।

समय-समय पर भारत के प्रधानमन्त्रियों द्वारा विश्राम के लिए मनाली के चयन से भी इस स्थान को प्रसिद्धि प्राप्त हुई। भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू जब 1953 में चण्डीगढ़ आए तो एक वृत्त के अनुसार, इस क्षेत्र के विधायक श्री लालचन्द प्रार्थी ने उन्हें कुल्लू आने का निमन्त्रण दिया। पण्डित जी को यहां सन् 1942 में व्यतीत किए क्षणों एवं चित्रकार तथा प्रकृति प्रेमी निकोलिस रोरिक की मेहमाननवाज़ी का स्मरण आया होगा। वह 1958 में अपनी पुत्री इंदिरा गांधी तथा नातियों के साथ आए। स्वर्गीय श्रीमती इंदिरा गांधी तथा श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने भी फुरसत के क्षण यहां व्यतीत किए। इसी के फलस्वरूप मनाली का विकास भी हुआ और विश्व-भर के पर्यटक इस सुन्दर स्थल की ओर आकर्षित हुए। पर्यटन संस्कृति के विकास ने मनाली के पारम्परिक एवं पौराणिक रूप को ठेस पहुंचाई है। आहत लोगों का चिन्तन रमेश के० शर्मा के शब्दों में व्यक्त हुआ है—"आधुनिक पर्यटन संस्कृति में पैसा बहाओ और पैसा बनाओ की अंधी दौड़ में दौड़ने को मजबूर आज की मनाली कब मस्ती वाली, मस्ती—आली मनी-वाली, मनीयाली या फिर मट्टियाली बन जाए, ऐसा सोचकर ही रूह कांप उठती हैं।" वास्तव में यह चिन्तन एवं चिन्ता का विषय है।

हिमाचल के देवी-देवताओं के रथ एवं ध्वज

हिमाचल देवभूमि है। कुछ देवता समूचे प्रदेश में समान रूप से पूजित हैं, तो अन्य क्षेत्रीय तथा स्थानीय देवता हैं, जिनकी पूजा-अर्चना की निजी परम्पराएं तथा

पद्धतियां हैं। देव अथवा देवी की चर्चा के साथ ही उनके रथों, उनकी पालकियों, उनके परिधानों की विविधता आंखों के सामने कौंध जाती है। हिमाचल के लोगों के लिए देवता ही सब कुछ होते हैं। उनके लिए देव आदेश या आज्ञा शिरोधार्य होती है। देवाज्ञा के उल्लंघन का कोई भी व्यक्ति साहस नहीं कर सकता। घर में कोई मांगलिक प्रसंग हो या विवाद—देवता की उपस्थिति दोनों में अनिवार्य है। अन्न-प्राशन संस्कार हो या नामकरण, विवाह-शादी हो या कोई पारिवारिक उत्सव—देवता को सबसे पहले प्रसन्न किया जाता है। 'गूर' के माध्यम से देव-आदेश की प्राप्ति का विधान है। अपने इष्ट के प्रति इतनी आस्था-श्रद्धा होने पर भी यदि देवता अप्रसन्न ही रहे, तो भक्त को भी नाराज होने का अधिकार है। आत्मीय भाव में यह सब होता ही है। अपने इष्ट की सेवा का सर्वोत्तम माध्यम है—पूजा-अर्चना के अतिरिक्त देवता के रथ या उसकी पालकी का भव्य श्रृंगार!

देव पालकियां भी विविध रूपों एवं आकारों की होती हैं। कुछ पालकियां छोटी होती हैं, तो कुछ बड़ी। कुछ ढलवां होती हैं, तो कुछ गोल—कुछ पालकियों को दो व्यक्ति उठाते हैं तो अन्य को चार। सबके अपने वाद्य हैं, हार (प्रजा) हैं, और है अपना विशिष्ट तन्त्र! समानता है तो हार (प्रजा) की, अपने देवता के प्रति अपार श्रद्धा तथा अटूट विश्वास में।

प्राचीन काल में देवी-देवता की पालकी या रथ का जो स्वरूप निश्चित है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। लोक विश्वास है कि देवी-देवता ने यह स्वरूप स्वयं ही तय किया। इसी कारण किसी परिवर्तन का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। कुल्लू जिला में अधिक देवी-देवता है और इसके अनुसार ही उनके रथ होंगे। अन्य भागों में भी यही स्थिति है। कुल्लू घाटी के देवी-देवताओं के रथ ढालू शैली के होते हैं। इस प्रकार के रथों के निर्माण में अढ़ाई फीट की चौकोर कुर्सी पर ढालू तख्ता रखा जाता है। पालकी अखरोट की लकड़ी से निर्मित होती है। इसमें दो समानांतर लकड़ी की बल्लियों को इस प्रकार जोड़ा जाता है कि पालकी दोनों कंधों पर सुविधाजनक ढंग से टिक सके। इस पालकी की सज्जा रंग-बिरंगे रेश्मी दुपट्टों से की जाती है। आगे के भाग का श्रृंगार सोने-चांदी के मोहरों से होता है। शीर्ष भाग में होती है मौनाल की घने परों वाली कलगी तथा सामने सोने-चांदी के आभूषण! पालकी के पीछे की ओर सोने-चांदी या मनकों की माला रहती है। देवी के रथ के ऊपरी भाग में सोने के तीन छत्र होते हैं, जिनमें मध्य का छत्र बड़ा होता है।

सिराज के बाहरी तथा भीतरी क्षेत्रें में देव-रथों का स्वरूप गोल होता है—रथ नीचे से चौड़े और ऊपर की ओर जाते हुए क्रमशः गोल। इन रथों के चारों ओर

सोने-चांदी के मोहरों से सजावट होती है। चारों कोनों में चार जूड़ होते हैं। भारी और चौड़े छत्र को विशेष वस्त्र से आवृत्त किया जाता है। मध्य में कलगी वाला मुकुट होता है। रथ की साज-सज्जा रंग-बिरंगे दुपट्टों से होती है। रथ की दो अर्गलाएं इस प्रकार निर्मित की जाती हैं कि आवश्यकता पड़ने पर इन्हें निकाला भी जा सके। 12-15 फीट की इन अर्गलाओं पर देवता को उठाया जाता है, तो वह झूमता हुआ प्रतीत होता है।

करड़ शैली के रथों एवं पालकियों का आकार छोटा होता है। नरगाल की टोकरी सजी पालकी के भीतर मोहरा विराजमान रहता है और टोकरी की हत्थी को विभिन्न रंगों के वस्त्रों से सजाया जाता है। इस पालकी को उठाने के लिए एक व्यक्ति की ही जरूरत होती है। कुंल्लू के 'अठारह करड़' विख्यात हैं। यह शैली देवता की लम्बी यात्रा के लिए सुविधाजनक तो होती ही है, विघ्न-निवारक भी।

शिमला क्षेत्र की पालकियां अपेक्षाकृत भारी होती हैं। ऊपर की छत गोल होती है, परन्तु मोहरों की सज्जा कुल्लू शैली की ही होती है। देवताओं के केश घने होते हैं। पालकियों की अर्गलाएं तो दो ही होती हैं, परन्तु उठाने वाले व्यक्ति चार होते हैं। अर्गलाओं पर चांदी के पतरों की सज्जा तथा इन पर नक्काशी अपना उपमान बनती है। देवता चाहे एक ही हो, परन्तु स्थान की भिन्नता रथ और पालकी के स्वरूप को अलग कर देती है। उदाहरणस्वरूप बराण तथा सियाल के महादेव के रथ अलग-अलग प्रकार के होते हैं। यही भिन्नता सिमसा एवं खखनालु के कार्तिकेय के रथों में भी रहती है। सिराज घाटी के शृंगी ऋषि हों या मंडी के मांहुनाग या कुल्लू घाटी की देवी हिडिम्बा—हरेक की निजी शैली है। अनेक बार प्रमुख देवता की शैली का अनुकरण छोटे देवी-देवता भी करते हैं। क्षेत्र विशेष में किसी देवी-देवता के मान्य होने पर उसके साथ परम्पराएं भी जोड़ दी गईं। आज की बदलती सामाजिक व्यवस्था में भी इन देवताओं का अपने क्षेत्र में साम्राज्य अविवादित है। देवी-देवताओं के प्रति आस्था-श्रद्धा में किसी प्रकार की कोई कमी नहीं आई।

देव-ध्वज

कुल्लू घाटी की यात्रा के दौरान देखने में आया है कि अनेक गांवों के एक छोर के विशाल वृक्ष के समीप देवालय स्थित होते हैं। मन्दिर की थोड़ी दूरी पर देवदार के लम्बे शहतीर गड़े मिलते हैं—कुछ नए, कुछ पुराने और कुछ नाममात्र के। ये शहतीर मात्र लकड़ी के खम्बे नहीं, देवता के इतिहास के द्योतक हैं। जब

और जितनी बार मन्दिर का जीर्णोद्धार हुआ, उस उपलक्ष्य में खम्बा गाड़ दिया गया! यह मन्दिर की शुद्धि तथा पुनः प्रतिष्ठा का भी प्रतीक बना।

इस विशाल शहतीर को, इस क्षेत्र में देवता की धौर (ध्वजा) या 'ढौच' भी कहते हैं। ध्वजारोहण की यह पद्धति पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आ रही है। ध्वजारोहण का दिन एवं मुर्हूत देवता स्वयं तय करता है और माध्यम होता है 'गूर'। ध्वज बनाए जाने वाले पेड़ का निर्णय भी 'गूर' ही करता है। देवता की हार (प्रजा) बाजे-गाजे के साथ देवरथ को उस पेड़ के पास ले जाती है। पेड़ को पूर्व दिशा की ओर गिराया जाता है। पेड़ को चौकोर आकार देते हुए इसकी ऊंचाई सौ फीट रखी जाती है। बाजे-गाजे की ध्वनि के मध्य 'हेसरू' के साथ इस विशालकाय वृक्ष को मोटे रस्सों से खींचने का काम होता है! ध्यान रखा जाता है कि कोई इस ध्वज को न लांघे! ध्वजारोहण स्थल पर पहले ही गहरा खड्डा खुदा रहता है, जिसमें 'गूर' वेद मन्त्रों का उच्चारण करता रहता है। विशालकाय 'ध्वज' को पूरी ताकत से खड्डे में उतारा जाता है। 'गूर' को सावधानी से पहले निकाल दिया जाता है, पर कभी दुर्घटना भी हो जाती है। यह सभी कार्य नंगे पांव तथा अन्न-जल ग्रहण किए बिना सम्पन्न होता है। ध्वजा-स्थापन के क्षण मेंढे की बलि दी जाती है। तीन दिन तक प्रीतिभोज की व्यवस्था रहती है। आसपास के गांव सामग्री का प्रबन्ध करते हैं। प्रीतिभोज (धाम) में सबका शामिल होना जरूरी है। इस आयोजन में बीसियों मेंढों और बकरों को देव-हित प्राण देने पड़ते हैं। प्राचीन काल से चली आ रही इस परम्परा का आज भी निर्बाध पालन होता है।

जनजातीय क्षेत्रों की परिणय परम्पराएं

हिमाचल देवभूमि है, प्रकृति की सुरम्य क्रीड़ास्थली भी। यहां के देवालयों में नतमस्तक होकर आत्मिक शान्ति-संतोष की अनुभूति होती है, तो प्रकृति के क्षण-क्षण बदलते चेहरों से भी साक्षात्कार हो जाता है। हिमाचल की सांस्कृतिक विरासत भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं। यहां के विभिन्न क्षेत्रों में सांस्कृतिक एकता के तले प्रवाहमान विविधता की धारा इतिहास एवं संस्कृति के शोधकर्ताओं को पर्याप्त सामग्री उपलब्ध करवाती है। हर क्षेत्र की अपनी परम्पराएं हैं, रीति-रिवाज हैं, प्रथाएं एवं कतिपय कायदे-कानून भी हैं। जनजातीय क्षेत्रों में परिणय परम्पराएं अत्यन्त रोचक हैं। एक जनजातीय क्षेत्र की विवाह परम्पराएं दूसरे की परम्पराओं से नितान्त भिन्न हैं। इनका अध्ययन एवं विश्लेषण उपयोगी एवं काफी दिलचस्प है।

पांगी घाटी

समुद्र-तल से चौदह हजार फीट की ऊंचाई पर स्थित यह घाटी चम्बा जिला में पड़ती है। यहां विवाह के तीन चरण होते है।—पीलम, फरबी तथा चरबी। विवाह में कन्या की सहमति सर्वोपरि होती है। लड़के वाले लड़की वालों से आवश्यक पूछताछ करते हैं। लड़की के माता-पिता के सहमत होने पर किसी निश्चित दिन, लड़का अपने तीन-चार मित्रों के साथ, घी में तली पूरियों, हलवा, शराब, जेवर के उपहार लेकर जाता है। कन्या लड़के द्वारा लाए गए जेवर के उपहार को स्वीकार कर ले, तो विवाह के लिए उसकी सहमति मानी जाती है। यह 'पीलम' की स्थिति है, लड़की परम्परा और कानून की दृष्टि से लड़के की पत्नी बन जाती है। लड़के का अपने ससुराल में आना-जाना शुरू हो जाता है। इस दौरान लड़की गर्भवती भी हो जाए, तो सन्तान लड़के की ही मानी जाती है।

'पीलम' के एक वर्ष बाद 'फरबी' की रस्म होती है, जिसमें तली हुई पूरियों, हलवा, शराब की दावत वर पक्ष द्वारा दी जाती है और दोनों पक्षों के रिश्तेदार इसमें शामिल होते हैं। लड़के के साथ उसका एक मित्र या सम्बन्धी रहता है, जिसे 'दीवान' कहा जाता है। 'फरबी' के साल-डेढ़ साल बाद 'चर्बी' संस्कार होता है। दुल्हा बारात लेकर जाता है और इसमें दो व्यक्ति प्रमुख होते हैं—दीवान तथा 'पट माराह'। 'पट माराह' वर का ममेरा या चचेरा भाई होता है, जो शादी की रस्मों के पूरा होने के बाद, अपने हाथ में तलवार लेकर चलता है—यह संकेत है दुल्हे की भूत-प्रेत से रक्षा का।

डोडरा—क्वार क्षेत्र

यह ऐसा क्षेत्र है, जिसे सुन्दर लोगों की सुन्दर घाटी का सम्मानजनक सम्बोधन प्राप्त है। शिमला से यह क्षेत्र 210 कि०मी० की दूरी पर है और यहां पहुंचने के लिए लम्बा पैदल सफर भी करना होता है। यहां के विवाहों की दिलचस्प बात है कि वर के स्थान पर वधू विवाह करने जाती है। विवाह में न तो अग्नि को साक्षी माना जाता है और न ही मंत्रोच्चार होता है! यहां दो प्रकार के विवाहों का प्रचलन है—'जणी आच' तथा 'दौड़ेई'—प्रथम पद्धति सामान्य विवाह की है, जिसमें अभिभावक ही रिश्ता तय करते हैं। प्रेम-विवाह भी इसी के अंतर्गत है। (धाड़ा) 'दौड़ेई'—जबरन विवाह है। इसमें लड़का अपने मित्रों की सहायता से मनचाही लड़की को अपने घर उठा लाता है। लड़की को यहां भोजन के लिए विवश किया जाता है। लड़की अपनी इच्छा से भोजन कर ले, तो इसे विवाह के लिए रजामंदी

समझा जाता है। गांव के प्रतिष्ठित लोग लड़की के माता-पिता को बुलाकर उनकी उपस्थिति में लड़का-लड़की को पति-पत्नी घोषित कर देते हैं। यदि लड़की भोजन स्वीकार न करे, तो उसे अपने घर लौटने की स्वतन्त्रता होती है।

लाहौल-स्पीति घाटी

लाहौल-स्पीति हिमाचल का एक सीमांत जनजातीय क्षेत्र है। इस घाटी में विवाह की एक रोचक प्रथा है कि यहां 'छंग' (शराब) के सेवन के बिना विवाह अधूरा माना जाता है। दोनों पक्षों के लोग 'छंग' के रंग में रंग जाते हैं, वधू को भी 'छंग' का सेवन करवा दिया जाता है। अधिकतर विवाहों में दूल्हा स्वयं विवाह के लिए नहीं जाता। वह अपने विश्वस्त मित्र को दुल्हन लाने भेजता है, जिसे स्थानीय भाषा में 'पक्तिवा' नाम प्राप्त है। इसके हाथ में एक तीरकमान दिया जाता है। बारात की महिलाएं अपने सिर पर मद्यपात्र उठाकर चलती हैं। कन्या पक्ष पट खोलने से पूर्व यह निश्चय कर लेता है कि बारात में कोई भूत-प्रेत तो शामिल नहीं। यह जानने का भी रोचक तरीका है। बौद्ध मठ का पुजारी एक थाली में रखे दीपकों में जौ के तेल की बत्ती जलाता है। यह थाली मन्त्रोच्चार सहित हर बाराती के सिर पर घुमाई जाती है। इस प्रकार बारात के भूत-प्रेत मुक्त होने की घोषणा की जाती है। बारातियों को अपने लक्ष्य-प्राप्ति हेतु कन्या पक्ष के घर के आंगन में छिपाया हुआ मृत भेड़ का दिल खोजना होता है। शराब पीने का दौर चलता है। 'पक्तिवा' दुल्हन के कमरे में जाकर अपने साथ लाया तीर, उसकी पीठ पर बांध देता है तथा उसे अपनी पीठ पर उठाकर दूल्हे के घर ले जाता है। दुल्हन दूल्हे को सौंप दी जाती है। 'पक्तिवा' इस रस्म को निभाने के बाद दुल्हन का धर्म-भाई बन जाता है।

लाहौल-स्पीति की चंद्रा एवं गोहर घाटियों में 'कुम्माय—भागस्टोन' विवाह प्रचलित है। यह विवाह जबरन किया जाता है। वैसे घाटी में लड़के-लड़कियों को अपनी पसन्द का विवाह करने की स्वतन्त्रता होती है। किसी लड़के को कोई लड़की भा जाए, तो वह भेंट स्वरूप उसे एक राशि देता है, जिसे 'नेस' कहा जाता है। युवती खुशी से 'नेस' स्वीकार कर ले, तो इसे उसकी स्वीकृति माना जाता है। लड़की 'नेस' स्वीकार नहीं करती और लड़का उसको दिल दे बैठा हो, तो उस हालत में लड़की का अपहरण किया जाता है। यह जबरन विवाह है। समाज इसे मान्यता नहीं देता और इस स्थिति में सामाजिक बहिष्कार होता है। लाहौल घाटी में ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य जन-जातियों में बुआ, मां की मौसी, मामा की बेटी

से विवाह हो सकता है। सगोत्रीय विवाहों को मान्यता नहीं।

किन्नौर घाटी

किन्नौर हिमाचल का कबायली क्षेत्र है। इसका उल्लेख महाभारत में भी उपलब्ध है। यहां विवाह को रेझा या रेज्या कहा जाता है। यहां चार प्रकार के विवाह प्रचलित हैं—जेनतांग, डेम टैनाश (प्रेम विवाह), डरोश (जबरन विवाह) तथा हर (किसी दूसरे की पत्नी से विवाह)। किन्नर समाज में बहुपति प्रथा का भी प्रचलन है। यहां दहेज प्रथा भी प्रचलित है, जिसे 'रिनचोट' की संज्ञा प्राप्त है। 'जेनतांग' सामान्य ढंग का विवाह है, जिसका निश्चय वर-वधू दोनों पक्षों द्वारा होता है। 'डम टैनाश' या ड्राम-ट्रेनिश प्रेम विवाह है, जिसे किन्नर समाज में मान्यता प्राप्त है। लड़का-लड़की पहले ही प्रेमपाश में बंधे होते हैं। अभिभावकों को इसकी भनक मिलती है, तो वे आपसी सहमति से स्थानीय रस्मों के अनुसार विवाह करवा देते हैं। 'डरोश' या 'डब-डब', विवाह पद्धति रोचक है। जब कन्या पक्ष विवाह को उद्यत न हो, तो कन्या का अपहरण कर लिया जाता है। फिर लड़के वाले क्षमायाचना कर कन्या पक्ष से विवाह का प्रस्ताव करते हैं, जो स्वीकार कर लिया जाता है। 'हर' विवाह अत्यन्त दिलचस्प है। इसमें यदि किसी पुरुष का पर-पत्नी से प्रेम हो जाए, तो वह उसकी इच्छा से, उसे उड़ा ले जाता है। इसके बदले में वह उस विवाहिता के पति को निश्चित राशि अदा कर देता है। इस प्रकार उस महिला का पहला विवाह टूट जाता है।

भरमौर क्षेत्र

भरमौर भी हिमाचल का कबायली क्षेत्र है और इसके अधिकांश निवासी गद्दी हैं। इस जाति में अन्य संस्कारों की अपेक्षा विवाह को विशेष महत्त्व प्राप्त है। इस संस्कार में रोचक तथा विचित्र प्रसंग यह है कि विवाह के समय वर की 'बिच्छूबूटी' से पिटाई की जाती है। स्मरण रहे कि 'बिच्छूबूटी' के स्पर्श से शरीर में बहुत खुजली होने लगती है। गद्दियों में दो पत्नियां रखने की प्रथा नहीं, परन्तु पहली पत्नी की मृत्यु या इसके निस्सन्तान होने पर दूसरे विवाह की अनुमति है। इस जाति में तीन प्रकार के विवाह होते हैं—बट्टा-सट्टा, झिंडफुक तथा वरमाना। प्रथम प्रकार की व्यवस्था में लड़का पत्नी प्राप्त करने के लिए अपनी सगी बहन या ममेरी-चचेरी बहन का रिश्ता, होने वाली पत्नी के भाई से कर देता है। झिंडफुक विवाह से अभिप्राय है—प्रेम विवाह!

धाठू : सांस्कृतिक पहचान

पुरुष हो या महिलाएं, आज अधिकांश, नंगा सिर रखने के फैशन को अपना रहे हैं। कभी पगड़ी या टोपी पुरुष की गरिमा की द्योतक रही, तो ओढ़नी नारी की मर्यादा की प्रतीक। आज भी ऐसे क्षेत्र हैं और इनमें निवास करने वाली लाखों महिलाएं, जो ओढ़नी को सुरक्षा और सम्मान का प्रतीक मानती हैं।

आम तौर पर परिधान और इसे धारण करने की कला से व्यक्ति के ग्रामीण या नागरिक परिवेश की पहचान हो जाती हैं। यह कसौटी पुरुष तथा महिला पर समान रूप से लागू होती है, परन्तु क्षेत्रीय तथा उप-क्षेत्रीय पहचान अलग ढंग से होती है। 'गले में सात लड़ी का चांदी का हार, पांव में चौड़ी पट्टी की पाजेब, कानों में सोने की बरागर (बालियां), गले में पीले रंग की तीन लड़ी वाली चमकती कंठी, कमीज में चांदी की शांगली, नाक में लौंग, पट्टी की जैकेट, चूड़ीदार सूथण (पायजामा), सिर पर पीला धाठू (डाठू) और पीठ पर छोटा-सा किल्टा'! इस महिला का पहरावा पर्वतीय क्षेत्र से सम्बन्धित है, यह सामान्य प्रतिक्रिया होगी, परन्तु श्री बद्री सिंह भाटिया के अनुसार यह पहचान ठियोग या रोहड़ू क्षेत्रीय महिला की है। पहाड़ी प्रदेश जिसकी सीमा उत्तर काशी (उत्तर प्रदेश) से जिला शिमला, कुल्लू, मंडी तथा सिरमौर तक विस्तृत है, उसमें महिलाएं ओढ़नी के स्थान पर 'धाठू' प्रयोग में लाती हैं।

धाठू एक मीटर का वर्गाकार वस्त्र होता है, जिसे 'तिकोने' आकार में सिर पर बांधा जाता है। कुछ लोग इसे अंग्रेजी के 'स्कार्फ' के रूप में स्वीकार करेंगे, परन्तु स्वरूप—उपयोग की भिन्नता सुस्पष्ट है। 'धाठू' एक परम्परा का सूचक या द्योतक है। इसकी चर्चा अनेक पर्वतीय लोकगीतों में भी हुई है। कभी दुर्भाग्य से अभावग्रस्त महिला 'ढाठू' के लिए भी तरस जाती है—

हट्टी बैठया दुहाणियां
तेरी हट्टी विकेंदा जीरा
होर लांदियां रेसमी ढाठु
मै लांदी लीरां।।

धाठू हो, और वह भी पीला, तो सोने पर सुहागे वाली बात है। कुल्लू में धाठू को थिप्पी भी कहा जाता है। धाठू की महत्ता इस रूप में भी है कि इसे 'उपहार' रूप में श्रद्धापूर्वक स्वीकारा जाता है। किसी घर में बच्चे का जन्म हो और प्रसूता को बधाई देने, उपहार सहित उसकी सहेलियां या मायके के लोग आएं, तो घर का

मुखिया उनका सम्मान 'धाठू' भेंट कर करता है। धाठू के पहनने का भी अपना अन्दाज है—यह माथे से कान के पीछे तक ओढ़ा जाता है, चोटी के ऊपर इसकी गांठ होती है। यह गांठ क्षेत्र के अनुसार रूप बदलती है। 'धाठू' मर्यादा का प्रतीक है, तो सांस्कृतिक पहचान भी।

पूला लोक हस्तकला : जो दम तोड़ रही है

हिमाचल प्रदेश में अनेकानेक आश्चर्य है और इन्हीं में से एक है 'पूला लोक हस्तकला'। यदि यह कहा जाए कि वनस्पति रेशे से जूते बनाए जाते हैं, तो शायद सहज में विश्वास न हो! यह एक वास्तविकता है और इस हस्तकला को 'पूला कला' का विशेषण प्राप्त है। धीरे-धीरे दम तोड़ रही इस कला को जीवित रखने में बुजुर्ग कारीगरों तथा लड़कियों की महती भूमिका है।

हिमाचल प्रदेश के कुल्लू एवं मंडी जिलों में ऐसें अनेक गांव हैं यहां इस कला की परम्परा रही है। अब ऐसे गांवों की संख्या घटती जा रही है, क्योंकि यह कुटीर उद्योग रोजी-रोटी जुटाने में सक्षम नहीं हैं। कुल्लू जिला के धारा गांव (बंजार जनपद) के श्री जीतराम ने लगभग दो दशकों तक दत्त-चित्त होकर इस कला की साधना की। देश के कोने-कोने में इस कला की गरिमा को पहुंचाने का श्रेय श्री जीत राम को दिया जाता है। अनेकानेक प्रदर्शनियों में लोगों का साक्षात्कार श्री जीतराम निर्मित 'पूला' से हुआ। पहाड़ों पर जब बर्फ की चादर बिछ जाती है, तो यहां के निवासियों के लिए घर में सिमटने के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नहीं रह जाता। 'पूला हस्तकला' इन्हीं क्षणों का सृजन रहा है।

'पूला' निर्माण कोई सुगम कार्य नहीं। इसके लिए जो कच्चा माल दरकार होता है उसे 'शेल' कहते हैं। इसी नाम का झाड़ीनुमा पेड़ समुद्र-तल से आठ हजार फीट की ऊंचाई पर उगाया जाता है। यह उत्पादन अत्यन्त विकट है। 'शेल' के फूलों से रेशा निकलता है और इसकी सारे वर्ष में एक ही फसल होती है। भांग की झाड़ी से 'पूलों' के लिए कच्चा माल उपलब्ध होता है। पहले बकरे के बालों से भी इसका निर्माण होता था। शेल से प्राप्त रेशे को मशीन से बटा जाता है, फिर गोले बनाए जाते हैं, जिन्हें स्थानीय लोग 'कटहैडू' नाम से पुकारते हैं। 'शेल' से पूलों का तला बनाया जाता है। इसका नाम 'ताकली' भी है। ऊनी जूते की किनारी को 'जेबड़ी' नाम दिया जाता है। बुनने के लिए शेल की डोरी अथवा मोटे सूती धागे का प्रयोग होता है। 'पूले' के ऊपरी भाग को रंग-बिरंगी ऊन से बुना जाता है, और इसी में 'पूले' का आकर्षण निहित है। पहले ये जूते सादा होते थे,

परन्तु राष्ट्रीय मंडी में इसके पदार्पण ने डिजाइन की मांग को भी बढ़ाया।

'पूला' निर्माण के पर्याय बने जीतराम के अनुसार यह पदत्राण ठंड से बचाव में काफी मददगार है। इससे पैरों में गरमाहट रहती है। बर्फबारी में इसके प्रयोग से फिसलने का खतरा कम रहता है, कारण यह कि इसका तला खुरदरा होता है। धार्मिक तथा पूजा-स्थलों में भी इसके प्रयोग पर प्रतिबन्ध नहीं। हिमाचल तथा कतिपय अन्य क्षेत्रों में विवाह के अवसर पर 'पूलों' का पहनना शुभ माना जाता है। नगरों में इसका प्रयोग 'फैंसी आईटम' के रूप में है, तो 'एंटीक' के तौर पर भी।

इस कुटीर उद्योग को व्यापक औद्योगिक रूप देना इसलिए कठिन है कि एक तो पहाड़ों पर स्थान की कमी रहती है और दूसरे इतनी ऊंचाई पर शेल के पेड़ उगाने के लिए दम-खंम चाहिए। जीतराम ने इस उत्पाद की कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, दिल्ली, पूना, कानपुर आदि कई नगरों में प्रदर्शनियां लगाईं। सन् 1985 में तो पूना की प्रदर्शिनी में कुछ घंटों में ही सारा माल बिक गया। जीतराम ने इस सृजनात्मक कला में कितने ही देशी-विदेशी लोगों को प्रशिक्षित भी किया। 'बंजार' में भारत सरकार की ओर से 'पूला ग्रास शूज' उपक्रम भी है, जिसमें बेरोजगार लड़कियों के प्रशिक्षण का उद्देश्य था ही, कुटीर उद्योग को नवजीवन देना भी अभिप्रेत रहा। एक 'पूला' दो दिन का श्रम मांगता है। यह हस्तकला प्रदेश की पहचान है।

ठोडा : युद्ध कला से नृत्य शैली तक

हिमाचल अपनी प्राचीन एवं समृद्ध पारम्परिक कलाओं के लिए विख्यात है। 'ठोडा' भी एक प्राचीन तथा ऐतिहासिक कला है। इस कला का सम्बन्ध महाभारत काल से जोड़ा जाता है। अनुसन्धान-कर्ताओं के अनुसार 'ठोडा' धनुर्विद्या का ही एक रूप है। महाभारत काल में धनुर्विद्या उच्चतम धरातल पर थी, परन्तु आज धनुर्विद्या के इस रूप 'ठोडा' को मनोरंजन के साथ जोड़ दिया गया है।

यह खेल दो दलों—शाठी तथा पाशी के मध्य खेला जाता है। लोक विश्वास है कि पाशे पाण्डवों के वंशज हैं, और शाठे कौरवों के! मान्यता है कि महाभारत के महासंग्राम में दोनों शिविरों से कतिपय बचे-खुचे सैनिक शिमला, सोलन तथा सिरमौर के निवासी बन गए। वर्षों तक इनकी निष्ठा अपने पुराने शासकों (इनके संसार में न होने पर भी) के प्रति बनी रही और इनमें समय-समय पर अनेक संघर्ष हुए, जिनमें प्राणहानि भी हुई। कालान्तर में इस संघर्ष ने सौहार्द का नया मार्ग

अपनाया और दोनों वर्गों में शत्रुता और प्रतिशोध के अस्त्र के रूप में प्रयुक्त होने वाली धनुर्विद्या ं मी नृत्य शैली के रूप में नया अवतार ले लिया।

'ठोडा' में भाग लेने वाले 'शाठी' एवं 'पाशी' वर्ग के लोग यों तो शिमला तथा सोलन में भी है, परन्तु इनका मूल निवास सिरमौर के संगड़ाह तथा अंधेरी गांव में स्वीकार किया जाता है। ये लोग विशु मेले में सक्रियता से भाग लेते हैं। 'ठोडा' के मनोरंजन का माध्यम बनने से इसका मौलिक रूप विकृत हो गया है, जिसे पुनर्जीवित करने हेतु तर्क-वितर्क होते रहते हैं, परन्तु समय की धारा के साथ सामंजस्य नकारा भी तो नहीं जा सकता।

इस खेल में सिर से ऊंचे धनुषों का प्रयोग किया जाता है। शर आगे से चपटा होता है। खिलाड़ी मोटे ऊन तथा सूत का पायजामा पहनते हैं तथा पाँव में टखनों से ऊपर चमड़े का जूता होता है। इनसे तीरों की मार से खिलाड़ी की रक्षा होती है। एक योद्धा (खिलाड़ी) नृत्य करता है तो दूसरा तीर से उसकी पिंडली पर निशाना लगाता है, यही निशाना मान्य भी है। तीर के निशाने पर लगते ही, प्रहारक अपनी बोली में खुशी की अभिव्यक्ति व्यंग्यात्मक गीत में करता है। निशाना सही न लगे तो नृत्य करने वाला संगीतमय व्यंग्य करता है। व्यंग्य-बोल का उद्देश्य प्रहार करने वाले की एकाग्रता को भंग करना होता है ताकि तीर निशाने पर न लगे! इसी प्रकार नर्तक की एकाग्रता को भंग करने का भी प्रयास होता है।

सिरमौर के ठोडा कलाकारों का मुख्य व्यवसाय ठोडा नृत्य है। उत्सव, समारोहों में अपनी कला का प्रदर्शन कर वे अजीविका कमाते हैं। रियासतों के समय में यह खेल राजाओं-महाराजाओं को प्रिय था। अब तो ठोडा दलों को 'विशु' (वैसाखी) आदि मेलों में ही आमंत्रित किया जाता है, जब वे गाजे-बाजे के साथ शामिल होते हैं। दल के सदस्यों के हाथ में फरसा, डांगरू, धनु (धनुष), शरी (तीर) डींगा, तलवार आदि होते हैं। खेल की विशेषता यह है कि इसे लोक-वाद्यों—ढोल, नगाड़ा, शहनाई, तुरही, रणसिंघा की धुनों पर खेला जाता है। लोक—वाद्य तथा स्थानीय युद्ध गीत वातावरण को सप्राण कर देते हैं। खेल की एक और विशेषता है कि तीर केवल खिलाड़ी की पिंडली/पांव पर ही मारा जाता है।

'ठोडा' हिमाचल की संस्कृति का मात्र भाग बनता जा रहा था, परन्तु प्रदेश के युवा तथा खेल विभाग ने इसे अपनाकर नवजीवन दे दिया है।

कुल्लू के पकवान

कुल्लू प्रकृति की सुरम्य स्थली है, मन्दिरों—देवालयों की पुण्य भूमि है,

पारम्परिक शालें तथा रुमाल भी इसी सांस्कृतिक पहचान के कारक हैं। कुल्लू का दशहरा उत्सव तो इसे अंतर्राष्ट्रीय पहचान देता है। कुल्लू के पकवान भी इसकी पहचान बनाने में सहायक रहे हैं। इनमें से अधिकांश आज लुप्त हो रहे हैं, परन्तु गत दिनों, संस्कृति का अंग बने इस पकवानों की परम्परा को नवजीवन देने का स्तुत्य प्रयास हुआ है। कुल्लू निवासियों के भोजन का भाग रहे हैं—गेहूं, जौ, मक्की, चावल, दूध-घी, कोदरा आदि। यह क्षेत्र जिन पकवानों के लिए बहुचर्चित रहा है, उनका परिचय इस प्रकार है—

कौपी—कुल्लू में रोटी के बाद चावल का अधिक प्रयोग होता था। परिवार में कभी-कभी विशेष पेय—कौपी की भी व्यवस्था होती थी। यह पेय चुड़ी वाले मीठे साग सियारा (सिऊल) तथा बिथु से बनाया जाता था।

फैवड़ा—यह पेय 'कौपी' से मिलता-जुलता है, जिसमें सोयाबीन, सियारा (भौढ, सिऊल), चावल तथा साग (चुड़ी वाला) का प्रयोग होता है। साग उपलब्ध न हो, तो उसके बिना भी काम चल जाता है। किसी समय दियाड़ा तथा बुरूआ में चुड़ी वाले साग का विशेष व्यवसाय था। यह पेय स्वास्थ्यवर्धक है। इसमें तेल-तुड़के की चिकनाई नहीं होती, फिर सोयाबीन तथा सियारा जैसे पौष्टिक तथा स्वास्थ्यवर्धक अंश भी होते हैं। इसे नमकीन खीर भी कहा जाता है।

सिड्डु—मक्की, गेहूं, जौ के आटे से रोटीनुमा छोटे-बड़े आटे के टुकड़ों को 'फेवड़ा' में उवाले जाने पर सिड्डु कहा जाता है। कुल्लू में तीन प्रकार के 'सिड्डु' बनते हैं—आरे सिड्डु, मलेडै सिड्डु तथा वेणुई सिड्डु! आटे में मलेड़ा (छाछ आदि खट्टा पदार्थ) मिलाकर गुंधा जाता है और आटे के टुकड़ों को 10-12 घंटे गर्म स्थान पर रखा जाता है। फिर इसे कम पानी में इस प्रकार उबाला जाता है कि पकने पर सारा जल इसी में समा जाए। यह सिड्डु 'मलैड़ा' कहलाता है। आटे से बने चिड़ियानुमा पदार्थ में सोयाबीन, आलू, माश, अखरोट गिरी की दाल अथवा सब्जी डालकर पकाया गया सिड्डु 'वेणुई' कहलाता है। ऐसा पकवान माघ मास में विशेष रूप से बनाया जाता है।

आक्सू—आक्सू तथा वेणुई सिड्डु माघ मास में 'पाऊड़ प्रथा' के निर्वाह हेतु भाई-बहन के घर भेजने हेतु बनाए जाते हैं। पड़ौस में भी इनका वितरण होता है। चावल के आटे को घोलकर गर्म पत्थर पर बने शंख के आकार के छेद में डाला जाता है। बाद में एक लकड़ी से निकाल, दूसरे छेद पर रख, आक्सू को रूप दिया जाता है।

शैकूट—बड़े-बड़े कद्दुओं को काटकर पानी में उबाला जाता है। पानी सूखने

पर जो पदार्थ बनता है इसे शैक्टू का नाम प्राप्त है! इस खाद्य-पदार्थ का छाछ के साथ सेवन होता है। कद्दू की मिठास इसकी शक्ल से ही ज्ञात हो जाती है।

घीऊबाड़ी—अतिथियों तथा महिलाओं को प्रसव उपरान्त इस खाद्य-पदार्थ का सेवन करवाया जाता है। आटे की लेटी घी के साथ पेश की जाए तो नाम होता है घीऊबाड़ी।

रैड्डु—यह पेय पदार्थ है, जो चावल के पकने पर छाछ डालने से बनाया जाता है। ठंड तथा जुकाम का यह पेय उपचार है।

लेऊरा—मूंग और चावल के पेय का नाम है 'लेऊरा'! यह भी स्वास्थ्यवर्धक है, विशेषकर रोगियों के लिए।

भौत—कुल्लू के चावल प्रायः लाल रंग के होते हैं। यह स्वादिष्ट तो होते ही हैं, पौष्टिक भी। इन चावलों के मुख्य प्रकार हैं—जाटू-मताई तथा काला धान। यहां भात का उच्चारण 'भौत' के रूप में होता है। काऊबी, चीणी, विथु, गांगड़ी का भी यहां भात बनता था। (मक्की की मोटी दलाई कर भी चावल के साथ भात बनाया जाता था)।

त्रौड्डु—कचालू (सिलरी आलू) के पत्तों में आटा, मिर्च-मसाला डालकर, पकाने तथा तड़का लगाने पर बने पकवान का नाम त्रौड्डु है।

जिंजड़ा—राजमाह तथा चावल की खिचड़ी में मांस के छोटे-छोटे टुकड़ों से बना पकवान जिंजड़ा कहलाता है।

घीऊ खिचड़ी—यह खिचड़ी विशेष रूप से प्रचलित रही है। माघ की संक्रांति के दूसरे दिन कुल्लू में इस पकवान की परम्परा थी।

चिलड़ा—आटे के घोल को तवे पर डालकर पकाया गया पकवान चिलड़ा कहलाता है।

प्रदेश के अन्य क्षेत्रों तथा देश के अन्य भागों में अलग-अलग नाम-रूपों से भी ऐसे खाद्य-पदार्थ उपलब्ध हैं। बदलते परिवेश में भी इन पारम्परिक पकवानों की निजी भूमिका है।

किन्नौर : महिलाओं की गहनों से पहचान

किन्नौर (हिमाचल) की अपनी अलग संस्कृति है, तो परम्पराएं भी। इनको मूल रूप में सुरक्षित रखने में महिलाओं की निजी भूमिका है। यहां अक्तूबर-नवम्बर मास में विवाहों की धूम-धाम रहती है। इन दिनों 'कुलेच' मेले का भी भव्य आयोजन होता है। स्थानीय देवताओं को अपने घर में आमन्त्रित करने पर भी

उत्सव होते हैं, जिनमें रात-रात-भर किन्नौरी नाटी चलती है। इन सब आयोजनों में किन्नौरी महिलाएं अपने पारम्परिक परिधान में भाग लेती है। उनकी अलग पहचान इस रूप में है कि वे अपने शरीर के विभिन्न भागों पर किलो के हिसाब से चांदी-सोने के आभूषण पहनती है।

आभूषणों की चर्चा से पूर्व इन महिलाओं के परिधान की जानकारी आवश्यक है। ये महिलाएं हर समय सिर पर किन्नौरी टोपी पहनती है। स्थानीय भाषा में 'टेफंग' नाम से विदित यह टोपी ऊनी पट्टी तथा हरे रंग के मखमल से निर्मित होती है और इस पर फूल लगे होते हैं। विवाह उत्सवों तथा देव-पूजा के अवसर पर धारण की जाने वाली टोपी विशेष प्रकार की होती है, जिसे 'प्रेनटेफंग' की संज्ञा प्राप्त है। साड़ी के रूप में बांधे जाने वाले वस्त्र को दोहड़ू (दोरा) कहा जाता है, परन्तु साड़ी और इसमें अन्तर यह रहता है कि साड़ी आगे की ओर से बांधी जाती है और दोरा पीछे से। इसे आठ-दस मीटर लम्बी 'गाची' से बांधा जाता है, जो पेट पर चारों ओर लपेटी जाती है। कोट के रूप में 'चोली' (जैकेट) पहनी जाती है। यह ऊनी पट्टी से निर्मित होती है, परन्तु कालरों, जेबों, बाजुओं के अगले भाग में सलीन या मखमल का प्रयोग जरूरी है। 'चोली' का रंग सलेटी या भूरा होता है। कंधों पर होती है बहुमूल्य शाल और पैरों में 'गुन्ज सपना' (स्थानीय जूतों का नाम)! ये ऊनी वस्त्र सर्दी से बचाव करते हैं।

आभूषण यहां की महिलाओं को अलग ही पहचान देते हैं। यहां के आभूषण मुख्यतः चांदी से बने होते हैं, परन्तु अब, साधन सम्पन्नता के साथ, सोने का भी प्रयोग होने लगा है। विभिन्न अंगों में पहने जाने वाले आभूषणों का परिचय इस प्रकार है।

बाजू—'दगलो' (चांदी के मोटे-मोटे कड़े)—आधा-आधा किलो के एक बाजू में।

(स्मरण रहे कि अन्य भागों में महिलाएं कांच तथा सोने की चूड़ियां पहनती हैं।)

हाथों की उंगलियां—'कागून'—उंगलियों में दो-तीन सोने-चांदी की अंगूठियां।

गला—1. त्रिमोले (वितरी)—(मंगलसूत्र का रूप)

त्रिमोले सोने के तीन गोल-गोल गोले के रूप में होते हैं। सम्पन्न परिवारों में इनकी संख्या छह भी हो जाती है। इनका वजन चार तोला होता है।

2. चन्द्रसेन (गले का हार)—वजन 35 तोला (चांदी के पुराने सिक्कों से निर्मित)

3. 'पतकूच'—वजन 60 तोला चांदी

4. 'टूमा'—वजन 18 तोले चांदी (छह लड़ियां)

5. 'गऊ'—वजन 15 तोले चाँदी (3-4 लड़ियां)

6. टोमोच, गोलसन तथा दिगरा—वजन 50 तोला चांदी—एक तोला सोना। (शाल को लगाने में सहायक)

सिर, नाक तथा कान—'तलौल' (टीका)—वजन 30 तोले चांदी— माथे पर लगाने के लिए

नाक— बाल्डू—तीन तोले सोने का आभूषण (स्थान नाक)

वलाक—दस ग्राम सोना (नाक का आभूषण)

कान— कन्ताई—एक-एक कान में तीन-तीन कांटे (झालर वाले) वजन 32 तोला चांदी

मोल—वजन 15 तोला चांदी, पांच पंक्तियों वाला (कान के साथ)

सिर— 'टप'—20 तोला चांदी

चाक—एक या दो—5-10 ग्राम सोना (बालों में पीछे)

झूटी—15 तोला चांदी

यह परिधान, इतने भारी आभूषण पहनने वाली महिला कैसी होगी—कल्पना का विषय है—स्वर्ग से उतरी अप्सरा। कवि बिहारी का दोहा सार्थक होगा—

लिखन बैठि जाकी छवी
गहि गहि गरब गरुर
भये न कैते जगत में
चतुर चितेरे कूर!!

गुलेर : एक तपस्वी ने दी नई पहचान

हिमाचल अपनी सांस्कृतिक विरासत, काष्ठकला तथा चित्रकला के कारण विख्यात हे। चित्रकला की एक विशिष्ट शैली है—गुलेर कलम, जिसने चित्रकला को नए आयाम तो दिए ही हैं, गुलेर को भी अलग पहचान दिलवा दी। कांगड़ा कभी जालन्धर के त्रिगर्त षष्ठ का भाग था। इससे अलग होने पर, कालान्तर में इसी राज्य के जसवान, गुलेर, सिव और दातारपुर राज्य बने। ऐसा भी कहा जाता है कि 1845 में जब पहाड़ी राज्यों को संगठित कर, अंग्रेजों से लोहा लेने की योजना बनी, तो गुलेर नरेश ने यह भेद अंग्रेजों को खोल दिया। इस नकारात्मक पग के साथ-साथ गुलेर के साथ कतिपय सकारात्मक पहलू भी जुड़े हैं। गुलेर के

अन्तिम शासक राजा बलदेव सिंह एक विद्वान्, धर्म-परायण, आस्थावान नरेश थे। 'उसने कहा था' कहानी के लेखक, मूर्धन्य विद्वान् पं० चन्द्रधर शर्मा के पूर्वज गुलेर से सम्बन्धित थे। स्वनाम धन्य पण्डित जी गुलेर में चाहे अल्पकाल तक ही रहे, परन्तु अपने नाम के साथ 'गुलेरी' जोड़कर उन्होंने साहित्यिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में गुलेर को नई पहचान दे दी।

ऐसी मान्यता है कि गुलेरी 'ग्वालियर' का अपभ्रंश रूप है। मुस्लिम इतिहास में यह नाम मिलता है। 'ग्वालियर' शब्द की व्युत्पत्ति गोपाल अथवा ग्वाल (चरवाहा) से मानी गई है। किसी समय गुलेर रियासत का क्षेत्र काफी विस्तृत था। वर्तमान देहरा तहसील में दातारपुर का क्षेत्र जोड़ दिया जाए तथा तप्पां-गंगोत निकाला जाए, तो उस समय का 'गुलेर' बन जाएगा! श्री जे० हचीसन ने अपनी पुस्तक 'हिस्टरी ऑफ पंजाब हिल स्टेट्स' में गुलेर की स्थापना सम्बन्धी एक वृत्त दिया है। तैमूर के आक्रमण के बाद कांगड़ा पर राजा हरिचन्द्र का शासन था। एक दिन कांगड़ा के दक्षिणी भू-भाग के सघन क्षेत्र में राजा हरिचन्द्र आखेट के लिए निकला, तो अपने साथियों से बिछुड़, अन्धेरे के कारण कुएं में गिर गया। उसे मृत समझकर उसके भाई कर्मचन्द ने कांगड़ा का शासन सम्भाल लिया। दैव योग से वाईस दिन बाद राजा हरिचन्द्र को कुएं से निकाला गया। राजा कर्मचंद ने अपने अग्रज को शासन संभालने की प्रार्थना की, परन्तु उसे यह स्वीकार न था। उसने वाण-गंगा तथा कुराली एवं नयागुल नदियों के संगम पर हरिपुर दुर्ग की स्थापना की। इस प्रकार 'गुलेर' रियासत अस्तित्व में आई। छोटे भाई ने कांगड़ा और बड़े भाई ने गुलेर के शासक का पद स्वीकारा। गुलेर के अन्तिम नरेश राजा बलदेव सिंह तक सबने हरिपुर का नेतृत्व ही स्वीकार किया। इससे पूर्व गुलेर ने क़ई उतार-चढ़ाव देखे।

गुलेर के अन्तिम नरेश श्री बलदेव सिंह शाही दरबार के प्रथम दरबारी माने जाते थे। पहाड़ी रियासतों के राजाओं का राज्याभिषेक इन्हीं के हाथों से होता। इन पंक्तियों के लेखक को सन् 1959 में 'पंजाब प्रादेशिक हिंदी साहित्य संगम' के तत्त्वावधान में गुलेर में 'गुलेरी जयन्ती' के आयोजन के सम्बन्ध में स्वर्गीय नरेश से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वेद-वेदांग के ज्ञाता, कला-साहित्य प्रेमी राजा बलदेव सिंह उस समय पक्षाघात से पीड़ित थे, वाणी में पहले जैसा प्रवाह नहीं था। हमारी प्रार्थना पर उन्होंने समारोह में शामिल होना स्वीकार किया। सनातन धर्म स्कूल के बैंड की मधुर ध्वनि के मध्य, नदी के पार, पालकी में बिठा नरेश को गुलेरी जी की कुटिया पर लाया गया। समूचे आयोजन में स्थानीय सनातन धर्म

स्कूल के आचार्य श्री रैणा की महती भूमिका रही। अपने कुल गुरु श्री चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' को स्मरण कर महाराजा भावुक हो अश्रुविमोचन करते भी देखे गए। इस समारोह के सफल आयोजन में प्रो० खुशी राम वशिष्ठ, श्री संतोष कुमार हिमप्रभा (सम्पादक) स्वर्गीय श्री आज्ञाराम प्रेम (समाचार सम्पादक, पंजाब केसरी) पण्डित भजनलाल, श्री ओंप्रकाश तथा श्री पद्मनाभ त्रिवेदी का विशिष्ट योगदान रहा।

श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की केवल तीन कहानियां हैं—सुखमय जीवन, बुद्धू का कांटा तथा उसने कहा था, परन्तु कहानी 'उसने कहा था' ने उन्हें अमर कथाकार बना दिया। इस कहानी के सम्बन्ध में प्रसिद्ध आलोचक आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा था—"इसमें पक्के यथार्थवाद के बीच, सुरुचि की चरम मर्यादा के भीतर भावुकता का चरम उत्कर्ष अत्यन्त निपुणता के साथ संपुटित किया है—घटना के भीतर प्रेम का एक स्वर्गीय स्वरूप झांक रहा है—कहानी भर में कहीं भी प्रेम की निर्लज्ज प्रगल्भता, वेदना की बीभत्स विवृत्ति नहीं।" इस कहानी के कारण गुलेरी जी का स्थान विश्व साहित्य में विक्टर, ह्यूगो, टालस्टाय, मोपासा, तुर्गनेव के समकक्ष हो गया है।

श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी प्रभावशाली व्यक्तित्व के स्वामी थे—गौर वर्ण, शरीर से हृष्ट-पुष्ट, उच्च ललाट, सुन्दर गोल पगड़ी, सफेद पतली धोती और पैरों में देसी चोंचदार जूते। गुलेरी जी पुरातत्व, प्राचीन इतिहास, भाषा विज्ञान, ज्योतिष, संस्कृत, पाली, प्राकृत आदि के विशेषज्ञ थे। बंगला और मराठी की असाधारण योग्यता के साथ-साथ आपका लेटिन, फ्रेंच, जर्मन भाषाओं पर भी विशेष अधिकार था। गुलेरी जी ने अपने पिताश्री शिवराम से प्राप्त प्राच्य विद्याओं के ज्ञान को, व्यापक तथा विविध आयाम दिए। सन् 1902 में जयपुर ज्योतिष यन्त्रालय के पुर्नोद्धार कार्य के लिए गुलेरी जी की कर्नल स्विप्टन जेकब तथा कैप्टेन गैरट के सहयोगी के रूप में नियुक्ति हुई। इस कार्य में सहयोग के दौरान गुलेरी जी ने 'सम्राट सिद्धान्त' नामक ज्योतिष ग्रन्थ का भी अनुवाद किया। **'Jaipur obser-vatory & its Builders'** नामक रचना ने आपको नई पहचान दी। ज्योतिष के क्षेत्र में किए गए योगदान के कारण गुलेरी जी को राजकीय सम्मान मिला! आपके प्राकाण्ड पाण्डित्य से प्रभावित होकर आपको मेयो कॉलेज, अजमेर में अनेक भारतीय रियासतों के राजकुमारों तथा सामन्तों का अभिभावक बनाया गया। उच्च न्यायालय में दायर केसों में धार्मिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करने वाली संस्था 'मौज मन्दिर' के गुलेरी जी सम्माननीय सदस्य थे। स्मरण रहे कि इस संस्था के अध्यक्ष

उस समय के मूर्धन्य विद्वान् राजगुरु महामहोपाध्याय श्री मधुसूदन ओझा थे। पण्डित मदन मोहन मालवीय के आग्रह पर गुलेरी जी ने सन् 1920 में मनीन्द्रचन्द्र नन्दी स्कालर तथा प्रिंसिपल, कॉलेज ऑफ ओरियंटल लर्निंग एंड थियोलजी, हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस का गौरवपूर्ण पद ग्रहण किया। आप नागरी-प्रचारिणी सभा के भी कई वर्षों तक प्रधान रहे।

गुलेरी जी कहानीकार, निबन्धकार, कवि तथा समालोचक थे। 'पुरानी हिन्दी' जैसे निबन्ध गुलेरी जी के परिपक्व ज्ञान के परिचायक हैं। इनकी कृतियों में इनका विनोदी स्वभाव भी झलकता है। शुक्ल जी ने ठीक ही कहा था—ऐसा गम्भीर और पाण्डित्यपूर्ण हास जैसा इनके लेखों में रहता है और कहीं देखने में नहीं आया। अपने 39 वर्ष के अल्प जीवनकाल में गुलेरी जी ने भारतीय प्राच्य विद्याओं, साहित्य और संस्कृति को महत्त्वपूर्ण देन दी। इस तपस्वी ने गुलेर को भी एक नई पहचान दी।

□□

गुलेरी जी

हिमाचल प्रदेश : नव-प्रकल्प-नव-संकल्प

हिमाचल प्रदेश देवभूमि है, सेव-तश्तरी है, औषधीय राज्य है, साहसिक खेलों के लिए आदर्श है और गत वर्षों में लगातार दो बार पर्यटन उद्योग से सम्बन्धित संस्थानों ने इसे 'विशिष्ट पर्यटन राज्य' का सम्मान दिया है। पूर्ण राज्य का दर्जा मिलने पर यहां विकास की हवा चली, कदम मंजिल की ओर बढ़े, परन्तु अभी काफी फासला तय करना है। राज्य के साधन स्वल्प हैं। राज्य सरकार को केन्द्र का यथोचित सहयोग प्राप्त होता तो राष्ट्रीय हित, सैन्य-सन्दर्भ तथा पर्यटन-विकास हेतु रेल-सेवाओं का विस्तार अब तक हो गया होता। राज्य सरकार के प्रकल्पों एवं संकल्पों में दृढ़ इच्छा-शक्ति मूर्तिमान-सी लगती है।

खेती प्रकार अलग

हिमाचल का क्षेत्र विस्तार 55, 673 वर्ग कि०मी० है और इसका वास्तविक स्वरूप ग्रामीण ही है। यहां की 90 प्रतिशत जनसंख्या गांवों में निवास करती है। खेती के लिए उपलब्ध भूमि आत्म-निर्भरता की दृष्टि से अपर्याप्त है। फलों, विशेषकर सेब के उत्पादन के लिए प्रदेश विख्यात रहा है। अब उत्पादन में कमी आ रही है। सेब उद्यान काफी पुराने वृक्षों के कारण, प्रति हैक्टेयर 5-7 टन उत्पादन की ही क्षमता रखते हैं, जबकि अनेकानेक देशों में यह उत्पादन 50 टन को स्पर्श करता है। उत्पादन योग्य 12,500 हैक्टेयर क्षेत्र के पुनर्जीवन हेतु राज्य सरकार की 85 करोड़ की योजना है। सब्जियों और फूलों की खेती को प्रोत्साहित किया जा रहा है। इस प्रदेश में शिवालिक पर्वतमाला से लेकर शीत मरुस्थल क्षेत्र तक औषधीय पौधों की विभिन्न प्रजातियां उत्पन्न होती हैं। इनके अमर्यादित दोहन से राजस्व की हानि होती है। अब औषधीय तथा सुगन्धित पौधों की खेती को, अनुसंधानपूर्वक, नव-आयाम दिए जा रहे हैं।

बहु-आयामी पर्यटन

हिमाचल में बहु-आयामी पर्यटन—धार्मिक पर्यटन, सांस्कृतिक-विरासत मूलक पर्यटन, पारम्परिक पर्यटन, स्वास्थ्य पर्यटन, व्यावसायिक पर्यटन आदि की विशाल

सम्भावनाएं हैं। साहसिक पर्यटन—रिवर-राफ्टिंग, ट्रैकिंग, पैरा ग्लाइडिंग, पवतारोहण, स्कीइंग आदि को विशेष बढ़ावा दिया गया है। श्री अटल बिहारी वाजपेयी इन्स्टीट्यूट ऑफ माऊटेनियरंग एंड एडवेंचर स्पोर्ट्स, मनाली की साहसिक खेलों के विकास में महत्ती भूमिका है। वर्ष 2009-2010 में 1.14 करोड़ देशी-विदेशी पर्यटकों का प्रदेश में आगमन हुआ, जिनमें से अधिकांश की 'देवताओं की भूमि' की धार्मिक यात्रा थी। पर्यटकों के लिए यातायात सुविधाएं अत्यावश्यक हैं। प्रधानमंत्री 'ग्राम सड़क योजना' के तहत सड़कों का निर्माण-विस्तार हो रहा है। वर्ल्ड बैंक की आर्थिक सहायता भी इस कार्य हित प्राप्त हुई है।

मन्दिरों-देवालयों के निकट निर्मित धर्मशालाओं, होटलों, टूरिस्ट बंगलों तथा प्राकृतिक परिवेश में अवस्थित वन-रैस्ट हाऊसों में पर्यटकों को आवासीय व्यवस्था उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त 'होम-स्टे' योजना शुरू की गई है और इसके अधीन 246 यूनिट चयनित हुए हैं। पूर्व सैनिकों का इस कार्य में सहयोग लिया जा रहा है। आधारभूत ढांचे को आवश्यक मान प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई है। किन्नौर, लाहुल, स्पीति आदि दूरस्थ स्थानों की यात्रा हेतु हेली-टैक्सी व्यवस्था हुई है। वायु-सेवा में वृद्धि हेतु प्राइवेट सैक्टर को प्रोत्साहित किया जा रहा है।

पर्यटन-स्थलों एवं मार्गों पर जन-सुविधाओं, विशेष रूप से महिलाओं के लिए, प्रचुर संख्या में अपेक्षित है।

शिमला की बढ़ती जनसंख्या

प्रथम पर्वतीय स्थल शिमला का निर्माण 25 हजार लोगों के लिए हुआ था, परन्तु आज नगर की जनसंख्या एक लाख पच्चीस हजार है। शिमला का होने वाला विस्तार योजनाबद्ध ढंग से नहीं हो रहा। कंकरीट के उभरते जंगल चिन्ता का विषय हैं। 'हिल स्टेशन' की बजाय आज यह 'दफ्तरी बाबुओं' का नगर अधिक है। बहुत बड़ी संख्या में यहां पर्यटकों का आगमन आवासीय व्यवस्था, बिजली-पानी, जन-सुविधाओं पर भी भारी पड़ रहा है। यह चिन्ता एवं चिन्तन का विषय है। शिमला के ऐतिहासिक-सांस्कृतिक महत्त्व को बरकरार रखने एवं पर्यटकों के हित से दृष्टिगत, इसके वास्तविक स्वरूप को बनाए रखने का प्रयास है। कतिपय सरकारी दफ्तर अन्यत्र शिफ्ट करने की भी योजना है।

जल-संकट समाधान

यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि जल का गिरता हुआ स्तर देश-विदेश सभी

जगह चिन्ता का विषय है। अधिक दोहन इसका कारण है। 'चैक डैम' तथा 'वाटर हारवस्टिंग' योजना से हमीरपुर में जल स्तर दो मीटर बढ़ा है। हिमाचल प्रथम प्रदेश है, यहां हर निर्माण के लिए 'वाटर हारवस्टिंग' अनिवार्य कर दिया गया है। 'वाटर मैनेजमेंट बोर्ड की स्थापना हुई है! ग्रामीण विकास विभाग के अधीन पंचायतों के माध्यम से 300 करोड़ की 'रैन-वाटर हारवस्टिंग प्लान' का क्रियान्वन हो रहा है।

स्व-साधन विकास

प्रदेश में बिजली-उत्पादन की अपार क्षमता है। सन् 1998 में 2,838 मैगावाट बिजली का उत्पादन था। अनेकानेक योजनाओं के माध्यम से अब उत्पादन 6500 मैगावाट हो गया है। दसवीं योजना के अन्त तक उत्पादन 12,500 मैगावाट तथा सन् 2017 तक 15,000 मैगावाट तक होने की आशा है। इससे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति होगी, तो दूसरे प्रदेशों को बिजली बेचकर प्रदेश आर्थिक रूप से सम्पन्न एवं सुदृढ़ होगा।

सन् 1983 में प्रथम बार विचाराधीन आए 'रोहतांग-सुरंग निर्माण कार्य' के अब प्रारम्भ होने से सभी प्रकार के मौसम में मनाली-रोहतांग दर्रा—लद्दाख मार्ग का नया विकल्प प्रदेश को मिल जाएगा। कारगिल संघर्ष के बाद यह आवश्यक हो गया था और यह प्रदेश की बड़ी उपलब्धि होगी। 1495 करोड़ का यह प्रकल्प सन् 2015 में पूर्ण होगा। सुरंग की लम्बाई 9 कि०मी० तथा चौड़ाई दस मीटर होगी और इसका निर्माण 9300 फीट की ऊंचाई पर होगा।

पर्यावरण संरक्षण हिमाचल की प्राथमिकता है। सन् 1986 से हरे-भरे वृक्ष काटने पर पावन्दी है। देवदार का आरोपण हो रहा है तो जन-सामान्य, विशेषकर विद्यार्थियों में पर्यावरण विषयक जागरूकता लाई जा रही है। खेलों का विकास युवाओं को काम, बेसहारों-निम्नवर्ग के लोगों को आत्म-सम्मान से जीने का अवसर आदि विकास के अन्य प्रकल्प हैं।

(मुख्यमंत्री से बातचीत के आधार पर)

सहायक ग्रन्थ

1. प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मंदिर : डॉ० वासुदेव उपाध्याय
2. भारतीय देव-भावना और मध्यकालीन हिन्दी साहित्य : डॉ० श्रुतिकान्त
3. हिमाचल प्रदेश : लोक-संस्कृति और साहित्य : डॉ० गौतम शर्मा 'व्यथित'
4. उत्तर भारत के लोक-पर्व : डॉ० नवरत्न कपूर
5. हिमाचली लोक रंग : श्री एन०डी० पुरोहित
6. पंजाब का पर्वतीय साहित्य : मोहन मैत्रेय
7. भारतीय संस्कृति के चार अध्याय : श्री रामधारी सिंह दिनकर
8. The Culture of India : Sh. C.C. Dutt
9. Rajasthani Paintings : Sh. Anand Commaraswami
10. कल्याण : हिन्दू-संस्कृति अंक
11. हिमाचल प्रदेश में होम स्टे : हिमाचल पर्यटन
12. ब्यास तीरे : श्री इन्द्रनाथ चावला
13. Trekking in Himachal : Himachal Tourism
14. Manali-Kulu-Mandi : Alaya Himachal : Himachal Tourism
15. हिमाचल प्रदेश : श्री हरिकृष्ण मिट्टू
16. पंजाब : लोक-संस्कृति एवं साहित्य दिग्दर्शन : प्रो० मोहन मैत्रेय
17. हिमाचल प्रदेश के धार्मिक संस्थान : भाषा एवं संस्कृति विभाग, हिमाचल प्रदेश,

पत्र-पत्रिकाएं :

हिन्दुस्तान, दि ट्रिब्यून (अंग्रेजी), दैनिक ट्रिब्यून, राष्ट्रीय सहारा, पंजाब केसरी, Illustrated Weekly of India (Old Editions)

चित्रों के आइने में हिमाचल

लाहौल घाटी : दुर्गम जनजातीय घाटी

रोहतांग दर्रा : इसके नीचे बनेगी अब सुरंग

खजीयार

किनौर घाटी : सुरम्य दृश्य
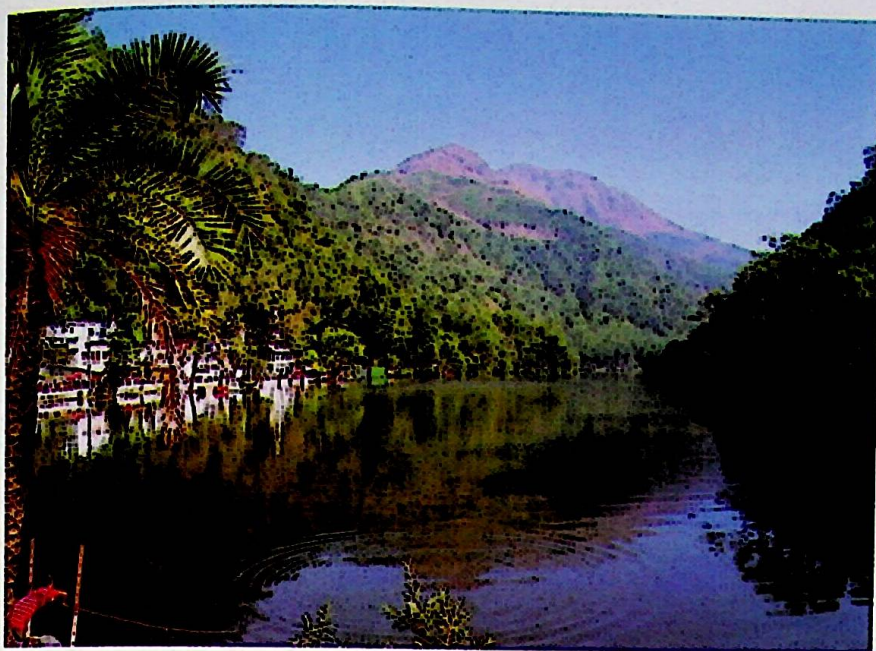
रेणुका झील : मनोरम नजारा

रिवालसर झील, मंडी

कांगड़ा फोर्ट

नूरपुर किला

स्पीति घाटी की महिलाएं
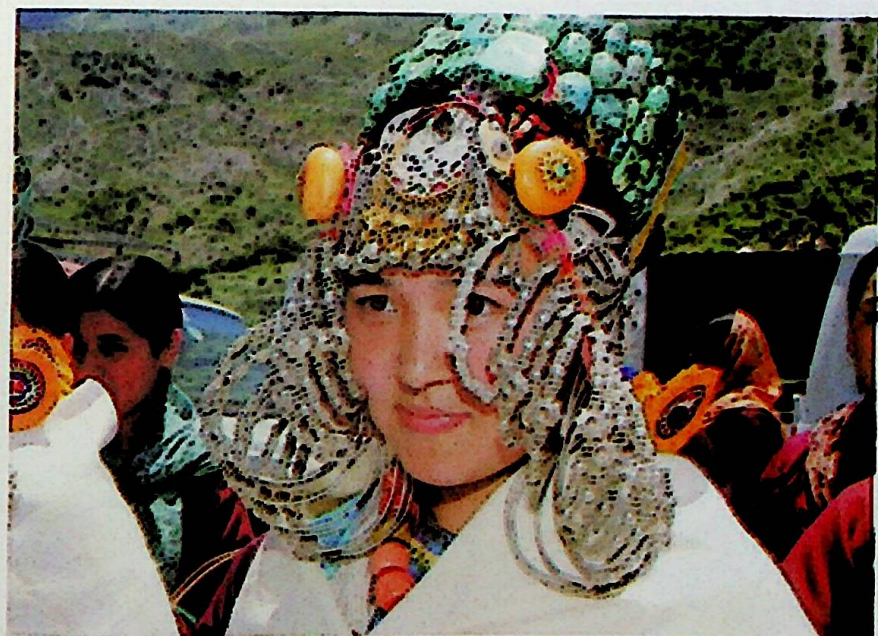
स्पीति : आभूषणों से श्रृंगार
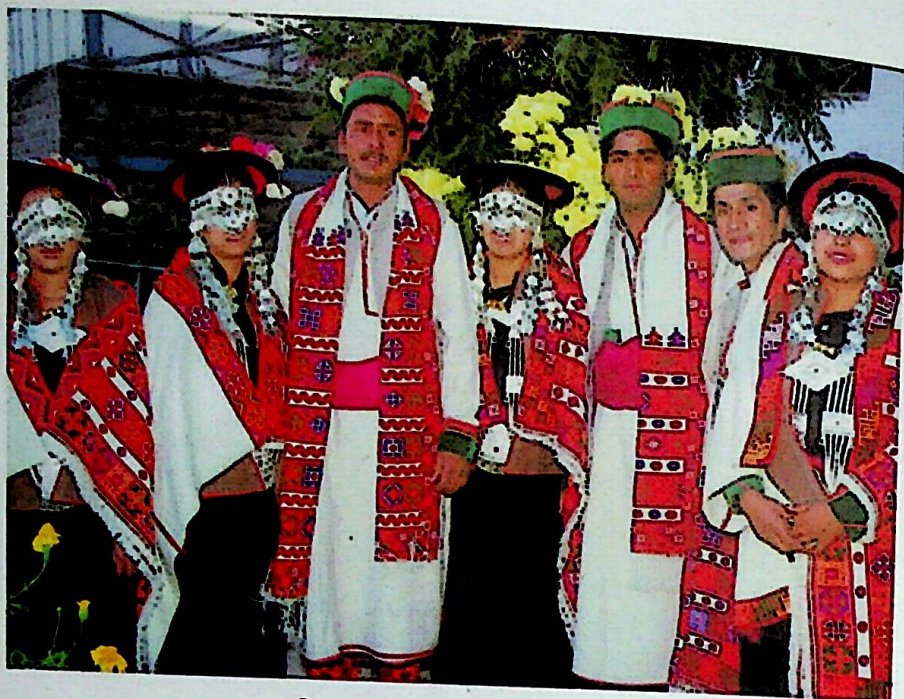
किन्नर : जीवन की झलक

सिरमौर : मौज-मस्ती की धूम
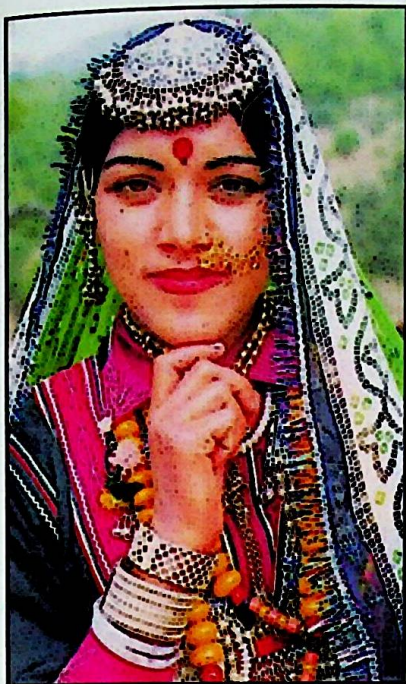
गद्दन (चम्बा) पारंपरिक वेशभूषा

स्पीति महिलाः अद्भूत रूप
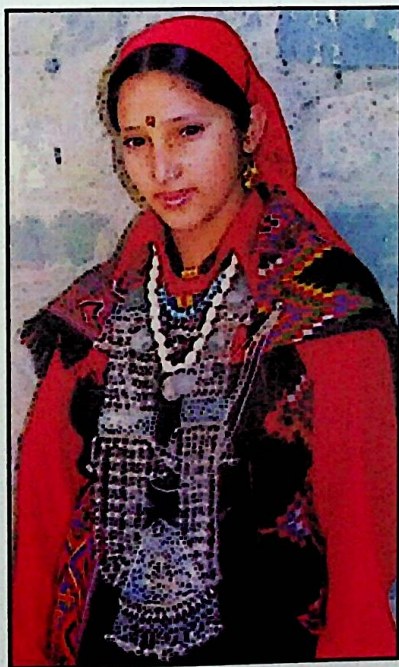
कुल्लू : महिला श्रृंगार

स्पीति : सोलह श्रृंगार

रेणुका मन्दिर (सिरमौर)
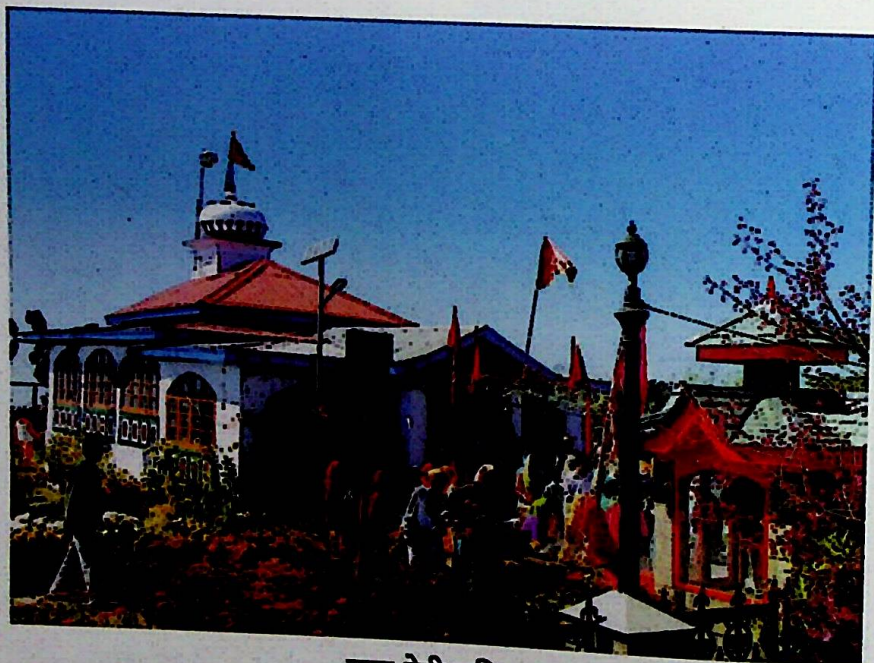
तारा देवी मन्दिर
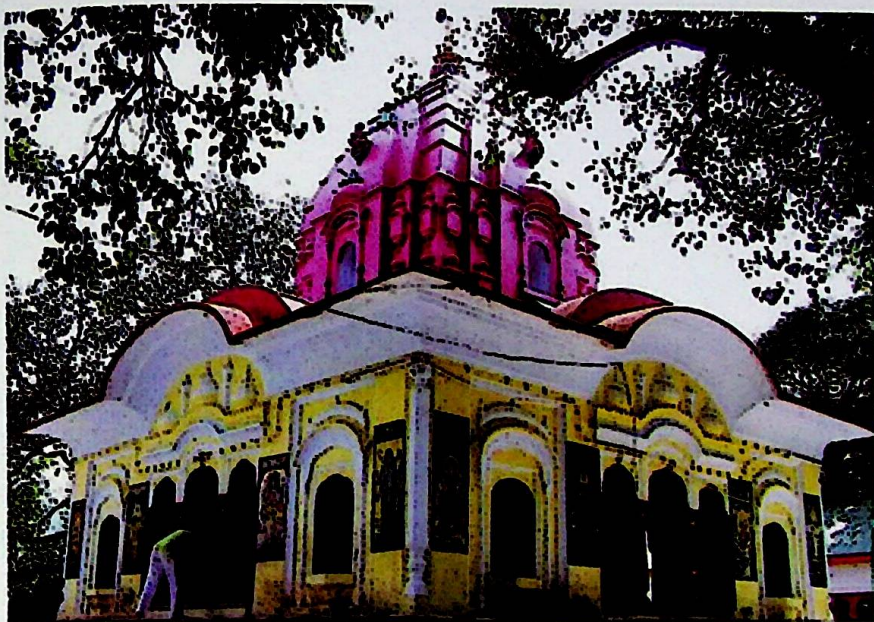
टाटना देवी मन्दिर (हमीरपुर)

बज्रेश्वरी मन्दिर, कांगड़ा

चामुण्डा मन्दिर (कांगड़ा)

शिकारी देवी, मण्डी (छत्तविहीन मन्दिर)

ताबों बोद्ध विहार, लाहौल स्पीति (अनुपम काष्टकला)

चिन्तपूर्णी मन्दिर, ऊना

नयना देवी मन्दिर, बिलासपुर

मणिकरण गुरुद्वारा, कुल्लू

हाटकोटी मन्दिर : विश्व विख्यात काष्टकला
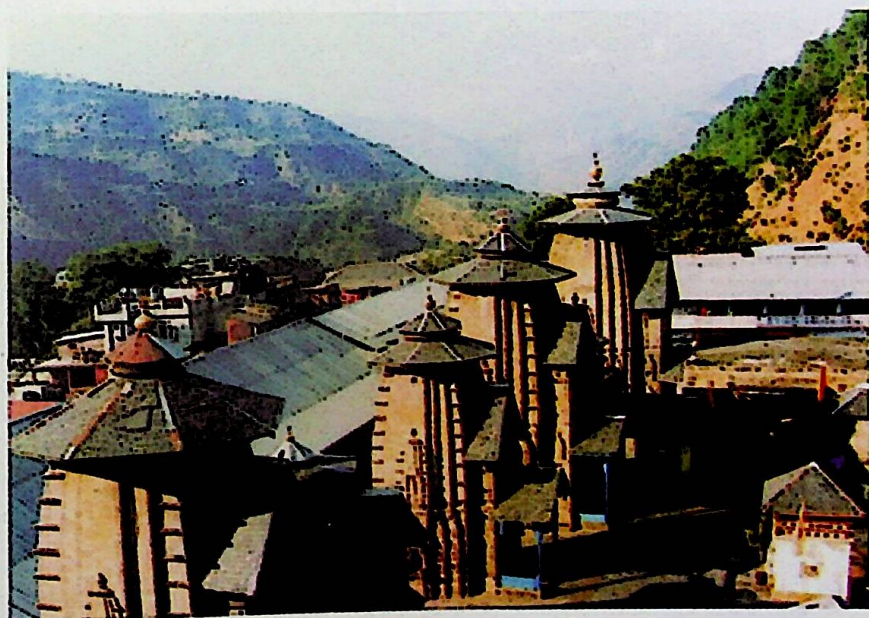
लक्ष्मीनारायण मन्दिर, चम्बा
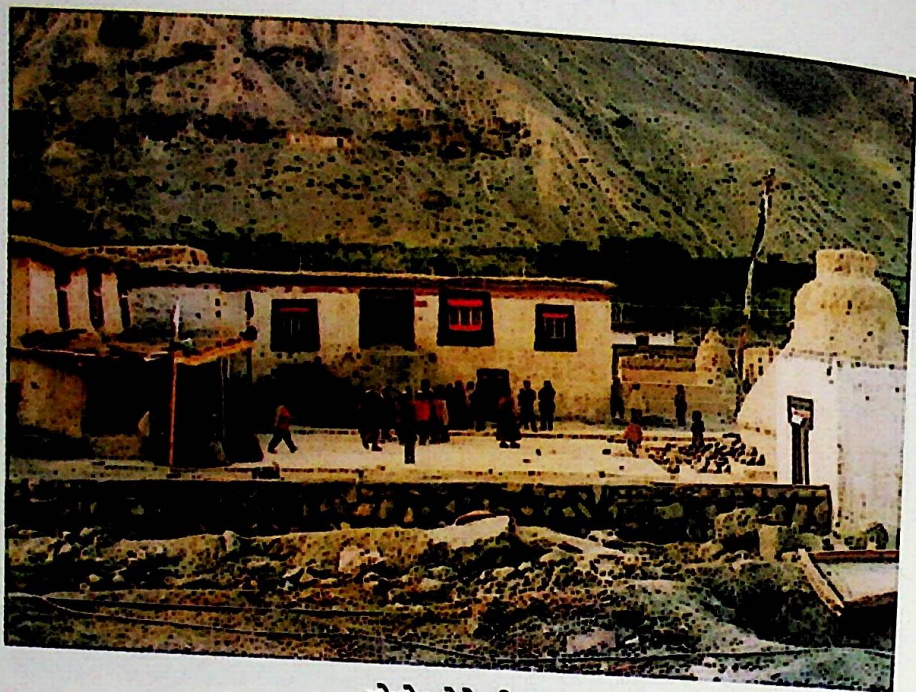
तोबो मोनेस्ट्री

कामाक्षा महामाया मन्दिर (सुन्दर नगर)
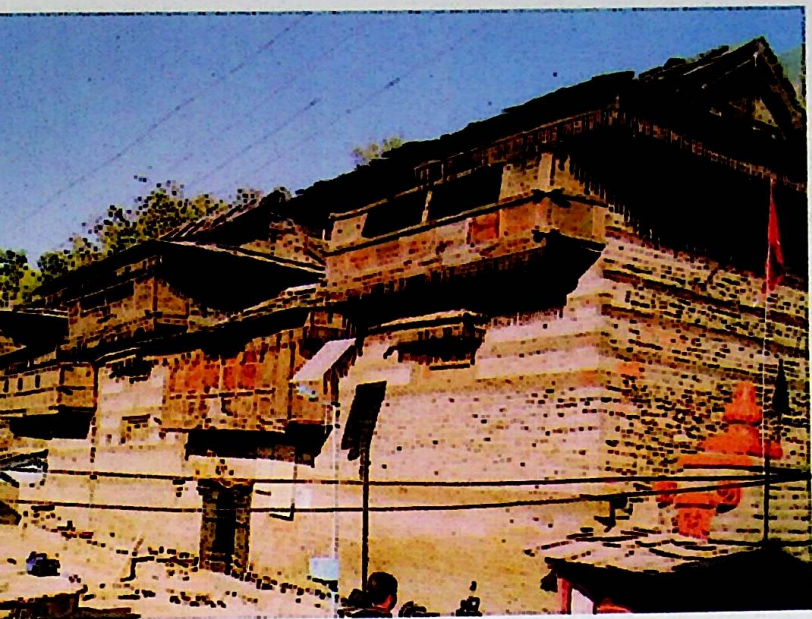
परशुराम मन्दिर, निरमण्ड
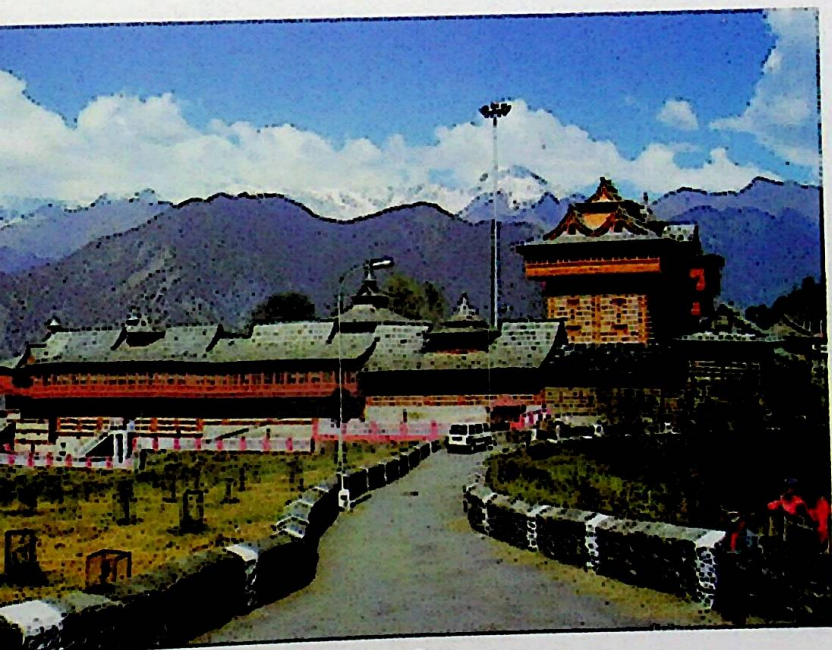
भीमा काली मन्दिर, सराहन
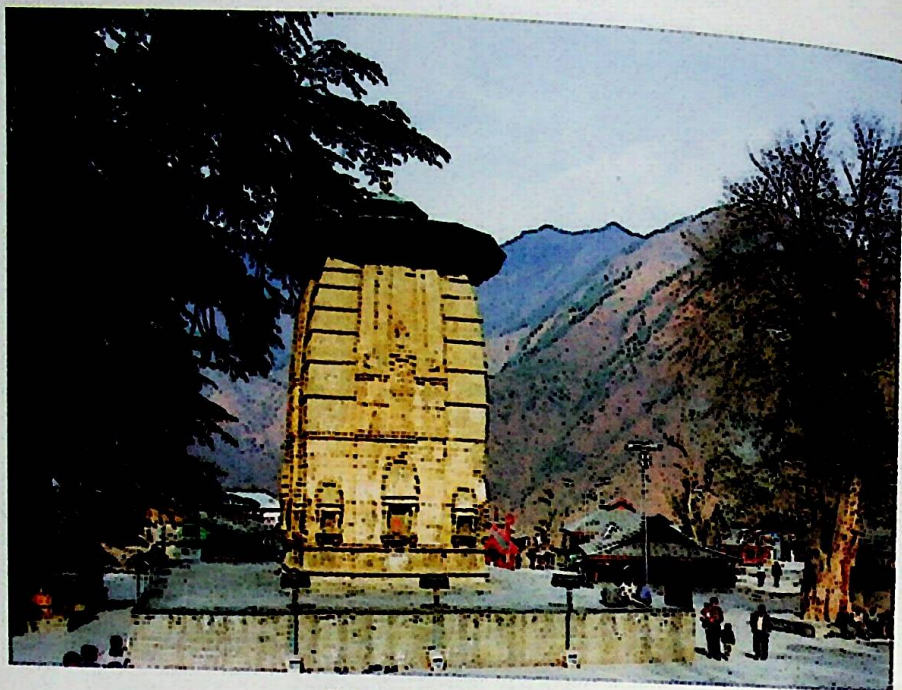
चौरीसी मन्दिर (भरमौर)

मृकुला देवी मन्दिर
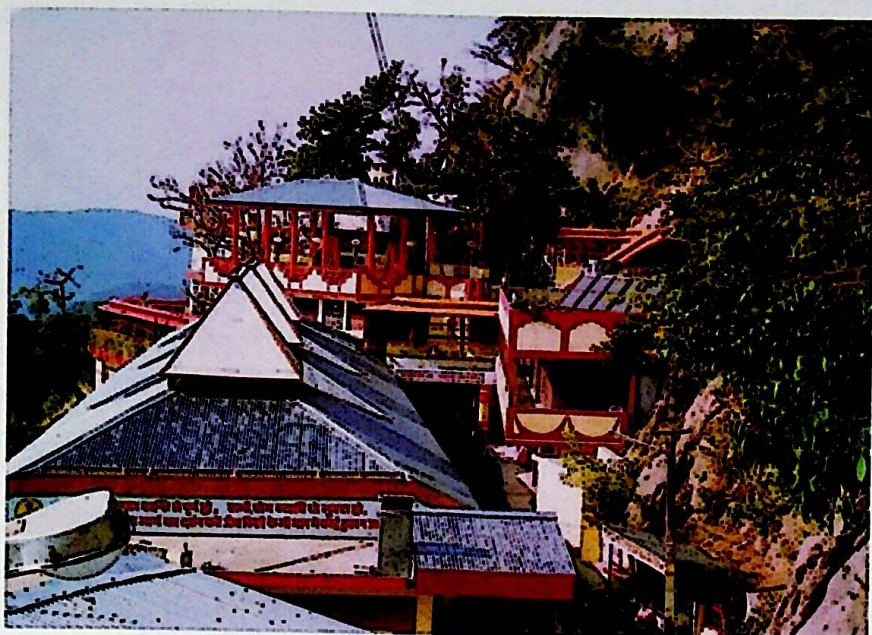
बाबा बालकनाथ मन्दिर (हमीरपुर)

श्री हनूमान मन्दिर, जाखू (शिमला)
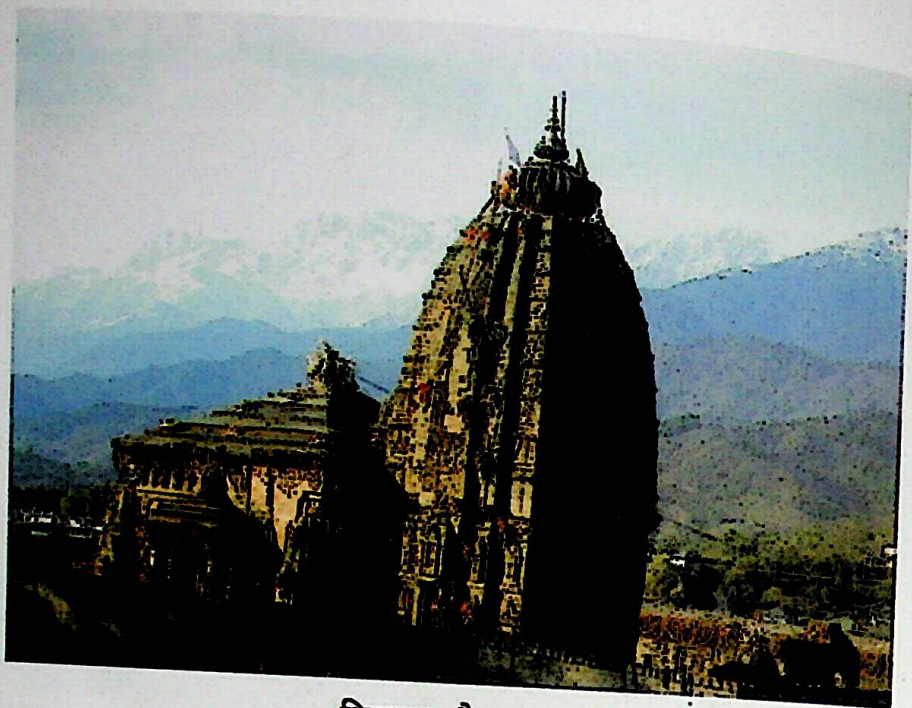
शिवधाम, बैजनाथ

लारी बाजार, रामपुर पारम्परिक टोपियों का निर्माण
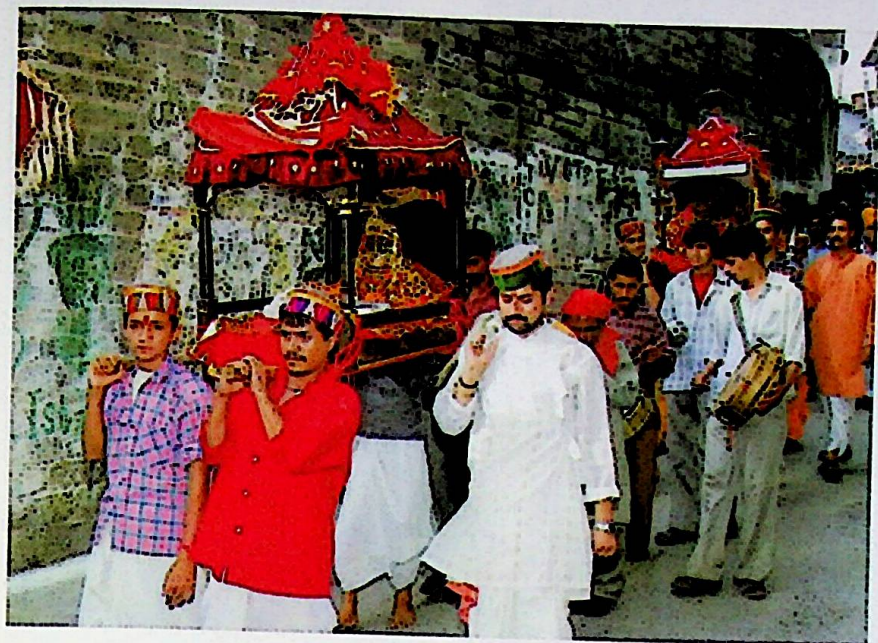
मिंजर मेला, चम्बा

लावी मेला, रामपुर

मिंजर मेला, चम्बा

कुल्लू दशहरा
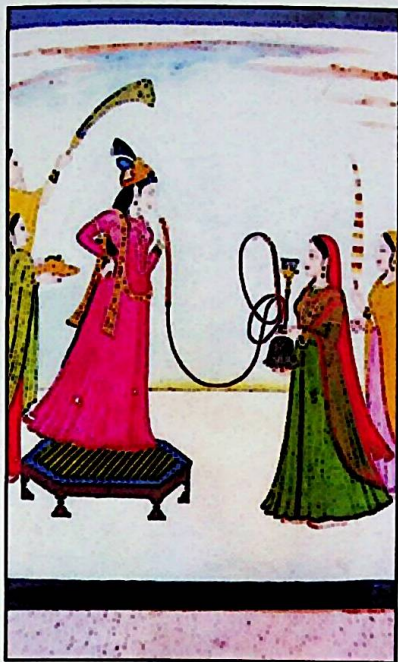
कांगड़ा चित्रशैली

कांगड़ा चित्रकला की भव्यता

चित्र में रूपायत वात्सल्य
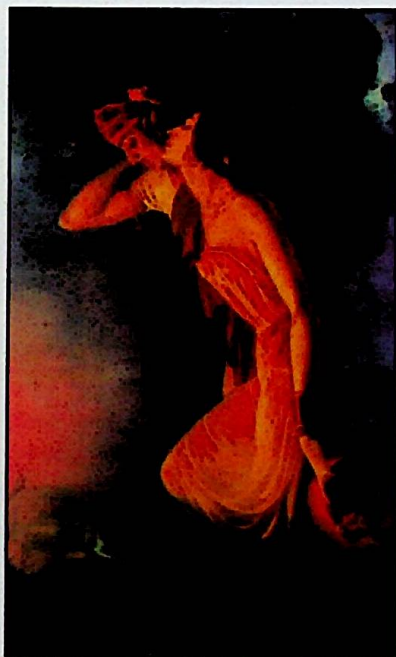
सोहनी महिवाल

तेजपत्ता : औषधीय उत्पादन

अर्जुन : हृदय रोग में लाभकारी

कुट्ज : उदर रोग उपचारी

अश्वगंधा : सर्वोत्तम टॉनिक

साहसिक खेल ग्लाईडिंग

रिवर राफ्टिंग : हिमाचल की विशेषता
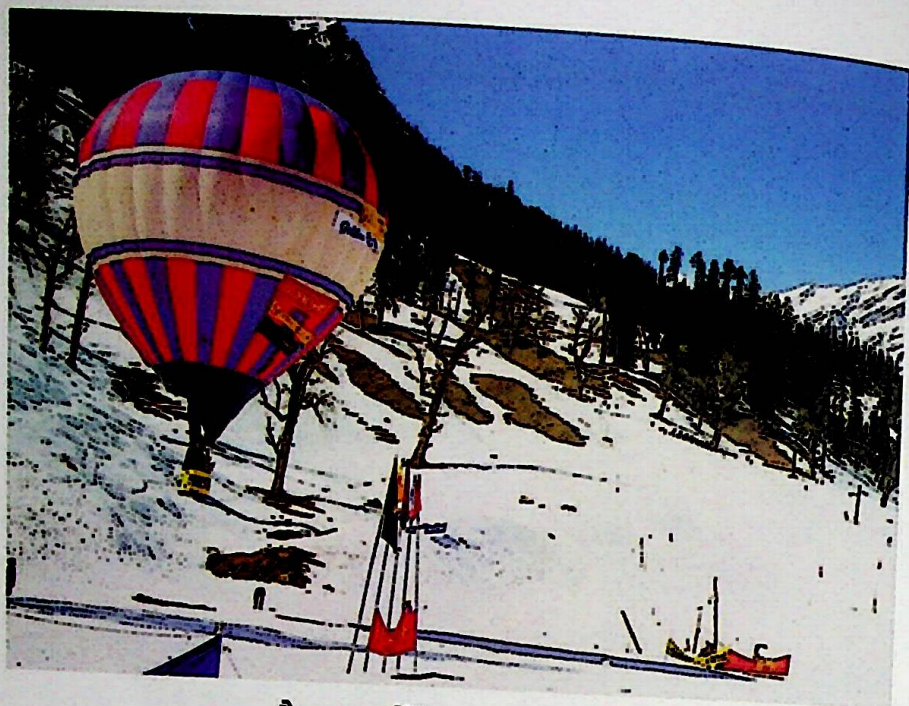
हैन्ड गलाईडिंग -साहसिक खेल
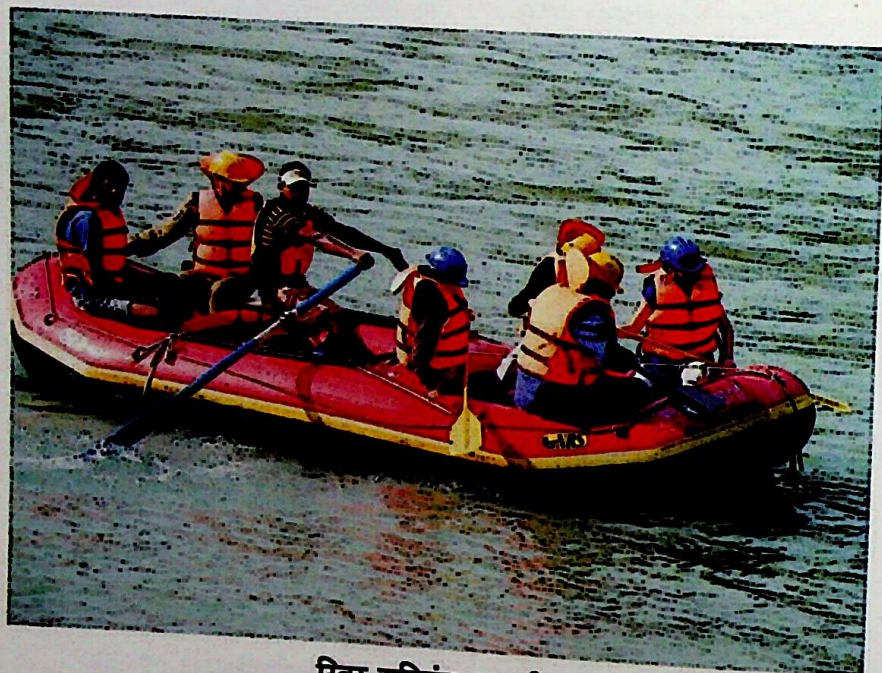
रिवर राफ्टिंग, मनाली

स्कीइंग का आनंद लेते पर्यटक

ग्लाइडिंग का मनोरम दृश्य

रिंज शिमला
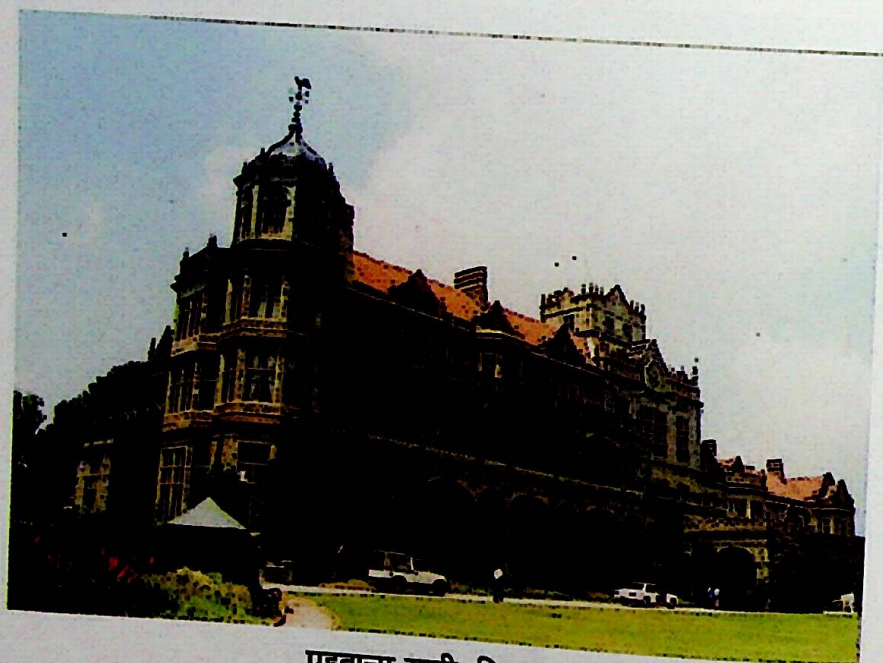
एडवान्स स्टडी, शिमला
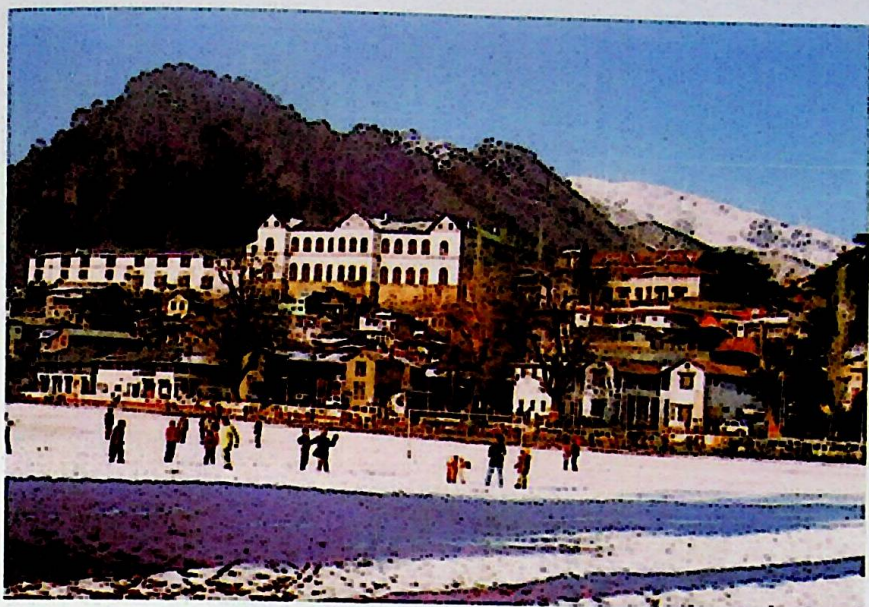
चन्दा चौगान

बर्फ से ढ़का शिमला

रज्जू मार्ग नैना देवी

चर्च शिमला

थोड्स
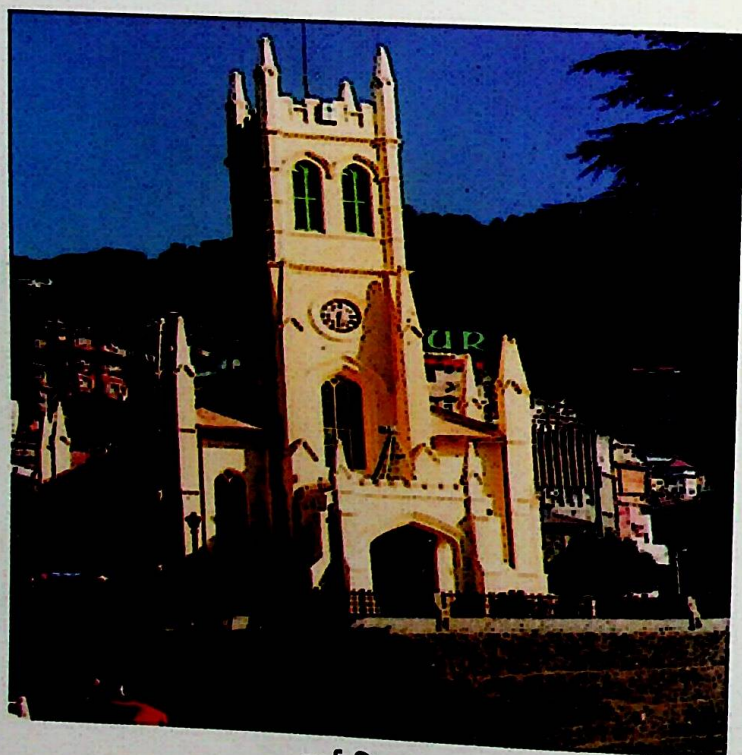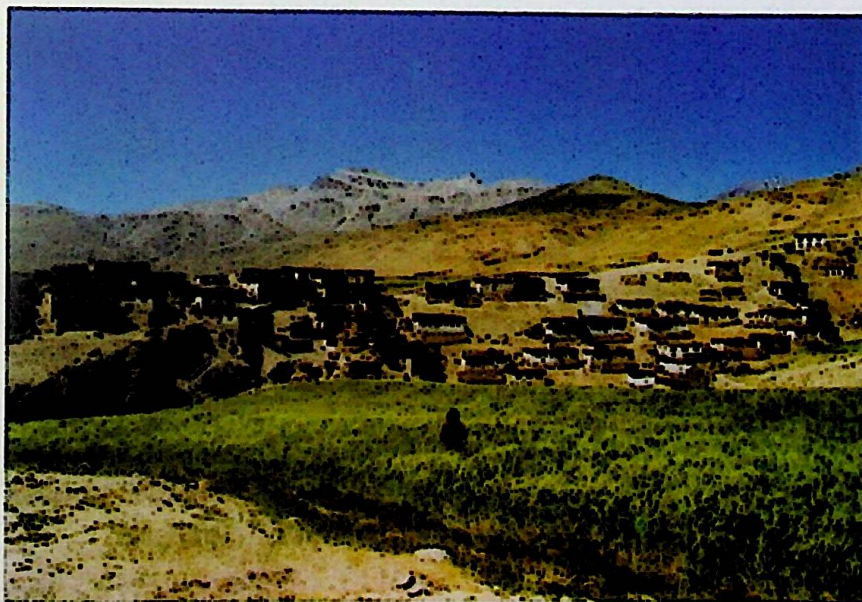
किब्बर गांव
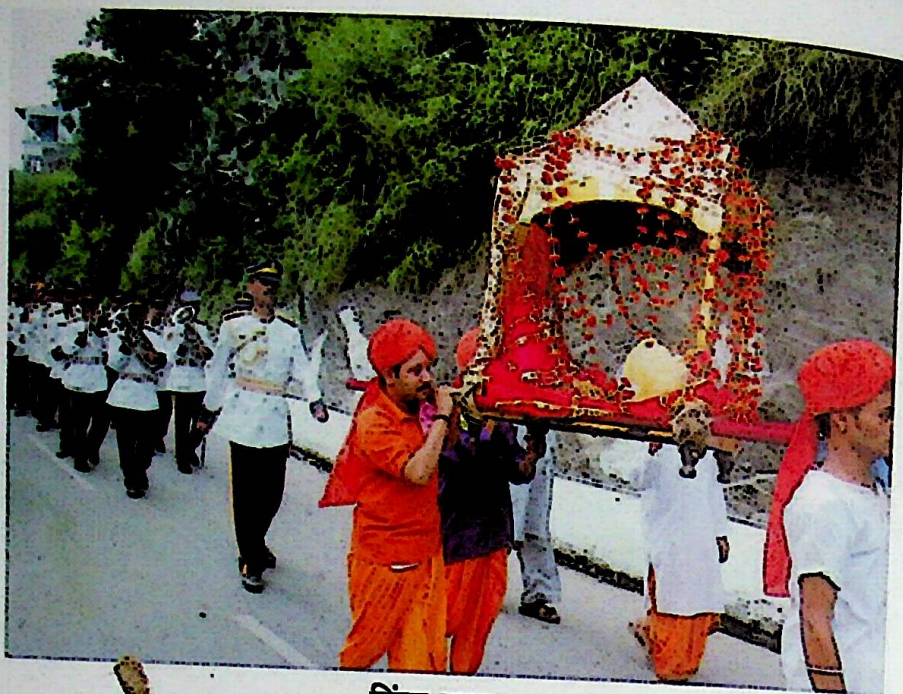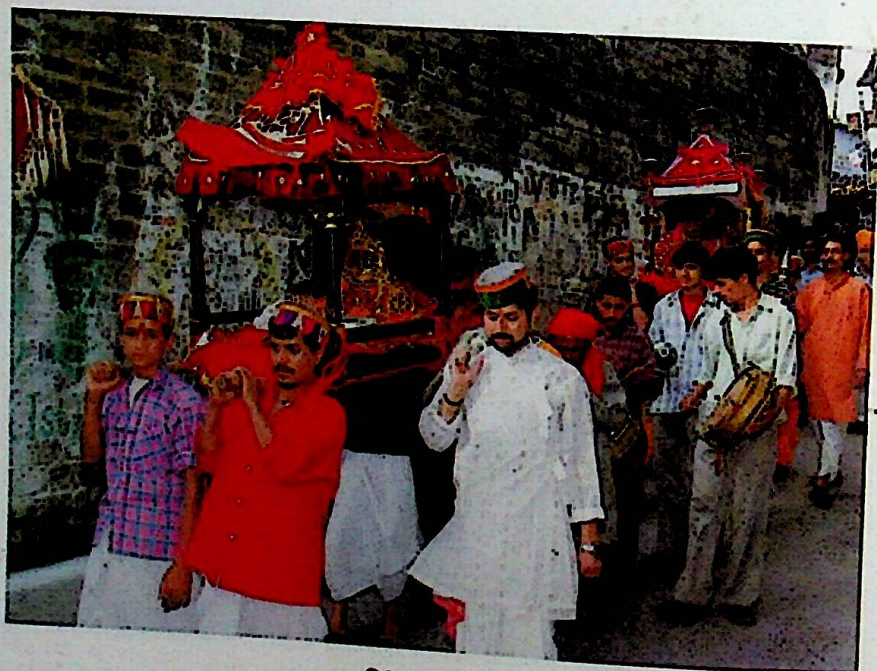
मिंनर चम्बा

मिंनर चम्बा

शुभाशंसनम्
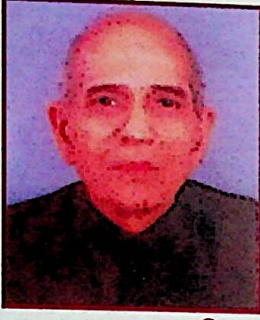
सत्य व्रत शास्त्री

Mahamahopadhyaya Vidyavachaspati
Vidyamartanda Prof. Dr. Satya Vrat Shastri
Recipient of Padma Bhushan, Padma Shri &
President of India Certificate of Honour,
Honorary Professor,
Special Centre for Sanskrit Studies
Jawaharlal Nehru University,
Formerly Professor and Head,
Department of Sanskrit, University of Delhi
Ex-Vice-Chancellor,
Shri Jagannath Sanskrit University,
Puri (Orissa)

हिन्दी के सुप्रसिद्ध रचनाकार प्रो. मोहन मैत्रेय द्वारा रचित 'हिमाचल : प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक पर्यटन' कृति का पाण्डुलिपि रुप में ही अवलोकन करने का सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ। यह पहली कृति है जिसमें हिमाचल प्रदेश का सर्वाङ्गीन परिचय प्रस्तुत किया गया है। परिचय भी इस प्रकार का कि उसमें उपन्यास की सी रोचकता है। एक बार हाथ में लेने पर अन्त तक पढ़े विना पाठक रह नहीं पाता। हिमाचल पद्रेश की प्राकृतिक सुषमा और वैविध्यपूर्ण संस्कृति का प्रो. मैत्रेय शाब्दिक पर्यटन इस प्रकार करवाते हैं कि पाठक के मन में उन्हें साक्षात् देखने एवम् अनुभव करने की इच्छा जगती है।

महाकवि कालिदास ने हिमाचल को देवात्मा कहा है- अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमाल्यों नाम नगापिराजः। वह अन्नत रतन है। अनन्तरत्नों का उद्भमस्थल है। यह आकस्मिक नहीं है कि वहां की एक घाटी के नाम का यही अर्थ है -स्वीति, स-मणियां, प्रीति-खान। देवभूमि होने के कारण देवमन्दिरों की इसमें भरमार है जिनकी संख्या सैंकड़ों में नहीं हज़ारों में है। पूजा-अर्चना उनमें निरन्तर चलती रहती है।

आज के वैश्वीकरण के युग में भी हिमाचल ने अपनी पहिचान बनाये रखी है। उसके रुप में त्यौहार है, मेले हैं, रीति-रिवाज है, कथाएं-उपकथाएं, दन्तकथाएं हैं, गीत और छन्द हैं। अलग जीवन एंव चिन्तन शैली है। प्रो. मैत्रेय ने इन सभी में अनतः प्रवेश कर इनके वास्तविक स्वरुप को पहचानने का एवं जिज्ञासु सुधी पाठकों को उसकी पहचान कराने का जो अद्भूत कार्य किया है उसके लिये वे साधुवाद के पात्र हैं। उनके द्वारा प्रदेश के भूगोल, इतिहास एवं संस्कृति का सर्वाङ्गीन परिचय मानों सागर में गागर के भरने के समान है। यह उनकी रचना धर्मिता की विशेषता है जो उन्हें अपने समकालीन ग्रन्थ लेखकों से पृथक करती है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि उनकी इस कृति का भरपूर स्वागत होगा जिससे कि यह सर्वथा योग्य है।

K.K. PUBLICATIONS
4806/24, Bharat Ram Road
Darya Ganj, N. Delhi-110 002
Ph. : 23285167, 65185557, 64527574
Telefax : 23285167
e-mail : kkpdevinder@vsnl.net
web : www.kkpublications.com

Rs. 795/-

ISBN: 978-81-7844-088-0

9 788178 440880